व्यापारमकुर्वाणं बन्धुवधाध्यवसायमात्रेणापि प्रायश्चित्तान्तररहितं वा। तथाच प्राणान्तप्रायश्चित्तेनैव शुद्धिर्भविष्यतीत्यर्थः ॥ ४६ ॥

(१) ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायाम्—

संजय उवाच—

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

(२) संख्ये सङ्ग्रामे रथोपस्थे रथस्योपर्युपाविवेश। पूर्वं युद्धार्थमवलोकनार्थं चोत्थितः सञ्शोकेन संविग्नं पीडितं मानसं यस्य सः ॥ ४७ ॥

'इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अर्थ होगा। प्रतीकार न करनेवाले को=अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये कोई चेष्टा न करने वालेको अथवा बन्धुओंके वधका विचार करने पर भी कोई अन्य प्रायश्चित न करनेवालेको। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार प्राणान्त प्रायश्चित्तसे ही मेरी शुद्धि हो जायगी ॥ ४६ ॥

(१) इसके पश्चात् क्या हुआ—यह जाननेकी इच्छा होने पर—

[श्लोकार्थः—सञ्जयने कहा—संग्राम भूमिमें ऐसा कहकर अर्जुन शोकसे व्याकुलचित्त हो अपने धनुष-बाण छोड़कर रथके ऊपर बैठ गया ॥ ४७ ॥]

(२) पहले जो युद्ध करने और सेना देखनेके लिये खड़ा हुआ था किन्तु अब जिसका चित्त शोकसे संविग्न—पीड़ित हो रहा था वह अर्जुन संग्राम भूमिमें रथोपस्थपर (रथके ऊपर) बैठ गया ॥ ४७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविश्वेश्वरसरस्वतीयपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकाके हिन्दीभाषान्तरका अर्जुनविषादयोग नामक पहला अध्याय।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

(१) अहिंसा परमो धर्मो भिक्षाशनं चेत्येवंलक्षणया बुद्धया युद्धवैमुख्यमर्जुनस्य श्रुत्वा स्वपुत्राणां राज्यमप्रचलितमवधार्य स्वस्थहृदयस्य धृतराष्ट्रस्य हर्षनिमित्तां ततः किं वृत्तमित्याकाङ्क्षामपनिनीषुः संजयस्तं प्रत्युक्तवानित्याह वैशम्पायनः—

संजय उवाच—

तं तथा कृपयाऽऽविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

(२) कृपा[1] ममैत इतिव्यामोहनिमित्तः स्नेहविशेषः। तयाऽऽविष्टं स्वभावसिद्धया व्याप्तम्।

दूसरा अध्याय

(सांख्ययोग)

(१) 'अहिंसा और भिक्षा माँगकर खाना महान् धर्म है' इस प्रकारकी बुद्धिके कारण अर्जुनके युद्धसे विमुख हो जानेकी बात सुनकर अपने पुत्रोंके राज्यको अविचल समझकर स्वस्थचित्त हुए धृतराष्ट्रकी 'तो फिर क्या हुआ ?' ऐसी हर्षजनित जिज्ञासाको निवृत्त करनेके लिये सञ्जयने कहा—ऐसा श्रीवैशम्पायनजी कहते हैं।

[श्लोकार्थः—सञ्जयने कहा—इस प्रकार जिसके नेत्र आँसुओंसे भरे हुए और डबडबा रहे हैं उस कृपासे व्याप्त और विषाद करते हुए अर्जुनसे श्रीमधुसूदनने यह बात कही ॥ १ ॥]

(२) ये मेरे हैं इस प्रकारके मोहसे उत्पन्न हुए स्नेहविशेषका नाम कृपा है, उस स्वभावसिद्ध कृपासे आविष्ट=व्याप्त। यहाँ अर्जुनका कर्मत्व और कृपाका कर्तृत्व

१. 'कृपा' शब्दका सहज अर्थ होता है—करुणा, दूसरोंके दुःखोंको दूर करनेकी इच्छाका नाम करुणा है। वह करुणा यहाँ बन नहीं सकती, क्योंकि अर्जुन यह देख रहा है कि योद्धागण हर्षोन्मत्त हो कर शंख पूर रहे हैं, जब उन्हें कोई दुःख ही नहीं, तब करुणाका क्या अवसर ? अतः श्रीमधुसूदन सरस्वतीने 'कृपा' का प्रकृतोपयोगी स्नेह विशेष अर्थ किया।

यद्यपि 'नरके नियतं वासः' आदि शब्दोंसे कथित भावी दुःखके अनुत्पादकी इच्छा हो सकती है, करुणामें दोनों भाव निहित होते हैं—वर्तमान दुःखकी निवृत्ति और भावी दुःखोंका कभी प्रत्युत्पन्न न होना। इस प्रकार करुणार्थक कृपा बन जाती है। तथापि कुल-का-कुल नष्ट हो जानेपर कथित भावी नरकपात होगा, अभीतक तो अर्जुनको सन्देह ही है कि कौन मरेगा ? कौन बचेगा ? इसीलिए वह कहनेवाला है—'यदि वा नो जयेयुः।' हो सकता है कि किसी कारण एक पक्ष भाग खड़ा हो, फिर कुल क्यों नष्ट होगा ? दूसरी बात यह भी है कि इस 'कृपा' का करुणा अर्थ करनेपर 'हन्तुं स्वजनमुद्यतः' आदिसे सूचित स्नेहविशेषके प्रसंगका भी विरोध उपस्थित होता है, अतः यहाँ कृपाका स्नेहविशेष अर्थ करना अत्यन्त उचित था। यही बात यदि 'कृपया परयाऽऽविष्टः' (गी० १।२७) की व्याख्यामें कही जाती तो अधिक सुन्दरता होती।

अर्जुनस्य कर्मत्वं कृपायाश्च कर्तृत्वं वदता तस्या आगन्तुकत्वं व्युदस्तम् । अत एव विषीदन्तं स्नेह-विषयीभूतस्वजनविच्छेदाशङ्कानिमित्तः शोकापरपर्यायश्चित्तव्याकुलीभावो विषादस्तं प्राप्नुवन्तम् । अत्र विषादस्य कर्मत्वेनार्जुनस्य कर्तृत्वेन च तस्याऽऽगन्तुकत्वं सूचितम् ।

(१) अत एव कृपाविषादवशादश्रुभिः पूर्णे आकुले दर्शनाक्षमे चेक्षणे यस्य तम् । एवमश्रु-पातव्याकुलीभावाख्यकार्यद्वयजनकतया परिपोषं गताभ्यां कृपाविषादाभ्यामुद्विग्नं तमर्जुनमिदं सोप-पत्तिकं वक्ष्यमाणं वाक्यमुवाच न तूपेक्षितवान् । मधुसूदन इति । स्वयं दुष्टनिग्रहकर्ताऽर्जुनं प्रत्यपि तथैव वक्ष्यतीति भावः ॥ १ ॥

दिखाकर उसकी आगन्तुकताका निषेध किया है । इसीलिये विषाद करते हुए—स्नेहके विषयभूत स्वजनोंके विच्छेदकी आशंकासे शोकका ही समानार्थी जो चित्तकी व्याकुलतारूप विषाद है उसे प्राप्त होते हुए । यहाँ विषादके कर्मत्व और अर्जुनके कर्तृत्वसे विषादका आगन्तुकत्व प्रदर्शित किया है ।

(१) अतएव कृपा और विषादके कारण जिसके नेत्र आँसुओंसे भरे हुए हैं तथा आकुल अर्थात् देखनेमें असमर्थ हो रहे हैं उस अर्जुनसे—इस प्रकार अश्रुपात और व्याकुलतारूप दो कार्योंके उत्पन्न करनेवाले होनेसे पुष्ट हुए कृपा और विषादके कारण जो उद्विग्न हो रहा है उस अर्जुनसे श्रीमधुसूदनने यह आगे कहे जानेवाली युक्तियुक्त बात कही, उसकी उपेक्षा नहीं की । यहाँ भगवान्‌को 'मधुसूदन' कहनेका यह भाव है कि स्वयं दुष्टोंके निग्रह करनेवाले होनेसे वे अर्जुनसे भी ऐसी ही बात कहेंगे ॥ १ ॥

१. आगन्तुकत्व—आगन्तुकका अर्थ होता है—सहेतुक, सादि या जन्य । प्रकृतमें यद्यपि अर्जुनरूप कर्म आगन्तुक नहीं, अनादि है और कृपारूप कर्ता जन्य होनेसे आगन्तुक है, अतः यहाँ कर्मको आगन्तुक और कर्ताको अनागन्तुक कहना सम्भव नहीं, तथापि कर्तृत्व धर्मकी अपेक्षा कर्मत्व धर्म सर्वत्र आगन्तुक माना जाता है, क्योंकि कर्तृत्व स्वतन्त्र या निरपेक्ष होता है और कर्मत्व परतन्त्र या सापेक्ष होता है । अर्थात् कर्तृत्व आकार कर्ताकी क्रियासे जन्य फलपर आश्रित नहीं होता, किन्तु कर्मत्व वैसा होता है, अतः कर्तृत्वयुक्त पदार्थको अनागन्तुक तथा कर्मत्व-विशिष्ट वस्तुको आगन्तुक पाया जाता है ।

२. अत एव—श्लोकमें 'अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्' पद पहले और 'विषीदन्तम्' पद पश्चात् रखा है । तदनुसार श्रीमधुसूदन सरस्वतीको पहले 'अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्' की व्याख्या करके 'विषीदन्तम्' की व्याख्या करनी चाहिए थी, किन्तु उन्होंने यहाँ 'विषीदन्तम्' की व्याख्या पहले क्यों की ? इस सन्देहका समाधान माननीय श्रीधर्मदत्तझा (बच्चा झा) ने किया है कि अश्रुपूर्णाकुलेक्षणताका विषाद भी हेतु है, इसलिये 'विषीदन्तम्' की व्याख्या पहले ही करनी न्यायसंगत है, इस भावको स्वयं व्याख्याकार ने 'अत एव' कहकर स्पष्ट किया है । आशय यह है कि अर्जुनके नेत्रोंमें आँसू आ जानेके दो कारण उपस्थित हो गये थे—कृपा और विषाद । विषादका पहले उल्लेख न करनेसे केवल कृपारूप एक ही कारणका लाभ होता, एक न्यूनतासी रह जाती, उसे 'विषीदन्तम्' को पहले व्याख्या करके दूरकर दिया गया ।

३. 'मधुसूदन' शब्दसे सञ्जयने धृतराष्ट्रके प्रति यह भी ध्वनित किया है कि देवताओंपर अत्याचार करनेवाले मधु-जैसे दैत्योंका संहार जिसने किया, वह तुम्हारे (धृतराष्ट्रके) आततायी पुत्रोंको कब छोड़ेगा ? अर्जुनकी युद्धोपरतिसे प्रसन्नता नहीं होनी चाहिए ।

(१) तदेव भगवतो वाक्यमवतारयति—

श्रीभगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन[1] ॥ २ ॥

(२) 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीङ्गना' ॥ (वि० पु० ६।७४)

समग्रस्येति प्रत्येकं संबन्धः । [2]मोक्षस्येति तत्साधनस्य ज्ञानस्य । इङ्गना संज्ञा । एतादृशं समग्रमैश्वर्यादिकं नित्यमप्रतिबन्धेन यत्र वर्तते स भगवान् । नित्ययोगे मतुप् ।

तथा—

'उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामागतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति' ॥ (वि० पु० ६ । ७८)

अत्र भूतानामिति प्रत्येकं संबध्यते । उत्पत्तिविनाशशब्दौ तत्कारणस्याप्युपलक्षकौ । आग-

(१) भगवान्‌के उस वाक्यको उद्धृत करते हैं—भगवान् बोले—

[श्लोकार्थः—भगवान्‌ने कहा—अर्जुन ! इस विकट स्थितिमें तुम्हें यह कुविचार कहाँसे आ गया ? मुमुक्षुलोग इसे कभी नहीं अपनाते, यह स्वर्गसे दूर ले जानेवाला है और अपकीर्तिको पैदा करनेवाला है ॥ २ ॥]

(२) समग्र ऐश्वर्य, समग्र धर्म, समग्र यश, समग्र श्री, समग्र वैराग्य, समग्र मोक्ष—इन छः की संज्ञा भग है । 'समग्र' पदका प्रत्येकके साथ सम्बन्ध है ।

'मोक्षस्य' अर्थात् मोक्षके साधन ज्ञानकी । 'इङ्गना' संज्ञाको कहते हैं । इस प्रकारके समग्र ऐश्वर्य आदि जिसमें सर्वदा अबाधरूपसे रहते हैं वह 'भगवान्' कहलाता है । भगवान् पदमें नित्ययोगके अर्थमें 'मतुप्' प्रत्यय हुआ है । इसी प्रकार जो प्राणियोंके उत्पत्ति, विनाश, भावी सम्पत्ति-विपत्ति और उनके ज्ञान एवं अज्ञानको जानता है उसे 'भगवान्' कहना चाहिये ।

यहाँ 'भूतानाम्' इस पदका प्रत्येक लक्षणके साथ संबंध है । उत्पत्ति और विनाश

१. 'अर्जुन' शब्दका अर्थ शुक्ल, स्वच्छ होता है, अतः इस संबोधनसे भगवान्‌ने अर्जुनको इंगित किया है कि तू स्वच्छ वस्त्रके समान है, अपनेपर कालिमाका धब्बा न आने दे ।

२. विष्णुपुराणके उक्त श्लोकमें 'समग्र' पदका मोक्षके साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता, क्योंकि अनेकविध पदार्थोंका संग्रह करनेके लिए समग्र विशेषण दिया जाता है, किन्तु अद्वैत वेदान्तमें मुख्य मोक्ष एकविध ही है—ब्रह्मस्वरूप स्थिति, फिर उसका 'समग्र' विशेषण क्योंकर होगा ? इस सन्देहको दूर करनेके लिए श्रीमधुसूदन सरस्वतीने 'मोक्ष' पदका यहाँ ज्ञान अर्थ किया है । 'आयुर्वै घृतम्' के समान साधनमें साध्यार्थक पदकी प्रवृत्ति हो जाती है । अब विचारणीय यह रह जाता है कि जिस ईश्वरमें तत्त्वज्ञान नित्य रहता है, उसमें समग्र धर्म (= पुण्यपाप) कैसे टिकेगा ! इसलिए सम्माननीय बच्चाझाने यहाँ 'धर्म' शब्दका पहले 'पाप-निवृत्ति' अर्थ किया । किन्तु इससे 'समग्र' पदका जोड़-मेल न देखकर 'धर्म' पदका अर्थ किया है—पुण्य-जनक क्रिया । ईश्वर सृष्टिके आरम्भमें समग्र पुण्यप्रद क्रियाओंका अनुष्ठान करके सम्प्रदाय-प्रवर्तन किया करता है ।

तिगती आगामिन्यौ संपदापदौ । एतादृशो भगवच्छब्दार्थः श्रीवासुदेव एव पर्यवसित[1] इति तथोच्यते[2]—

(१) इदं स्वधर्मात्पराङ्मुखत्वं कृपाव्यामोहाश्रुपातादिपुरःसरं कश्मलं शिष्टगर्हितत्वेन मलिनं विषमे सभये स्थाने त्वा त्वां सर्वत्रभियप्रवरं कुतो हेतोः समुपस्थितं प्राप्तम् ? किं मोक्षेच्छातः ? किं वा स्वर्गेच्छातः ? अथवा कीर्तीच्छातः ? इति किंशब्देनाऽऽक्षिप्यते । हेतुत्रयमपि निषेधति

शब्द उत्पत्ति और विनाशके कारणको भी उपलक्षित कराते हैं । आगति और गति आगामी सम्पत्ति एवं विपत्तिको कहते हैं । ऐसा 'भगवान्' शब्दका अर्थ श्री वसुदेवनन्दनमें ही घटता है, इसलिये उन्हें 'भगवान्' कहा गया है ।

(१) सम्पूर्ण क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ तुमको इस विषम भयावह स्थानमें यह कृपाव्यामोह और अश्रुपातादिपूर्वक अपने धर्मसे पराङ्मुखतारूप कश्मल, जो शिष्ट पुरुषों द्वारा निन्दित होनेके कारण अत्यन्त मलिन है, कहाँ से = किस कारणसे प्राप्त हो गया ? यह क्या मोक्षकी इच्छासे हुआ है ? अथवा स्वर्गकी इच्छासे ? या कीर्तिकी इच्छासे ?—इस प्रकार 'किम्' शब्द से इन तीनोंका आक्षेप होता है । इन तीनों हेतुओंका भगवान् उत्तरार्धके तीन विशेषणों से निषेध करते हैं । अनार्यजुष्ट = जो आर्य अर्थात् मुमुक्षुओं द्वारा अजुष्ट = असेवित हो । तात्पर्य यह है कि स्वधर्मके द्वारा चित्तकी शुद्धि हो जाने पर जो मोक्षकी इच्छा करते हैं और जिनके रागादि दोष क्षीण नहीं हुए हैं, उन मुमुक्षुओंके लिये स्वधर्म किस प्रकार त्याज्य हो सकता है ? जिसके रागादि दोष क्षीण हो गये हैं उस संन्यासके अधिकारीका आगे वर्णन किया जायगा । अस्वर्ग्य = स्वर्गके हेतुभूत धर्मका विरोधी होनेसे इसका स्वर्गकी इच्छासे भी सेवन नहीं करना चाहिये । अकीर्तिकर = कीर्तिका अभाव अथवा अपकीर्ति

१. श्रीपराशरने श्रीमैत्रेयको यही कहा है—

एवमेष महाञ्छब्दो मैत्रेय भगवानिति ।
परमब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः ॥ (वि० पु० ६।७६)

अर्थात् हे मैत्रेय ! 'भगवान्'—यह महान् शब्द परब्रह्मरूप वासुदेव को छोड़कर अन्यको मुख्य वृत्तिसे नहीं कह सकता । 'वासुदेव' शब्दका भी वैसा ही अर्थ है—

भूतेषु वसते सोऽन्तर्वसन्त्यत्र च तानि यत् । धाता विधाता जगतां वासुदेवस्ततः प्रभुः ॥

२. 'तथोच्यते' इसके अनन्तर किसी अन्य ग्रन्थ या व्यक्तिका वाक्य होना चाहिए । मैं जो कुछ समझता हूँ, वह यह है कि सरस्वतीजीने ऊपर 'तदेव भगवतो वाक्यमवतारयति'—यह अवतरणिका केवल 'भगवानुवाच'—इतने वाक्यकी दी थी और 'तथोच्यते'—यह अवतरण 'कृतस्त्वा'—इस श्लोकका है । इस प्रकार 'पर्यवसित इति' के पश्चात् पूर्णविराम होना चाहिए और 'तथोच्यते'—के अनन्तर द्वितीय श्लोक होना चाहिए । किन्तु मुद्रित पुस्तकोंकी नाकेबन्दीसे प्रभावित होकर श्रीस्वामी सनातनदेवजीने 'कुतस्त्वा'—इस श्लोकको पूर्वके 'भगवानुवाच' से ही भिड़ा रखा है । हमारे गुरुवर म० म० कृपालुजीने 'पर्यवसित इति तथोच्यते'—ऐसा दाल-भात सान रखा है और 'इति तथोच्यते' का 'यह निचोड़ निकला'—यह अनुवाद सा किया है । अब किससे लड़ूँ ?

यदि यह कहा जाय कि उक्त श्लोकका अवतरण 'तदेवोच्यते' हो सकता है, 'तथोच्यते' नहीं, तब मैं कहूँगा—'तथोच्यते' के अनन्तर वासुदेवकी भगवत्पदार्थताका पोषक 'एवमेष महाञ्छब्दः' (गत टिप्पणीमें उद्धृत) यह श्लोक अवश्य रहा होगा और लेखक-प्रमादसे वह छूट गया है । यह श्लोक उसी प्रकरणका है, जहाँके दो श्लोक मधुसूदनी व्याख्यामें उद्धृत हुए हैं ।

त्रिभिर्विशेषणैरुत्तरार्धेन । [1]आर्यैर्मुमुक्षुभिर्न जुष्टमसेवितम् । स्वधर्मैराशयशुद्धिद्वारा मोक्षमिच्छद्भिरपक्वकषायैर्मुमुक्षुभिः कथं स्वधर्मस्त्याज्य इत्यर्थः । संन्यासाधिकारी तु पक्वकषायोऽग्रे वक्ष्यते । अस्वर्ग्यं स्वर्गहेतुधर्मविरोधित्वान्न स्वर्गेच्छया सेव्यम् । अकीर्तिकरं कीर्त्यभावकरमपकीर्तिकरं वा न कीर्तीच्छया सेव्यम् । तथा च मोक्षकामैः स्वर्गकामैः कीर्तिकामैश्च वर्जनीयं, तत्काम एव त्वं सेवस इत्यहो अनुचितं चेष्टितं तवेति भावः ॥ २ ॥

(१) ननु बन्धुसेनावेक्षणजातेनाधैर्येण धनुरपि धारयितुमशक्नुवता मया किं कर्तुं शक्यमित्यत आह—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

(२) क्लैब्यं[2] क्लीबभावमधैर्यमोजस्तेजआदिभङ्गरूपं मा स्म गमो मा गा हे पार्थ ! पृथा-

करनेवाला, अतः कीर्तिकी इच्छासे भी इसका सेवन करना उचित नहीं है । इस प्रकार यह मोक्ष, स्वर्ग और कीर्ति तीनों ही की इच्छा करनेवालोंके लिये त्याज्य है । अहो ! यह बड़े खेद की बात है कि इन्हीं की कामनावाला होकर भी तू इसका सेवन करता है । तेरा यह व्यवहार बहुत ही अनुचित है—ऐसा इसका भाव है ॥ २ ॥

(१) किन्तु इन बन्धुओंकी सेनाको देखनेसे उत्पन्न हुए अधैर्यके कारण तो मैं धनुष धारण करनेमें भी असमर्थ हूँ—ऐसी अवस्थामें मैं क्या कर सकता हूँ ? ऐसी अर्जुन की ओरसे आशंका करके भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थः—अर्जुन ! तुम नपुंसकताको प्राप्त मत होओ । यह तुम्हारे लिये उचित नहीं है । शत्रुदमन ! तुम हृदयकी इस क्षुद्र दुर्बलताको छोड़कर खड़े हो जाओ ॥ ३ ॥]

(२) क्लैब्य = क्लीबभाव अर्थात् ओज एवं तेज आदिके भङ्गरूप अधैर्यको तुम प्राप्त मत होओ । हे पार्थ = पृथाके पुत्र ! तात्पर्य यह है कि देवताओंकी कृपासे प्राप्त होनेके

१. मूलस्थ 'अनार्यजुष्टम्' का विग्रह दो प्रकारसे किया गया है—(१) अनार्यैर्जुष्टम् और (२) आर्यैरजुष्टम् । प्रथम विग्रहका अर्थ होता है—'अनार्य पुरुषों द्वारा सेवित' और द्वितीय विग्रहका 'आर्योंसे असेवित' अर्थ है । नीलकण्ठने द्वितीय विग्रहमें पदव्युत्क्रम दोष बताकर प्रथम विग्रह ही अपनाया है । किन्तु मधुसूदन सरस्वतीने 'आर्यैर्न जुष्टम्' ही रखा है । श्रीधरस्वामी भी 'आर्यैरसेवितम्' अर्थ करते हैं । अस्वर्ग्य और अकीर्तिकर पदोंके साहचर्यसे 'अनार्यजुष्टम्' का झुकाव निषेधात्मक अर्थमें ही प्रतीत होता है, अतः आर्योंसे असेवित निषिद्ध-निन्दित पथकी ओर ही भगवान्का संकेत परिलक्षित होता है ।

२. युद्ध-कलाका विशेष अध्ययन करनेके लिए वीर अर्जुन जब देवराज इन्द्रके पास गया था, तब वहाँकी एक अप्सरा (उर्वशी) इसपर आसक्त होकर कहने लगी—'हम दोनोंका प्रणय-सम्बन्ध होना चाहिए ।' उस समय आर्य-धर्मका प्रोन्नत मानदंड स्थापित करते हुए अर्जुनने उसे फटकार दिया था । असफल होकर उर्वशीने क्रोधमें आकर अर्जुनको शाप दिया था—'तू क्लीब हो जा ।' फलतः गुप्तवासके दिनोंमें विराटके यहाँ बृहन्नलाके रूपमें अर्जुन क्लीब (हिजड़ा) बनकर रहा । भगवान् कृष्णका कहना है कि वह क्लैब्य उपपन्न था, तुम्हारे (अर्जुनके) धर्मका रक्षक था, किन्तु 'एतत् त्वयि नोपपद्यते' । यह कायरता तुममें शोभा नहीं देती, यहाँ तू वीरप्रसू पृथा माताके पुत्रके रूपमें उपस्थित हुआ है, तुझे इन्द्रका पराक्रम प्राप्त है, तू परन्तप है = भयङ्करसे-भयङ्कर शत्रुओंके छक्के छुड़ा देनेवाला है ।

तनय ! पृथया देवप्रसादलब्धे तत्तनयमात्रे वीर्यातिशयस्य प्रसिद्धत्वात्पृथातनयत्वेन त्वं क्लैब्यायोग्य इत्यर्थः। अर्जुनत्वेनापि तदयोग्यत्वमाह—नैतदिति। त्वयि अर्जुने साक्षान्महेश्वरेणापि सह कृताहवे प्रख्यातमहाप्रभावे नोपपद्यते न युज्यत एतत्क्लैब्यमित्यसाधारण्येन तदयोग्यत्वनिर्देशः।

(१) ननु 'न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः' इति पूर्वमेव मयोक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—क्षुद्रमिति। हृदयदौर्बल्यं मनसो भ्रमणादिरूपमधैर्यं क्षुद्रत्वकारणत्वात्क्षुद्रं सुनिरसनं वा त्यक्त्वा विवेकेनापनीयोत्तिष्ठ युद्धाय सज्जो भव हे परंतप ! परं शत्रुं तापयतीति तथा संबोध्यते हेतुगर्भम् ॥३॥

(२) ननु नायं स्वधर्मस्य त्यागः शोकमोहादिवशात्किंतु धर्मत्वाभावादधर्मत्वाच्चास्य युद्धस्य त्यागो मया क्रियत इति भगवदभिप्रायमप्रतिपद्यमानस्यार्जुनस्याभिप्रायमवतारयति—

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

(३) भीष्मं पितामहं द्रोणं चाऽऽचार्यं संख्ये रण इषुभिः सायकैः प्रतियोत्स्यामि प्रहरि-

कारण कुन्तीके प्रत्येक पुत्रमें पराक्रमकी अतिशयता प्रसिद्ध ही है, अतः पृथाका पुत्र होनेके कारण तू ऐसी नपुंसकताके योग्य नहीं है। 'नैतत्त्वय्युपपद्यते' इस वाक्यसे 'अर्जुन होनेके कारण भी तेरे लिये यह उचित नहीं है'—ऐसा कहा गया है। जिसने साक्षात् महादेवजीसे भी युद्ध किया तथा जिसका महान् प्रभाव अत्यन्त प्रसिद्ध है ऐसे तुझ अर्जुनके लिये भी यह नपुंसकता उपपन्न=उचित नहीं है। इस प्रकार अर्जुनकी असाधारणताके कारण भी उसके लिये इसकी अयोग्यताका निर्देश किया है।

(१) अब अर्जुनकी ओरसे ऐसी आशंका करके कि 'मैं तो पहले ही कह चुका हूँ कि मैं स्थिर नहीं रह सकता, मेरे मनमें चक्कर-सा आ रहा है' भगवान् कहते हैं—'क्षुद्रम्' इत्यादि। हृदयदौर्बल्य अर्थात् मनके चक्कर आने आदि अधैर्यको, जो क्षुद्रत्वका कारण होनेसे अथवा क्षुद्र यानी सुगमतासे दूर किया जा सकता है, त्याग कर=विवेक द्वारा दूर करके खड़ा हो जा=युद्ध के लिये तैयार हो जा। हे परन्तप=पर अर्थात् शत्रुओंको जो सन्तप्त करता है—इस प्रकार अर्जुनको सम्बोधन किया जाता है। यह सम्बोधन हेतुगर्भित है ॥ ३ ॥

(२) अब भगवान्‌का अभिप्राय न समझने वाले अर्जुनकी ओरसे ऐसी आशंका करके कि मेरा यह स्वधर्मत्याग शोकमोहादि के कारण नहीं है, किन्तु इस युद्ध में धर्मत्वका अभाव और अधर्म होनेके कारण ही मैं इसे छोड़ रहा हूँ—संजय उसके अभिप्रायको इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—'अर्जुन उवाच' से—

[श्लोकार्थः—हे मधुसूदन ! हे शत्रुदमन ! मैं पूजाके योग्य भीष्मपितामह और द्रोणाचार्यसे युद्ध में बाणों द्वारा किस प्रकार लड़ सकूँगा ? ॥ ४ ॥]

(३) मैं पितामहभीष्म और आचार्यद्रोणके साथ युद्ध में बाणों द्वारा किस प्रकार लड़ सकूँगा=किस प्रकार इन बाणोंसे प्रहार कर सकूँगा ? अर्थात किसी प्रकार

१. 'क्षुद्रत्वकारणत्वात् क्षुद्रम्' का अनुवाद 'क्षुद्रता=लघुताका कारण होनेसे (उक्त अधैर्य) क्षुद्र है'—यही होना चाहिए 'क्षुद्रत्वरूपकारणसे'—यह नहीं, क्योंकि यहाँ 'क्षुद्रत्वस्य कारणम्'—इस रूपमें षष्ठी समास है, कर्मधारय नहीं।

प्यामि कथं ? न कथंचिदपीत्यर्थः। यतस्तौ पूजार्हौ कुसुमादिभिरर्चनयोग्यौ। पूजार्हाभ्यां सह क्रीडास्थानेऽपि वाचाऽपि हर्षफलकमपि लीलायुद्धमनुचितं किं पुनर्युद्धभूमौ शरैः प्राणत्यागफलकं प्रहरणमित्यर्थः।

(१) मधुसूदनारिसूदनेति संबोधनद्वयं शोकव्याकुलत्वेन पूर्वापरपरामर्शवैकल्यात्। अतो न मधुसूदनारिसूदनेत्यस्यार्थस्य पुनरुक्तत्वं दोषः। युद्धमात्रमपि यत्र नोचितं दूरे तत्र वध इति प्रतियोत्स्यामीत्यनेन सूचितम्।

(२) अथवा पूजार्हौ कथं प्रतियोत्स्यामि। पूजार्हयोरेव विवरणं भीष्मं द्रोणं चेति। [1]द्वौ ब्राह्मणौ भोजय देवदत्तं यज्ञदत्तं चेतिवत्संबन्धः। अयं भावः—दुर्योधनादयो नापुरस्कृत्य भीष्मद्रोणौ युद्धाय सज्जीभवन्ति। तत्र ताभ्यां सह युद्धं न तावद्धर्मः पूजादिवदविहितत्वात्। न चायमनिषिद्धत्वादधर्मोऽपि न भवतीति वाच्यम्; 'गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य' इत्यादिना शब्दमात्रेणापि

नहीं कर सकता, क्योंकि ये तो पूजनीय हैं=पुष्पादि से पूजा करने योग्य हैं। तात्पर्य यह है कि पूजनीयोंके साथ तो क्रीड़ाके स्थानमें भी उन्हें हर्ष उत्पन्न करनेवाला केवल वाणीमात्रसे लीलायुद्ध तक करना अनुचित है, फिर युद्धभूमिमें बाणोंके द्वारा उन पर प्राणत्याग करा देनेवाला प्रहार करनेकी तो बात ही क्या है ?

(१) 'मधुसूदन' और 'अरिसूदन' ये दो विशेषण शोकाकुलताके कारण पूर्वापरका विचार न रहनेके कारण हैं। अतः 'मधुसूदन' और 'अरिसूदन' इनके अर्थमें पुनरुक्तिका होना दोष नहीं है। 'प्रतियोत्स्यामि' इस क्रियापदसे यह सूचित किया है कि जिनके साथ युद्ध करना भी उचित नहीं है, उनका वध करनेकी बात तो दूर ही है।

(२) अथवा पूजनीयोंके साथ मैं कैसे युद्ध करूँगा। अतः भीष्म और द्रोण—ये पूजनीयोंके ही विवरण रूप हैं। इनका सम्बन्ध 'देवदत्त और यज्ञदत्त दो ब्राह्मणोंको भोजन कराओ'-इस वाक्यके समान समझना चाहिये। भाव यह है कि दुर्योधनादि भीष्म और द्रोणको आगे किये बिना तो युद्धके लिये तैयार हैं नहीं और उनके साथ युद्ध करना धर्म नहीं है, क्योंकि पूजादिके समान उसका विधान नहीं किया गया। और ऐसा भी नहीं कहना चाहिये कि शास्त्रमें इसका निषेध न होनेके कारण यह अधर्म भी

१. इस न्यायका पूरा स्वरूप यह है कि पहले किसीने कहा—'दो ब्राह्मणोंको भोजन कराइए।' 'किन दो को' ? ऐसी सम्भावित जिज्ञासा शान्त करनेके लिए कहा गया—'देवदत्त और यज्ञदत्त को।' यहाँ यद्यपि देवदत्त और यज्ञदत्तको ब्राह्मण नहीं कहा गया, फिर भी उपक्रम वाक्यके बलपर यह जान लिया जाता है कि वे दोनों ब्राह्मण हैं। ठीक उसी प्रकार पहले कहा गया—'पूजार्हौ कथं प्रतियोत्स्यामि' अर्थात् दो पूजनीय व्यक्तियोंके साथ युद्ध कैसे करूँगा ? 'किन व्यक्तियोंके साथ ?' इस जिज्ञासाको दूर करनेके लिए कह दिया गया—'भीष्मं द्रोणं च'। यहाँ भीष्म और द्रोणमें पूजनीयत्वका लाभ प्रथम वाक्यके बलपर हो जाता है।

२. याज्ञवल्क्य-स्मृतिमें आया है—

गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः। बद्ध्वा वाससा क्षिप्रं प्रसाद्योपवसेद् दिनम् ॥ (४।२९१)

अर्थात् यदि कोई व्यक्ति भूलसे हुं और तू आदि हल्के शब्दोंसे गुरुका निरादर कर डाले, वाद-विवादके द्वारा विप्रको जीत ले एवं वस्त्रसे बाँध डाले; तब उस व्यक्तिको चाहिए कि तुरन्त उनको प्रसन्न करके एक दिनका उपवास रखे। इस स्मृतिमें गुरुके निरादरका प्रायश्चित्त तो बताया, किंतु शब्दतः कोई अनिष्ट फल नहीं बताया और सरस्वतीजी किसी ऐसे स्मृतिवाक्यको इंगित कर रहे हैं,

गुरुद्रोहो यदाऽनिष्टफलत्वप्रदर्शनेन निषिद्धस्तदा किं वाच्यं ताभ्यां सह सङ्ग्रामस्याधर्मत्वे निषिद्धत्वे चेति ॥ ४ ॥

(१) ननु भीष्मद्रोणयोः पूजार्हत्वं गुरुत्वेनैव, एवमन्येषामपि कृपादीनां, न च तेषां गुरुत्वेन स्वीकारः सांप्रतमुचितः—

'गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥'

इति[1] स्मृतेः, तस्मादेषां युद्धगर्वेणावलिप्तानामन्यायराज्यग्रहणेन शिष्यद्रोहेण च कार्याकार्यविवेकशून्यानामुत्पथनिष्ठानां वध एव श्रेयानित्याशङ्क्याऽऽह—

गुरूनहत्वा हि महानुभावाञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्षमपीह लोके ।
हत्वाऽर्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

(२) गुरूनहत्वा परलोकस्तावदस्त्येव । अस्मिंस्तु लोके तैर्हतराज्यानां नो नृपादीनां निषिद्धं

नहीं है। जबकि 'गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य' इत्यादि वाक्यसे शब्दमात्रसे भी गुरुजनोंका द्रोह अनिष्टफलदायक होनेके कारण निषिद्ध माना है तो उनके साथ संग्राम करना अधर्म और निषिद्ध है—इसमें तो कहना ही क्या है ? ॥ ४ ॥

(१) 'अच्छा, गुरु (वृद्ध या आचार्य) होनेके कारण ही तो भीष्म और द्रोणाचार्य की पूजनीयता है ? इसी प्रकार कृप आदि अन्य गुरुजनोंकी भी पूजनीयता है ही। किंतु इस समय इन्हें गुरुरूपसे स्वीकार करना उचित नहीं है, क्योंकि स्मृतिका कथन है—'जो गर्वसे भरा हुआ हो, करने और न करने योग्य कार्यको न जानता हो तथा कुमार्गमें प्रवृत्त हो, उस गुरुको भी त्याग देनेका विधान है।' अतः युद्धके गर्वसे व्याप्त, अन्यायपूर्वक राज्य छीनने और शिष्योंसे द्रोह करनेके कारण कार्य-अकार्यके विवेकसे शून्य और कुमार्गमें प्रवृत्त इन गुरुजनोंका वध करना ही अच्छा है'—ऐसी आशंका करके अर्जुन कहता है—

[श्लोकार्थः—इस लोकमें इन महान् प्रभावशाली गुरुजनोंको विना मारे तो भीख माँगकर खाना भी अच्छा है। इन अर्थलोलुप गुरुजनोंको मारकर तो मैं केवल इस लोकमें ही रुधिरसे भरे हुए भोगोंको भोग सकूँगा ॥ ५ ॥]

(२) गुरुजनोंको न मारनेपर परलोक तो है ही, इस लोकमें भी उनके द्वारा राज्य हर लिये जानेपर हम राजालोगोंके लिये अविहित भिक्षाभोजन श्रेयस्कर-प्रशस्यतर अर्थात् उचित ही है। इनका वध करके तो राज्य भोगना भी अच्छा नहीं है। इस प्रकार

जिसमें अनिष्टफलका प्रदर्शन भी हो, अतः इनके सामने याज्ञवल्क्य-स्मृतिका उक्त वचन न होकर यह प्रतीत होता है—

गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः । श्मशाने जायते वृक्षः कंकगृध्रोपसेवितः ॥

इसमें यह स्पष्ट बता दिया गया है कि गुरुका शब्दमात्रसे निरादर कर देनेपर श्मशानका वृक्ष बनना पड़ता है, जिसपर घूघड़-गिद्ध बैठते हैं।

१. यद्यपि उक्त स्मृतिवाक्यमें उत्पथगामी गुरुका परित्याग ही बताया है, वध नहीं, अतः इसके बलपर 'वध एव श्रेयान्'—यह शंका नहीं की जा सकती, तथापि द्रोणादिमें जब गुरुभाव नहीं रहा, तब सामान्य आततायी होनेके नाते उनमें वध्यता प्राप्त हो जाती है।

भैक्षमपि भोक्तुं श्रेयः प्रशस्यतरमुचितं न तु तद्वधेन राज्यमपि श्रेय इति धर्मेऽपि युद्धे वृत्तिमात्रफलत्वं गृहीत्वा पापमारोप्य ब्रूते। नन्ववलिप्तत्वादिना तेषां गुरुत्वाभाव उक्त इत्याशङ्क्याऽऽह—**महानुभावानिति**। महाननुभावः श्रुताध्ययनतपआचारादिनिबन्धनः प्रभावो येषां तान्। तथा च कालकामादयोऽपि यैर्वशीकृतास्तेषां पुण्यातिशयशालिनां नावलिप्तत्वादिक्षुद्रपाप्मसंश्लेष इत्यर्थः। हिमहानुभावानित्येकं वा पदं, हिमं जाड्यमपहन्तीति हिमहा आदित्योऽग्निर्वा तस्येवानुभावः सामर्थ्यं येषां तान्। तथा चातितेजस्वित्वात्तेषामवलिप्तत्वादिदोषो नास्त्येव।

'धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥'

स्वधर्म होनेपर भी युद्धमें केवल आजीविकामात्र ही फल है—ऐसा स्वीकार कर उसमें पापका आरोप करके कह रहे हैं। फिर भगवान्‌की ओरसे ऐसी आशंका करके कि गर्वादिके कारण इनके तो गुरुत्वका अभाव कहा है—कहते हैं—'महानुभावोंको अर्थात् शास्त्रश्रवण, अध्ययन, तप और आचारादिके कारण जिनका महान् अनुभाव=प्रभाव है ऐसे इन गुरुजनोंको। तात्पर्य यह है कि जिन्होंने काल और कामादिको भी अपने अधीन कर लिया है ऐसे इन अतिशय पुण्यवानोंको गर्वादि क्षुद्र पापोंका संसर्ग नहीं हो सकता। अथवा 'हिमहानुभावान्' यह एक पद है। जो हिम=जड़ता (जाड़े) को हनन करे उसे 'हिमहा' कहते हैं। उस हिमहा=सूर्य या अग्निके समान है अनुभाव=सामर्थ्य जिनका उन गुरुजनोंको। इस प्रकार अत्यन्त तेजस्वी होनेके कारण उनमें गर्वादि होना कोई दोष नहीं है; जैसा कि कहा भी है—'समर्थ पुरुषोंमें धर्मका अतिक्रमण और साहस देखा गया है। वह उन तेजस्वी महानुभावोंके लिये दोषका कारण नहीं होता, जैसे सब कुछ भक्षण कर जानेवाली अग्निको उन पदार्थोंसे कोई दोष नहीं लगता।'

---

१. भैक्षम्—अमरकोशमें भैक्षका अर्थ किया गया है—'भैक्षं भिक्षाकदम्बकम्'। 'भिक्षा' माँगनेका नाम है और माँगनेसे मिले अन्न आदिको भी भिक्षा कहा जाता है। यहाँ 'भिक्षा' का अर्थ अन्न आदि और 'भैक्ष' का अन्न समूह या विविध अन्न है। भिक्षुके पात्रमें कोई मीठा डाल देता है, कोई खट्टा, कोई नमकीन, कोई कुछ और कोई कुछ। उस विचित्र रवदड़को कोई राजकुमार भला कैसे खा सकेगा ? किंतु अर्जुन कहता है कि मैं उसके लिए भी तैयार हूँ परन्तु गुरुजनोंका वध करके राज्यभोग के लिए नहीं।

२. मीमांसकमूर्धन्य श्री कुमारिल भट्ट ने आक्षेपवादी की ओर से कहा है—'सदाचारेषु हि दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च महतां प्रजापतीन्द्रवसिष्ठविश्वामित्रयुधिष्ठिरकृष्णद्वैपायनभीष्मधृतराष्ट्रवासुदेवार्जुनप्रभृतीनां' (तं० वा० आचारा०)। वहाँ धर्मव्यतिक्रम और साहस का अर्थ करते हुए सोमेश्वर भट्ट ने कहा है—लोभाद्यभिभवाद् सन्निहितानर्थादर्शनेनाधर्माचरणं धर्मव्यतिक्रमः। दृष्टस्याप्यनर्थस्य बलदर्पेणानादरादधर्माचरणं साहसम्।' अर्थात् लोभादि के वशीभूत हो सन्निहित अनर्थ को न देख कर अधर्म का आचरण करना धर्मव्यतिक्रम है और बल के गर्व में आकर उपस्थित अनर्थकी उपेक्षा करके अधर्म का आचरण करना साहस कहलाता है। प्रजापति का अपनी दुहिता और इन्द्रका अहल्याके साथ अगम्यगमन करना वसिष्ठ का अपने पुत्र (शक्ति) के शोकसे जलमें डूबने को दौड़ना धर्मव्यतिक्रम है। विश्वामित्र का ब्राह्मण-शाप से चाण्डाल बने त्रिशङ्कु को याग कराना; युधिष्ठिरका अश्वत्थामाके विषयमें मिथ्या भाषण करना; कृष्णद्वैपायन (व्यास) का विचित्रवीर्यकी पत्नियोंसे धृतराष्ट्र आदि को उत्पन्न करना; भीष्मका अनाश्रमी रहना एवं विना पत्नी के श्रौत याग करना, धृतराष्ट्रका नेत्रहीन

(१) ननु यदार्थलुब्धाः सन्तो युद्धे प्रवृत्तास्तदैषां विक्रीतात्मनां कुतस्त्यं पूर्वोक्तं माहात्म्यं, तथा चोक्तं भीष्मेण युधिष्ठिरं प्रति—

'अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः' ॥

इत्याशङ्क्याऽऽह—हत्वेति। अर्थलुब्धा अपि ते मदपेक्षया गुरवो भवन्त्येवेति पुनर्गुरुग्रहणेनोक्तम्। तुशब्दोऽप्यर्थे ईदृशानपि गुरून्हत्वा भोगानेव भुञ्जीय ननु मोक्षं लभेय। भुज्यन्त इति भोगा विषयाः कर्मणि घञ्। ते च भोगा इहैव न परलोके। इहापि च रुधिरप्रदिग्धा इवापयशोव्याप्तत्वेनात्यन्तजुगुप्सिता इत्यर्थः। यदेहाप्येवं तदा परलोकदुःखं कियद्वर्णनीयमिति भावः।

(२) अथवा गुरून्हत्वाऽर्थकामात्मकान्भोगानेव भुञ्जीय ननु धर्ममोक्षावित्यर्थकामपदस्य भोगविशेषणतया व्याख्यानान्तरं द्रष्टव्यम् ॥ ५ ॥

(३) ननु भिक्षाशनस्य क्षत्रियं प्रति निषिद्धत्वाद्युद्धस्य च विहितत्वात्स्वधर्मत्वेन युद्धमेव तव श्रेयस्करमित्याशङ्क्याऽऽह—

(१) किन्तु जब ये अर्थलोलुप होकर युद्धमें प्रवृत्त हो रहे हैं तो अपने आत्माको बेच देनेवाले इन भीष्मादिका पूर्वोक्त माहात्म्य कैसे रह सकता है? ऐसा ही भीष्मने राजा युधिष्ठिरसे कहा भी है—'पुरुष ही अर्थका दास है, अर्थ किसीका दास नहीं है। राजन्! यह बात बिलकुल सही है, मुझे कौरवोंने अर्थसे बाँध रक्खा है।' ऐसी भगवान्‌की ओरसे आशंका करके अर्जुन कहता है—'हत्वा' इत्यादि। अर्थलोलुप होनेपर भी मेरी अपेक्षा तो ये गुरु हैं ही। यह बात श्लोकके उत्तरार्धमें पुनः 'गुरु' शब्द ग्रहण करनेसे कही गयी है। यहाँ 'तु' शब्द अपि (भी) के अर्थमें है। ऐसे गुरुजनोंको मारकर भी मैं केवल भोग ही पा सकता हूँ, मोक्ष तो पा नहीं सकता। जो भोगे जायँ उन विषयोंको भोग कहते हैं। 'भोग' शब्दमें कर्ममें 'घञ्' प्रत्यय हुआ है। भोग भी यहीं मिलेंगे परलोकमें नहीं। यहाँ भी ये मानो रुधिरसे भरे होंगे, अर्थात् अपयशसे व्याप्त होनेके कारण अत्यन्त घृणित होंगे। तात्पर्य यह है कि जब यहाँ भी ऐसी बात है तो परलोकके दुःखका तो कहाँतक वर्णन किया जाय।

(२) अथवा गुरुजनोंको मारकर अर्थ और काममय भोगोंको ही भोग सकूँगा, धर्म और मोक्षको तो पा नहीं सकूँगा—इस प्रकार 'अर्थकाम' पदको 'भोग' शब्दका विशेषण माननेसे यह दूसरी व्याख्या की जा सकती है* ॥ ५ ॥

(३) फिर यह सोचकर कि भगवान् कहेंगे 'क्षत्रियके लिये भिक्षा माँगकर खाना तो निषिद्ध है और युद्ध विहित है, अतः स्वधर्म होनेके कारण तेरे लिये युद्ध ही श्रेयस्कर है, अर्जुन कहता है—

होकर भी याग करना; वासुदेव (श्रीकृष्ण) और अर्जुनका मातुल-कन्या से विवाह करना साहस है।

इन आक्षेपों का और-और शास्त्रीय समाधान करके यह भी लिखा है—'मन्दतपसां गजैरिव महावटकाष्ठादिभक्षणमात्मविनाशायैव स्यात्'। अर्थात् तपःपूत महानुभाव साहसिक आचार करके भी अपने रक्षणकी पूर्ण क्षमता रखते थे। उनका असाधारण तपोबल था। उनका आदर्श सामने रखकर साधारण व्यक्ति का दुःसाहस करना अपने को वैसे ही विनष्ट कर लेना है, जैसे हाथी को बड़े-बड़े वृक्ष खाते देख कोई व्यक्ति वैसा ही करना चाहे।

* इस अवस्था में इस श्लोकार्ध का अन्वय इस प्रकार होगा—'गुरून् हत्वा तु इह रुधिरप्रदिग्धान् अर्थकामान् भोगान् एव भुञ्जीय।'

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

(१) एतदपि न जानीमो मैवंयुद्ध्योर्मध्ये कतरन्नोऽस्माकं गरीयः=श्रेष्ठं, किं भैक्षं हिंसाशून्यत्वादुत युद्धं स्वधर्मत्वादिति। इदं च न विद्म आरब्धेऽपि युद्धे यद्वा वयं जयेमातिशयीमहि यदि वा नोऽस्माञ्जयेयुर्धार्तराष्ट्राः। उभयोः साम्यपक्षोऽप्यर्थाद्बोद्धव्यः।

(२) किं च जातोऽपि जयो नः फलतः पराजय एव। यतो यान्बन्धून्हत्वा जीवितुमपि वयं नेच्छामः किं पुनर्विषयानुपभोक्तुं? त एवावस्थिताः संमुखे धार्तराष्ट्रा धृतराष्ट्रसंबन्धिनो भीष्मद्रोणादयः सर्वेऽपि। तस्माद्भैक्षाद्युद्धस्य श्रेष्ठत्वं न सिद्धमित्यर्थः।

(३) तदेवं प्राक्तनेन ग्रन्थेन संसारदोषनिरूपणाद्यधिकारिविशेषणान्युक्तानि। तत्र 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे' इत्यत्र रणे हतस्य परिव्राट्समानयोगक्षेमत्वोक्तेः[२] 'अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयः' (कठो० २।१) इत्यादिश्रुतिसिद्धं श्रेयो मोक्षाख्यमुपन्यस्तम्। अथाऽपि तदितरदश्रेय

[श्लोकार्थः—हम तो यह भी नहीं जानते कि (भिक्षा माँगना और युद्ध—इन) दोनोंमें हमारे लिये कौन बात बढ़कर है, तथा इस युद्धमें हम जीतेंगे या ये हमें जीतेंगे। जिन्हें मारकर हम जीना भी नहीं चाहते वे धृतराष्ट्रके सम्बन्धी भीष्म-द्रोणादि ही हमारे सामने खड़े हैं ॥ ६ ॥]

(१) हम यह भी नहीं जानते कि भिक्षा और युद्ध इन दोनोंमें हमारे लिये श्रेष्ठ क्या है? हिंसाशून्य होनेके कारण भिक्षा माँगना श्रेष्ठ है या स्वधर्म होनेके कारण युद्ध इस बातका भी हमें पता नहीं है। युद्ध आरम्भ कर देनेपर भी इसका निश्चय नहीं है कि हम इन्हें जीतेंगे या ये धृतराष्ट्रके पुत्र हमें जीतेंगे। इससे अर्थतः दोनों ओरकी समानता का पक्ष भी समझ लेना चाहिये।

(२) इसके सिवा यदि हमारा विजय हो भी गया तो फलतः तो वह पराजय ही होगा, क्योंकि जिन बंधुओंको मारकर, विषयोंको भोगनेकी तो बात ही क्या, हम जीवित रहना भी नहीं चाहते वे धार्तराष्ट्र—धृतराष्ट्रके सम्बन्धी समस्त भीष्म-द्रोणादि ही हमारे सामने खड़े हैं। अतः तात्पर्य यह है कि भिक्षासे युद्धकी श्रेष्ठता सिद्ध नहीं हो सकती।

(३) इस प्रकार पूर्व ग्रन्थसे संसारके दोषोंका निरूपण करके अधिकारीके विशेषण कहे गये हैं। इसमें 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे' इस उक्तिसे युद्धमें मारे हुए व्यक्तिका संन्यासीके समान योग-क्षेम बताकर 'अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयः'

१. कुछ लोगोंका कहना है कि जब अर्जुनने यह निर्णय कर लिया कि भीष्मादि के साथ युद्ध करनेकी अपेक्षा भिक्षा माँग कर खाना श्रेष्ठ है तब अर्जुनको यह सन्देह नहीं हो सकता कि 'भिक्षा कर्म और युद्ध कर्ममें कौन श्रेष्ठ है?' अतः इस श्लोकमें 'कतरत् गरीयः' वाक्यसे अर्जुन यह संशय व्यक्त कर रहा है कि 'हमलोगोंके सैन्योंमें कौन सबल है?' किन्तु उन लोगोंका यह कहना उचित नहीं, क्योंकि अग्रिम सातवें श्लोकमें अर्जुन अपनेको 'धर्मसंमूढचेताः' कहता है। इसलिए 'भिक्षा-धर्म और युद्ध-धर्ममें कौन श्रेष्ठ है?'—यह धर्म-सन्देह ही 'कतरत् नो गरीयः' वाक्यसे विवक्षित है। दूसरी बात यह भी है कि यदि इस वाक्यसे अर्जुन सैन्य-बल विषयक सन्देह करता, तब आगे 'यद्वा जयेम'—यह जय-पराजयका संशय-कथन पुनरुक्त-सा हो जाता है।

२. श्रेय (कल्याण) और है तथा प्रेय (इन्द्रियसुख) और है।

(१) ननु यदार्थलुब्धाः सन्तो युद्धे प्रवृत्तास्तदैषां विक्रीतात्मनां कुतस्त्यं पूर्वोक्तं माहात्म्यं, तथा चोक्तं भीष्मेण युधिष्ठिरं प्रति—

'अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः' ॥

इत्याशङ्क्याऽऽह—हत्वेति। अर्थलुब्धा अपि ते मदपेक्षया गुरवो भवन्त्येवेति पुनर्गुरुग्रहणेनोक्तम्। तुशब्दोऽप्यर्थे ईदृशानपि गुरून्हत्वा भोगानेव भुञ्जीय ननु मोक्षं लभेय। भुज्यन्त इति भोगा विषयाः कर्मणि घञ्। ते च भोगा इहैव न परलोके। इहापि च रुधिरप्रदिग्धा इवापयशोव्याप्तत्वेनात्यन्तजुगुप्सिता इत्यर्थः। यदेहाप्येवं तदा परलोकदुःखं कियद्वर्णनीयमिति भावः।

(२) अथवा गुरून्हत्वार्थकामात्मकान्भोगानेव भुञ्जीय ननु धर्ममोक्षावित्यर्थकामपदस्य भोगविशेषणतया व्याख्यानान्तरं द्रष्टव्यम् ॥ ५ ॥

(३) ननु भिक्षाशनस्य क्षत्रियं प्रति निषिद्धत्वाद्युद्धस्य च विहितत्वात्स्वधर्मत्वेन युद्धमेव तव श्रेयस्करमित्याशङ्क्याऽऽह—

(१) किन्तु जब ये अर्थलोलुप होकर युद्धमें प्रवृत्त हो रहे हैं तो अपने आत्माको बेच देनेवाले इन भीष्मादिका पूर्वोक्त माहात्म्य कैसे रह सकता है? ऐसा ही भीष्मने राजा युधिष्ठिरसे कहा भी है—'पुरुष ही अर्थका दास है, अर्थ किसीका दास नहीं है। राजन्! यह बात बिलकुल सही है, मुझे कौरवोंने अर्थसे बाँध रक्खा है।' ऐसी भगवान्‌की ओरसे आशंका करके अर्जुन कहता है—'हत्वा' इत्यादि। अर्थलोलुप होनेपर भी मेरी अपेक्षा तो ये गुरु हैं ही। यह बात श्लोकके उत्तरार्धमें पुनः 'गुरु' शब्द ग्रहण करनेसे कही गयी है। यहाँ 'तु' शब्द अपि (भी) के अर्थमें है। ऐसे गुरुजनोंको मारकर भी मैं केवल भोग ही पा सकता हूँ, मोक्ष तो पा नहीं सकता। जो भोगे जायँ उन विषयोंका भोग कहते हैं। 'भोग' शब्दमें कर्ममें 'घञ्' प्रत्यय हुआ है। भोग भी यहीं मिलेंगे परलोकमें नहीं। यहाँ भी ये मानो रुधिरसे भरे होंगे, अर्थात् अपयशसे व्याप्त होनेके कारण अत्यन्त घृणित होंगे। तात्पर्य यह है कि जब यहाँ भी ऐसी बात है तो परलोकके दुःखका तो कहाँतक वर्णन किया जाय।

(२) अथवा गुरुजनोंको मारकर अर्थ और काममय भोगोंको ही भोग सकूँगा, धर्म और मोक्षको तो पा नहीं सकूँगा—इस प्रकार 'अर्थकाम' पदको 'भोग' शब्दका विशेषण माननेसे यह दूसरी व्याख्या की जा सकती है* ॥ ५ ॥

(३) फिर यह सोचकर कि भगवान् कहेंगे 'क्षत्रियके लिये भिक्षा माँगकर खाना तो निषिद्ध है और युद्ध विहित है, अतः स्वधर्म होनेके कारण तेरे लिये युद्ध ही श्रेयस्कर है, अर्जुन कहता है—

होकर भी याग करना; वासुदेव (श्रीकृष्ण) और अर्जुनका मातुल-कन्या से विवाह करना साहस है।

इन आक्षेपों का और-और शास्त्रीय समाधान करके यह भी लिखा है—'मन्दतपसां गजैरिव महावटकाष्ठादिभक्षणमात्मविनाशायैव स्यात्'। अर्थात् तपःपूत महानुभाव साहसिक आचार करके भी अपने रक्षणकी पूर्ण क्षमता रखते थे। उनका असाधारण तपोबल था। उनका आदर्श सामने रखकर साधारण व्यक्ति का दुःसाहस करना अपने को वैसे ही विनष्ट कर लेना है, जैसे हाथी को बड़े-बड़े वृक्ष खाते देख कोई व्यक्ति वैसा ही करना चाहे।

* इस अवस्था में इस श्लोकार्थ का अन्वय इस प्रकार होगा—'गुरून् हत्वा तु इह रुधिरप्रदिग्धान् अर्थकामान् भोगान् एव भुञ्जीय।'

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

(१) एतदपि न जानीमो भैक्षयुद्धयोर्मध्ये कतरन्नोऽस्माकं गरीयः=श्रेष्ठं, किं भैक्षं हिंसाशून्यत्वादुत युद्धं स्वधर्मत्वादिति। इदं च न विद्म आरब्धेऽपि युद्धे यद्वा वयं जयेमातिशयीमहि यदि वा नोऽस्माञ्जयेयुर्धार्तराष्ट्राः। उभयोः साम्यपक्षोऽप्यर्थाद्बोद्धव्यः।

(२) किं च जातोऽपि जयो नः फलतः पराजय एव। यतो यान्बन्धून्हत्वा जीवितुमपि वयं नेच्छामः किं पुनर्विषयानुपभोक्तुं? त एवावस्थिताः संमुखे धार्तराष्ट्रा धृतराष्ट्रसंबन्धिनो भीष्मद्रोणादयः सर्वेऽपि। तस्माद्भैक्षाद्युद्धस्य श्रेष्ठत्वं न सिद्धमित्यर्थः।

(३) तदेवं प्राक्तनेन ग्रन्थेन संसारदोषनिरूपणादधिकारिविशेषणान्युक्तानि। तत्र 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे' इत्यत्र रणे हतस्य परिव्राट्समानयोगक्षेमत्वोक्तेः [१]'अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयः' (कठो० २।१) इत्यादिश्रुतिसिद्धं श्रेयो मोक्षाख्यमुपन्यस्तम्। अर्थाच्च तदितरद्भ्रेय

[श्लोकार्थः—हम तो यह भी नहीं जानते कि (भिक्षा माँगना और युद्ध—इन) दोनोंमें हमारे लिये कौन बात बढ़कर है, तथा इस युद्धमें हम जीतेंगे या ये हमें जीतेंगे। जिन्हें मारकर हम जीना भी नहीं चाहते वे धृतराष्ट्रके सम्बन्धी भीष्म-द्रोणादि ही हमारे सामने खड़े हैं ॥ ६ ॥]

(१) हम यह भी नहीं जानते कि भिक्षा और युद्ध इन दोनोंमें हमारे लिये श्रेष्ठ क्या है? हिंसाशून्य होनेके कारण भिक्षा माँगना श्रेष्ठ है या स्वधर्म होनेके कारण युद्ध इस बातका भी हमें पता नहीं है। युद्ध आरम्भ कर देनेपर भी इसका निश्चय नहीं है कि हम इन्हें जीतेंगे या ये धृतराष्ट्रके पुत्र हमें जीतेंगे। इससे अर्थतः दोनों ओरकी समानता का पक्ष भी समझ लेना चाहिये।

(२) इसके सिवा यदि हमारा विजय हो भी गया तो फलतः तो वह पराजय ही होगा, क्योंकि जिन बंधुओंको मारकर, विषयोंको भोगनेकी तो बात ही क्या, हम जीवित रहना भी नहीं चाहते वे धार्तराष्ट्र—धृतराष्ट्रके सम्बन्धी समस्त भीष्म-द्रोणादि ही हमारे सामने खड़े हैं। अतः तात्पर्य यह है कि भिक्षासे युद्धकी श्रेष्ठता सिद्ध नहीं हो सकती।

(३) इस प्रकार पूर्व ग्रन्थसे संसारके दोषोंका निरूपण करके अधिकारीके विशेषण कहे गये हैं। इसमें 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे' इस उक्तिसे युद्धमें मारे हुए व्यक्तिका संन्यासीके समान योग-क्षेम बताकर 'अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयः'

१. कुछ लोगोंका कहना है कि जब अर्जुनने यह निर्णय कर लिया कि भीष्मादि के साथ युद्ध करनेकी अपेक्षा भिक्षा माँग कर खाना श्रेष्ठ है तब अर्जुनको यह सन्देह नहीं हो सकता कि 'भिक्षा कर्म और युद्ध कर्ममें कौन श्रेष्ठ है?' अतः इस श्लोकमें 'कतरत् गरीयः' वाक्यसे अर्जुन यह संशय व्यक्त कर रहा है कि 'हमलोगोंके सैन्योंमें कौन सबल है?' किन्तु उन लोगोंका यह कहना उचित नहीं, क्योंकि अग्रिम सातवें श्लोकमें अर्जुन अपनेको 'धर्मसंमूढचेताः' कहता है। इसलिए 'भिक्षा-धर्म और युद्ध-धर्ममें कौन श्रेष्ठ है?'—यह धर्म-सन्देह ही 'कतरत् नो गरीयः' वाक्यसे विवक्षित है। दूसरी बात यह भी है कि यदि इस वाक्यसे अर्जुन सैन्य-बल विषयक सन्देह करता, तब आगे 'यद्वा जयेम'—यह जय-पराजयका संशय-कथन पुनरुक्त-सा हो जाता है।

२. श्रेय (कल्याण) और है तथा प्रेय (इन्द्रियसुख) और है।

इति नित्यानित्यवस्तुविवेको दर्शितः, न काङ्क्षे विजयं कृष्णेत्यत्रैहिकफलविरागः, अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोरित्यत्र पारलौकिकफलविरागः, नरके नियतं वास इत्यत्र स्थूलदेहातिरिक्त आत्मा, किं नो राज्येनेति व्याख्यातवर्त्मना शमः, किं भोगैरिति दमः, यद्यप्येते न पश्यन्तीत्यत्र निर्लोभता, तन्मे क्षेमतरं भवेदित्यत्र तितिक्षा, इति प्रथमाध्यायार्थः संन्याससाधनसूचनम् । अस्मिंस्त्वध्याये श्रेयो भोक्तुं भैक्षमपीत्यत्र भिक्षाचर्योपलक्षितः संन्यासः प्रतिपादितः ॥ ६ ॥

(१) गुरूपसदनमिदानीं प्रतिपाद्यते समधिगतसंसारदोषजातस्यातितरां निर्विण्णस्य विधिवद्गुरुमुपसन्नस्यैवं विद्याग्रहणेऽधिकारात् । तदेवं भीष्मादिसंकटवशात् 'व्युत्थायाथ[2] भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृह० ३।५।१) इति श्रुतिसिद्धभिक्षाचर्यैर्ऽर्जुनस्याभिलाषं प्रदर्श्य विधिवद्गुरूपसत्तिमपि तत्संकटव्याजेनैव दर्शयति—

इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध मोक्षसंज्ञक श्रेयका उल्लेख किया है। इससे स्वतः ही मोक्षसे भिन्न अश्रेय सिद्ध होता है। इस प्रकार नित्यानित्यवस्तुविवेकका प्रदर्शन हो जाता है। 'न कांक्षे विजयं कृष्ण' इस वाक्यसे ऐहिक फलसे वैराग्य तथा 'अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः' इससे पारलौकिक फलसे वैराग्य दिखाया है। 'नरके नियतं वासः' यहाँ आत्माको स्थूलसे पृथक् बताया है। 'किन्नो राज्येन' इसके कथनकी शैलीसे शम, 'किं भोगैः' इससे दम, 'यद्यप्येते च पश्यन्ति' इससे निर्लोभता और 'तन्मे क्षेमतरं भवेत्' इससे तितिक्षा प्रदर्शित की है। इस प्रकार प्रथम अध्यायका अर्थ संन्याससहित जिज्ञासुके साधनोंको ही सूचित करना है। तथा इस अध्यायमें तो 'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपि' इस वाक्यसे भिक्षाचर्या द्वारा उपलक्षित संन्यासका ही प्रतिपादन कर दिया है ॥ ६ ॥

(१) अब गुरूपसत्तिका प्रतिपादन किया जाता है, क्योंकि संसारके दोषोंको जानकर जो अत्यन्त विरक्त हो गया है तथा जिसने विधिवत् गुरुकी शरण ली है उसे ही ब्रह्मविद्याके ग्रहणका अधिकार है। अतः भीष्मादिरूप संकटके कारण 'व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इस श्रुतिसे प्रतिपादित भिक्षाचर्यामें अर्जुनकी प्रवृत्ति दिखाकर उस संकटके मिषसे ही उसकी विधिवत् गुरूपसत्ति भी दिखाते हैं।

१. भगवान् शंकराचार्यने गी० २।११ के भाष्यमें कहा है कि 'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं' (गी० १।२) से लेकर 'न योत्स्ये' (गी० २।९) तकके सन्दर्भसे अर्जुनके शोक और मोह दिखाये गये हैं। उनकी निवृत्ति सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक आत्मज्ञानसे हो सकती है। अतः भगवान् कृष्ण अर्जुनको सामने रखकर मुमुक्षु वर्गको ज्ञानका उपदेश कर रहे हैं—अशोच्यान् आदि से। वहाँ अधिकारी मुमुक्षुके विवेक, वैराग्य आदि साधनोंका निरूपण पूर्वसन्दर्भमें ही होना चाहिये—इस आशयसे ही श्री मधुसूदन सरस्वतीने वहाँ ध्वनित विवेक, वैराग्य आदि साधनोंकी चर्चा की है। कुछ विद्वानोंका कहना है कि यहाँ साधन सम्पादनका कोई प्रसंग ही नहीं, क्योंकि भगवान् कृष्णने अग्रिम प्रकरणमें अर्जुनको स्वधर्मका उपदेश किया है, ज्ञानका नहीं। इसलिए शांकर भाष्यके 'तदुपदिदिक्षुः' (ज्ञानमुपदिदिक्षुः) 'अर्जुनं निमित्तीकृत्य' पदों की व्याख्यामें श्रीआनन्द गिरिने कहा है—'नहि तस्यामवस्थायां अर्जुनस्य भगवता यथोक्तज्ञानमुपदेष्टुमिष्टम्, किन्तु स्वधर्मानुष्ठानात् बुद्धिशुद्धयुत्तरकालम्।' अर्थात् भगवान् कृष्ण ने ज्ञानका उपदेश अवश्य किया है, किन्तु अभी नहीं। अभी तो अर्जुनको स्वधर्मका उपदेश करते हैं, इसके अनुष्ठानसे जब साधकका अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा, तब ज्ञानका उपदेश करेंगे। अतः यहाँ विवेक, वैराग्य, संन्यास आदि साधनोंकी चर्चा अप्रासंगिक है। किन्तु उन विद्वानोंने यह नहीं बताया कि यहाँ साधनका प्रसंग न होने पर अन्यत्र कहाँ है?

२. पुत्रैषणादि से विमुख होकर भिक्षाचर्या करते हैं।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

(१) यः स्वल्पामपि वित्तक्षतिं न क्षमते स कृपण इति लोके प्रसिद्धः । तद्विपरीतादखिलोऽनात्मविदप्राप्तपुरुषार्थतया कृपणो भवति । 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः' (बृह० ३।८।१०) इति श्रुतेः । तस्य भावः कार्पण्यमनात्माध्यासवत्त्वं तन्निमित्तोऽस्मिञ्जन्मन्येत एव मदीयास्तेषु हतेषु किं जीवितेनेत्यभिनिवेशरूपो ममताल्लक्षणो दोषस्तेनोपहतस्तिरस्कृतः स्वभावः क्षात्रो युद्धोद्योगलक्षणो यस्य स तथा । धर्मे विषये निर्णायकप्रमाणादर्शनात्संमूढं किमेतेषां वधो धर्मः किमेतत्परिपालनं धर्मः । तथा किं पृथ्वीपरिपालनं धर्मः किं वा यथावस्थितोऽरण्यनिवास एव धर्म इत्यादिसंशयैर्व्याप्तं चेतो यस्य स तथा । 'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः' इत्यत्र व्याख्यातमेतत् । एवंविधः सन्नहं त्वा त्वामिदानीं पृच्छामि श्रेय इत्यनुषङ्गः ।

(२) अतो यन्निश्चितमैकान्तिकमात्यन्तिकं च श्रेयः परमपुरुषार्थभूतं फलं स्यात्तन्मे मह्यं ब्रूहि । साधनानन्तरमवश्यंभावित्वमैकान्तिकत्वं, जातस्याविनाश आत्यन्तिकत्वम् । यथा ह्यौषधे कृते कदाचिद्रोगनिवृत्तिर्न भवेदपि जातोऽपि च रोगनिवृत्तिः पुनरपि रोगोत्पत्त्या विनाश्यते[1], एवं कृतेऽपि यागे

[श्लोकार्थः—कृपणतारूप दोषके कारण मेरा स्वभाव नष्ट हो गया है और मेरा चित्त धर्मके विषयोंमें विमूढ हो रहा है। मैं आपसे पूछता हूँ, जो निश्चित श्रेय हो वह मुझे बताइये। मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरणमें आया हूँ, आप मुझे उपदेश कीजिये ॥७॥]

(१) जो थोड़ी-सी आर्थिक क्षतिको भी सहन नहीं कर सकता उसे 'कृपण' कहते हैं—यह लोकमें प्रसिद्ध ही है। आत्माको न जाननेवाले लोग सबके सब ऐसे ही होते हैं, अतः अपने पुरुषार्थको न पानेके कारण वे कृपण ही हैं। श्रुति भी कहती है, 'हे गार्गि! जो पुरुष इस लोकसे इस अक्षरको बिना जाने ही चला जाता है वह कृपण है।' कृपणका भाव ही 'कार्पण्य' है, जो अनात्माध्याससे युक्त होता है। उसीके कारण 'इस जन्ममें ये मेरे आत्मीय हैं, इनके मारे जानेपर मुझे जीवित रहनेसे भी क्या प्रयोजन है?' इस प्रकारका अभिनिवेशरूप ममता-दोष हुआ है। उससे जिसका स्वभाव—युद्धोद्योगरूप क्षत्रियत्व तिरस्कृत हो गया है। तथा धर्मके विषयमें कोई निर्णय करनेवाला प्रमाण न देखनेसे जिसका चित्त मूढ हो रहा है अर्थात् जिसका चित्त 'इनका वध करना धर्म है या पालन करना? अथवा पृथ्वीपालन हमारा धर्म है या जैसा चल रहा है वनमें ही रहना' इत्यादि संशयोंसे व्याप्त है—ऐसा होनेके कारण इस समय मैं आपसे श्रेयके विषय में पूछता हूँ—इस प्रकार इसका सम्बन्ध है। इस स्थितिको 'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः' इस वाक्यमें व्याख्या की गयी है।

(२) अतः जो निश्चित—ऐकान्तिक—आत्यन्तिक श्रेय अर्थात् परम पुरुषार्थरूप फल हो वह मुझे कहिये। साधनके अनन्तर अवश्य होना—यह ऐकान्तिकताका लक्षण है तथा उत्पन्न हुए फलका नाश न होना—यह उसकी आत्यन्तिकता है। जिस प्रकार ओषधि करनेपर कभी रोगकी निवृत्ति न भी हो तथा उत्पन्न रोगनिवृत्तिका पुनः रोग उत्पन्न होनेसे नाश ही हो जाय, इसी प्रकार जैसे यज्ञ करनेपर भी प्रतिबन्धके कारण स्वर्ग न

१. यद्यपि तार्किकोंके मतमें रोग-निवृत्तिका अर्थ रोगध्वंस होता है, उसका नाश (ध्वंस) नहीं होता, तथापि वेदान्त सिद्धान्तमें ब्रह्मसे भिन्न समस्त प्रपंच नश्वर होता है।

प्रतिबन्धवशात्स्वर्गो न भवेदपि जातोऽपि स्वर्गो दुःखाक्रान्तो नश्यति चेति नैकान्तिकत्वमात्यन्तिकत्वं वा तयोः । तदुक्तम्—

'दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्' ॥ (सां० का० १) इति
'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।
तद्विपरीतः श्रेयान्व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्' ॥ (सां० का० २) इति च

(१) ननु त्वं मम सखा न तु शिष्योऽत आह—शिष्यस्तेऽहमिति । त्वदनुशासनयोग्यत्वादहं तव शिष्य एव भवामि न सखा न्यूनज्ञानत्वात् । अतस्त्वां प्रपन्नं शरणागतं मां शाधि

मिले तथा स्वर्ग मिलनेपर भी वह दुःखपूर्ण रहे और नष्ट हो जाय—तो इन ओषधिप्रयोग और यज्ञानुष्ठानकी ऐकान्तिकता और आत्यन्तिकता नहीं मानी जायगी । ऐसा ही कहा भी है—'त्रिविध दुःखोंसे पीडित होनेके कारण जीवको उनका नाश करनेवाले हेतुके विषयमें जिज्ञासा होती है । यदि कहो कि उनका नाश तो औषध आदि दृष्ट साधनोंसे ही हो सकता है, इसलिये उसके लिये अदृष्ट साधनकी जिज्ञासा व्यर्थ है—तो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि दृष्ट साधन ऐकान्तिक और आत्यन्तिक नहीं है ।' तथा 'दृष्ट साधनोंके समान शास्त्रोक्त यागादि भी अविशुद्धि, क्षय और अतिशयता (न्यूनाधिकता) से युक्त हैं । किन्तु व्यक्त (कार्यवर्ग), अव्यक्त (कारण) और साक्षीके ज्ञानसे जो श्रेय होता है वह इनसे विपरीत प्रकारका होता है ।'

(१) 'किन्तु तू तो मेरा मित्र है, शिष्य तो है नहीं' ऐसी यदि भगवान् आशंका करें तो अर्जुन कहता है—'मैं आपका शिष्य हूँ' इत्यादि । आपसे उपदेश पानेके योग्य

१. सभी दुःखोंको तीन भागोंमें विभक्त किया जाता है—(१) आधिदैविक, (२) आधिभौतिक और (३) आध्यात्मिक । (१) भूत-प्रेत आदि के द्वारा समुत्पादित पीड़ाको आधिदैविक कहते हैं । (२) भूतों = प्राणियों (पशु, पक्षी, सर्प आदि) से होने वाले दुःखोंका नाम आधिभौतिक है । (३) शारीरिक और मानसिक दुःखोंको आध्यात्मिक कहा जाता है ।

२. दुःखोंके अवश्य निवृत्त हो जानेका नाम एकान्तता और सदैवके लिये निवृत्त हो जानेका नाम अत्यन्तता है । लौकिक उपायोंके सेवनसे दुःखोंका निवृत्त होना अवश्यम्भावी और सार्वदिक नहीं होता । अर्थात् औषध लेने पर कभी ज्वर हटता भी नहीं और एक बार हटकर फिर भी हो जाया करता है ।

३. 'अनुश्रव' नाम है वेद का, क्योंकि वह अपौरुषेय है, किसी पुरुषके द्वारा रचा नहीं गया, अनादि कालसे शिष्य-परम्परा उसे अपने गुरुओंसे सुनती ही आई है (अनुश्रूयते इति अनुश्रवः) । उसमें प्रतिपादित याग आदि कर्मवर्गको यहाँ आनुश्रविक (वैदिक) कहा गया है । कर्मानुष्ठानमें तीन दोष स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं—अविशुद्धि, क्षय और अतिशय । 'ज्योतिष्टोम' आदि कर्मोंसे जो पुण्य-राशि उत्पन्न होती है, उसमें पापका भी योग होता है, क्योंकि उस कर्ममें अग्नीषोमीयादि पशु (छाग) की हिंसा भी की जाती है । उस हिंसासे पाप अवश्य होगा । यही कर्मोंमें अविशुद्धि है । उक्त पुण्य-राशि भोग देकर क्षीण (नष्ट) हो जाती है, अतः क्षयी है, उससे जन्य सुख या दुःख-निवृत्ति अस्थायी ही होती है । सभी कर्मोंके अनुष्ठानसे समान पुण्य नहीं होता, अपितु न्यूनाधिक होता है । छोटे कर्मसे न्यून पुण्य और उससे न्यून सुख होता है । बड़े कर्मसे अधिक पुण्य और उससे अधिक सुख होता है । अतः कर्मोंसे सबको समान फल नहीं मिलता, अपितु न्यून-अधिक रूपमें । इसीका नाम अतिशयता (तारतम्य) है ।

शिष्य करुणया न त्वशिष्यत्वशङ्कयोपेक्षणीयोऽहमित्यर्थः । एतेन 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं [1]ब्रह्मनिष्ठम्' (मुण्ड० १।२।१२) 'भृगुर्वै वारुणिर्वरुणं पितरमुपससार, अधीहि भगवो [2]ब्रह्म' (तै० ३।१) इत्यादिगुरूपसत्तिप्रतिपादकः श्रुत्यर्थो दर्शितः[3] ॥ ७ ॥

(१) ननु स्वयमेव त्वं श्रेयो विचारय श्रुतसंपन्नोऽसि किं परशिष्यत्वेनेत्यत आह—

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाऽऽधिपत्यम् ॥८॥

होनेके कारण मैं आपका शिष्य ही हूँ, सखा नहीं हूँ, क्योंकि ज्ञानमें भी मैं आपसे कम हूँ । अतः मैं आपकी शरणमें आया हूँ, आप कृपा करके मुझे उपदेश दीजिये । तात्पर्य यह है कि मुझे अशिष्य समझकर आप मेरी उपेक्षा न करें । इससे 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' तथा 'भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्म' इत्यादि गुरूपसत्तिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंका अर्थ दिखाया गया है ॥ ७ ॥

(१) 'तुम तो शास्त्रादि श्रवण कर चुके हो, इसलिये स्वयं ही श्रेयका विचार कर लो, किसी दूसरेका शिष्यत्व स्वीकार करनेकी क्या आवश्यकता है' ऐसा यदि भगवान् विचार करें तो अर्जुन कहता है—

[श्लोकार्थः—पृथ्वीमें शत्रुहीन समृद्ध साम्राज्य और देवताओंका आधिपत्य पानेपर भी मुझे वह श्रेय दिखायी नहीं देता जो मेरी इन्द्रियोंको सुखानेवाले इस शोककी निवृत्ति कर सके ॥ ८ ॥]

१. उस आत्मतत्त्वका विशेष ज्ञान प्राप्त करनेके लिये जिज्ञासुको हाथमें समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी ही शरणमें जाना चाहिये ।

२. वरुणका पुत्र भृगु अपने पिता वरुणके पास गया और बोला—भगवन्, मुझे ब्रह्मका उपदेश दीजिये ।

३. इस सातवें श्लोकमें अर्जुन अपने दो विशेषण देता है—'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः' और 'धर्मसंमूढचेताः' दोनों विशेषण सार्थक ही नहीं, अपितु इनका क्रम भी समुचित ही रखा है, क्योंकि पूर्वके पाँचवें श्लोकमें अर्जुनने अपनी दीनता और छठे श्लोकमें 'कतरन्नो गरीयः' कहकर धर्म-संमोह कहा है । इस प्रकार इस सातवें श्लोकका सीधा सादा यह अर्थ निकलता है—'हे कृष्ण ! दीनताके कारण मेरा (अर्जुनका) क्षात्र स्वभाव शिथिल हो रहा है, मुझे धर्मके विषयमें सन्देह हो गया है (कि गुरुजनोंकी हत्या करूँ ? या युद्ध को छोड़ वनका मार्ग लूँ ?) । इनमें से जो कल्याणप्रद मार्ग हो, आप बतानेकी कृपा करें ।' किन्तु यहाँ श्री मधुसूदन सरस्वतीजीने कह दिया है कि यहाँ अर्जुन 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे'—इस वाक्यसे मोक्षतत्त्वको पूछ रहा है । प्रत्येक रोगी अपने रोगके विषयमें ही वैद्यसे प्रश्न किया करता है । पेटका रोगी शिरकी दवा नहीं माँगता । अतः यहाँ अर्जुनका यह कहना कि 'मेरी दीनता और धर्म-संशयको दूर करनेके लिये मोक्षका उपदेश कीजिए, नितान्त असंगत प्रतीत होता है । इस असंगतिको दूर करनेके लिये ही श्री आनन्दगिरि जैसे कुछ विद्वानोंने धारयतीति धर्म = परंब्रह्म—यह कहकर) धर्म शब्द का अर्थ सर्वाधिष्ठान ब्रह्म करते हुए धर्म-सम्मोह का तात्पर्य ब्रह्म-सम्मोह में माना है । किन्तु उन लोगोंने यह नहीं सोचा कि गत छठे श्लोकके 'कतरत् नो गरीयः'—इस वाक्यसे ब्रह्म-सम्मोह निकलता है कि नहीं ? सरस्वतीजीका हृदय तो सरस्वती ही

(१) यच्छ्रेयः प्राप्तं सत्कर्तृ मम शोकमपनुद्यादपनुदेन्निवारयेत्तन्न पश्यामि हि यस्मात्तस्मान्मां शाधीति 'सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवान्शोकस्य पारं तारयतु'[1] (छां० ७।१।३) इति श्रुत्यर्थो दर्शितः। शोकानपनोदे को दोष इत्याशङ्क्य तद्विशेषणमाह—**इन्द्रियाणामुच्छोषणमिति**। सर्वदा संतापकरमित्यर्थः।

(२) ननु युद्धे प्रयतमानस्य तव शोकनिवृत्तिर्भविष्यति जेष्यसि चेत्तदा राज्यप्राप्त्या 'द्वावेतौ पुरुषौ लोके'[2] इत्यादिधर्मशास्त्रादित्याशङ्क्याऽऽह—**अवाप्येत्यादिना**। शत्रुवर्जितं सस्यादिसंपन्नं च राज्यं तथा सुराणामाधिपत्यं हिरण्यगर्भत्वपर्यन्तमैश्वर्यमवाप्य स्थितस्यापि मम यच्छोकमपनुद्यात्तन्न पश्यामीत्यन्वयः। 'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते' (छां० ८।१।६) इति श्रुतेः। यत्कृतकं तदनित्यमित्यनुमानात्प्रत्यक्षेणाप्यैहिकानां विनाशदर्शनाच्च नैहिक

(१) 'अपनुद्यात्' इस क्रियाका कर्त्तारूप जो श्रेय प्राप्त होनेपर मेरे शोकका अपनोदन—निवारण कर दे वह मुझे दिखायी नहीं देता। क्योंकि ऐसा है, इसलिये आप मुझे उपदेश कीजिये। इस प्रकार यहाँ 'सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु' इस श्रुतिका अर्थ दिखाया है। 'यदि शोककी निवृत्ति न हो तो क्या दोष होगा' ऐसी आशंका करके उस शोकका विशेषण बताते हैं—इन्द्रियोंको सुखानेवाले अर्थात् सर्वदा सन्ताप देनेवाले।

(२) 'किन्तु युद्धके लिये प्रयत्न करनेपर तो तेरे शोककी निवृत्ति हो जायगी, जीत गया तो राज्य प्राप्त होनेसे, नहीं तो स्वर्ग मिलनेसे; क्योंकि इस विषयमें 'द्वावेतौ पुरुषौ लोके' इत्यादि धर्मशास्त्र प्रमाण है। ऐसी आशंका करके अर्जुन 'अवाप्य' इत्यादि उत्तरार्धसे इसका उत्तर देता है। शत्रुओंसे रहित धन-धान्य-सम्पन्न राज्य और देवताओंका आधिपत्य अर्थात् हिरण्यगर्भपर्यन्त ऐश्वर्य पाकर स्थित रहनेपर भी जो मेरे शोकको निवृत्त कर दे वह श्रेय मुझे दिखायी नहीं देता—इसप्रकार इसका अन्वय करना चाहिये। श्रुति भी कहती है कि 'जिस प्रकार यहाँ कर्मानुष्ठानसे प्राप्त होनेवाला लोक नष्ट हो जाता है उसी प्रकार परलोकमें पुण्यसे प्राप्त होनेवाला लोक भी क्षीण हो जाता है।' तथा 'जो वस्तु क्रियाजनित होती है वह अनित्य होती है' इस अनुमानसे भी यही सिद्ध होता है।

जान सकती हैं। हाँ, मुझे उनका आशय यह प्रतीत होता है कि उन्होंने 'कार्पण्य' पद से अध्यासको लिया है और 'कार्पण्य दोष' का अर्थ किया है—अध्यास-जन्य ममता। ब्रह्मसूत्रके आरम्भमें भाष्यकार ने भी कहा है—'मिथ्याज्ञाननिमित्तः·····ममेति लोकव्यवहारः।' यही ममता उक्त धर्म-संमोह का भी हेतु है। अतः इस मिथ्याज्ञान और ममता के महाबन्धनकी सीमा पार करनेके लिए तत्त्वबोध और मोक्षकी ही शरण लेनी पड़ेगी। इसलिए अर्जुनकी वह मांग कदापि असंगत नहीं।

१. नारद जी कहते हैं 'भगवन्! ऐसा शास्त्रज्ञ होने पर भी मुझे शोक है, अतः आप मुझे इस शोकसे पार कर दीजिये।'

२. इसके लिये पहले अध्यायके ३१ वें श्लोककी टीका देखिये।

३. वेदान्त-सिद्धान्तमें ध्वंस भी नश्वर होता है, अतएव पूर्व श्लोककी व्याख्यामें सरस्वतीजीने कहा है—'जाताऽपि रोगनिवृत्तिः पुनरपि रोगोत्पत्त्या विनाश्यते।' अतः 'यत्कृतकं तदनित्यम्'—इस व्याप्तिका ध्वंसमें व्यभिचार नहीं होता। मतान्तरमें व्यभिचारकी शंका होने पर हेतु (कृतकं) का भावत्व विशेषण दिया जा सकता है, जैसा कि आचार्य वाचस्पतिने कहा है—'क्षयित्वं च स्वर्गादेः भावत्वे सति कार्यत्वाद् अनुमितम्' (सां० तत्त्व० २)।

आमुष्मिको वा भोगः शोकनिवर्तकः किंतु स्वसत्ताकालेऽपि भोगोपारतन्त्र्यादिना विनाशकालेऽपि विच्छेदाच्छोकजनक एवेति न युद्धं शोकनिवृत्तयेऽनुष्ठेयमित्यर्थः। एतेनेहामुत्र-भोगविरागोऽधिकारि-विशेषणत्वेन दर्शितः॥ ८॥

(१) तदनन्तरमर्जुनः किं कृतवानिति धृतराष्ट्राकाङ्क्षायाम्—

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः[2]।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ ९॥

(२) गुडाकेशो जितालस्यः परंतपः शत्रुतापनोऽर्जुनो हृषीकेशं सर्वेन्द्रियप्रवर्तकत्वेनान्तर्यामिणं गोविन्दं गां वेदलक्षणां वाणीं विन्दतीति व्युत्पत्त्या सर्ववेदोपादानत्वेन सर्वज्ञमादावेवं कथं भीष्ममहं संख्य इत्यादिना युद्धस्वरूपायोग्यतामुक्त्वा तदनन्तरं न योत्स्य इति युद्धफलाभावं चोक्त्वा तूष्णीं बभूव बाह्येन्द्रियव्यापारस्य युद्धार्थं पूर्वं कृतस्य निवृत्त्या निर्व्यापारो जात इत्यर्थः।

ऐहिक पदार्थोंका प्रत्यक्ष प्रमाणसे भी नाश देखा जाता है; अतः ऐहिक और आमुष्मिक कोई भी भोग शोककी निवृत्ति करनेवाला नहीं है; अपितु अपनी स्थितिके समय भोगों की पराधीनतासे और नाशके समय विछोह होनेके कारण शोक ही उत्पन्न करता है। अतः तात्पर्य यह है कि दुःख-निवृत्तिके लिये युद्ध करना तो उचित है नहीं। इसके द्वारा अधिकारीके विशेषणरूपसे इहामुत्र-फलभोगवैराग्य दिखाया गया है॥ ८॥

(१) इसके पश्चात् अर्जुनने क्या किया—ऐसी धृतराष्ट्रकी आकांक्षा होने पर—सञ्जयने कहा—

[श्लोकार्थः—सञ्जयने कहा—शत्रुओंको सन्तप्त करनेवाले गुडाकेश अर्जुनने भगवान् हृषीकेशसे ऐसा कहकर 'गोविन्द! मैं नहीं लड़ूँगा' यह बात कही और चुप हो गया॥ ९॥]

(२) गुडाकेश—जिन्होंने आलस्यको जीत लिया है और परन्तप—जो शत्रुओं को सन्तप्त करनेवाले हैं वे अर्जुन हृषीकेशसे—समस्त इन्द्रियोंके प्रवर्तक होनेके कारण सर्वान्तर्यामी गोविन्दसे—गो अर्थात् वेदरूप वाणीको जो जानता है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार समस्त वेदोंका उपादान होनेके कारण सर्वज्ञ श्रीकृष्णसे पहले तो 'मैं रणभूमिमें भीष्मपितामहसे कैसे लड़ सकता हूँ' इत्यादि वाक्यसे युद्धमें अपनी अयोग्यता और फिर 'मैं नहीं लड़ूँगा' इसप्रकार युद्धरूप फलका अभाव कहकर चुप हो गये अर्थात् पहले जो युद्धके लिये किया था उस बाह्य इन्द्रियोंके व्यापारकी निवृत्ति हो जानेसे वे निश्चेष्ट हो गये। अर्जुन स्वभावतः आलस्यको जीते हुए और समस्त शत्रुओंको सन्तप्त करनेवाले थे; अतः वे आगन्तुक आलस्य और अतापकत्व उनमें टिक नहीं सकते थे—यह सूचित

१. इस 'भोग' पद का अर्थ है (भुज्यते इति भोगः) विषय। शब्दादि विषयोंके अधीन ही भोग (सुख-दुःखका साक्षात्कार) होता है।

२. किसी-किसी पुस्तकमें 'परंतप'—ऐसा पाठ मिलता है, जो कि संजयने धृतराष्ट्रको सम्बोधन करनेके लिये कहा है। 'परंतपः' भी सम्बोधन (परमुत्कृष्टं तपो यस्य इस व्युत्पत्तिसे) बन सकता है, जिसका आशय यह है कि आप (धृतराष्ट्र) के महान् तपका फल है कि अर्जुन युद्धसे विमुख हो रहा है।

स्वभावतो जितालस्ये सर्वशक्तियुतापने च तस्मिन्नागन्तुकमालस्यमतीवापकृत्वं च नाऽऽस्पदमाधास्यतीति द्योतयितुं हृशब्दः। गोविन्दहृषीकेशपदाभ्यां सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वसूचकाभ्यां भगवतस्तन्मोहापनोदनमनायाससाध्यमिति सूचितम् ॥ ९ ॥

(१) एवं युद्धमुपेक्षितवत्यप्यर्जुने भगवान्नोपेक्षितवानिति धृतराष्ट्रदुराशानिरासायाऽऽह—

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

(१) सेनयोरुभयोर्मध्ये युद्धोद्यमेनाऽऽगत्य तद्विरोधिनं विषादं मोहं प्राप्नुवन्तं तमर्जुनं प्रहसन्निवानुचिताचरणप्रकाशनेन लज्जाम्बुधौ मज्जयन्निव हृषीकेशः सर्वान्तर्यामी भगवानिदं वक्ष्यमाणमशोच्यानित्यादि वचः परमगम्भीरार्थमनुचिताचरणप्रकाशकमुक्तवान्न तूपेक्षितवानित्यर्थः।

(२) अनुचिताचरणप्रकाशनेन लज्जोत्पादनं प्रहासः। लज्जा च दुःखात्मिकेति द्वेषविषय एव स मुख्यः। अर्जुनस्य तु भगवत्कृपाविषयत्वादनुचिताचरणप्रकाशनस्य च विवेकोत्पत्तिहेतुत्वादेकदलाभावेन गौण एवायं प्रहास इति कथयितुमिवशब्दः। लज्जामुत्पादयितुमिव विवेकमुत्पादयितुमर्जुनस्यानुचिताचरणं भगवता प्रकाश्यते। लज्जोत्पत्तिस्तु नान्तरीयकतयाऽस्तु माऽस्तु वेति न विवक्षितेति भावः।

(४) यदि हि युद्धारम्भात्प्रागेव गृहे स्थितो युद्धमुपेक्षेत तदा नानुचितं कुर्यात्। महता

करनेके लिये 'ह' शब्द है। 'गोविन्द' और 'हृषीकेश' इस सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्व को सूचित करनेवाले दो पदोंसे यह सूचित किया है कि भगवान्‌के लिये उसके मोहको दूर करना विना किसी प्रयासके ही सम्भव था ॥ ९ ॥

(१) इस प्रकार अर्जुनके युद्धकी उपेक्षा करनेपर भी भगवान्‌ने उनकी उपेक्षा नहीं की—यह बात धृतराष्ट्रकी दुराशाको दूर करनेके लिये सञ्जय कहता है—

[श्लोकार्थः—हे धृतराष्ट्र ! दोनों सेनाओंके बीचमें इस प्रकार विषादको प्राप्त हुए अर्जुनसे भगवान् हृषीकेशने हँसी-सी करते हुए यह बात कही ॥ १० ॥]

(२) युद्धके उद्देश्यसे दोनों सेनाओंके बीचमें आकर उसके विपरीत विषाद-मोह को प्राप्त होते हुए अर्जुनसे हँसी-सी करते हुए—उसके अनुचित आचरणको प्रकाशित करके उसे मानो लज्जाके समुद्रमें डुबाते हुए हृषीकेश—सर्वान्तर्यामी श्रीभगवान्‌ने ये अनुचित आचरणको प्रकाशित करनेवाले अत्यन्त गूढ़ अर्थसे भरे हुए 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' इत्यादि आगेके वचन कहे, अर्थात् उसकी उपेक्षा नहीं की।

(३) अनुचित आचरणके प्रकाशन द्वारा लज्जा उत्पन्न करना ही हँसी है और लज्जा दुःखरूप होती है, इसलिये वह प्रधानतया दुःखका विषय है। किन्तु अर्जुन तो भगवत्कृपाका पात्र है, इसलिये उसके अनुचित आचरणका प्रकाशन तो विवेककी उत्पत्ति का कारण है। अतः उसमें लज्जारूप एक अंशका अभाव होनेके कारण भगवान्‌का यह प्रहास गौण था—यह बतानेके लिये ही 'इव' शब्द दिया है। भगवान् लज्जा उत्पन्न करने के लिये किये जानेवाले प्रहासके समान ही विवेक उत्पन्न करनेके लिये अर्जुनके अनुचित आचरणको प्रकट करते हैं। अतः भाव यह है कि इसके साथ लज्जाकी उत्पत्ति भी हो अथवा न हो—वह भगवान्‌को अभीष्ट नहीं है।

(४) यदि युद्ध के आरम्भसे पूर्व घर रहने पर ही युद्ध की उपेक्षा कर देता तो

संरम्भेण तु युद्धभूमावागत्य तदुपेक्षणमतीवानुचितमिति कथयितुं सेनयोरित्यादिविशेषणम्। एतच्चाशोच्यानित्यादौ स्पष्टं भविष्यति ॥ १० ॥

(१) तत्रार्जुनस्य युद्धाख्ये स्वधर्मे स्वतो जाताऽपि प्रवृत्तिर्द्विविधेन मोहेन तन्निमित्तेन च शोकेन प्रतिबद्धेति द्विविधो मोहस्तस्य निराकरणीयः। तत्राऽऽत्मनि स्वप्रकाशपरमानन्दरूपे सर्वसंसारधर्मासंसर्गिणि स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयतत्कारणाविद्याख्योपाधित्रयाविवेकेन मिथ्याभूतस्यापि संसारस्य सत्यत्वात्मधर्मत्वादिप्रतिभासरूप एकः सर्वप्राणिसाधारणः। अपरस्तु युद्धाख्ये स्वधर्मे हिंसादिबाहुल्येनाधर्मत्वप्रतिभासरूपोऽर्जुनस्यैव करुणादिदोषनिबन्धनोऽसाधारणः। एवमुपाधित्रयविवेकेन शुद्धात्मस्वरूपबोधः प्रथमस्य निवर्तकः सर्वसाधारणः। द्वितीयस्य तु हिंसादिमत्त्वेऽपि युद्धस्य स्वधर्मत्वेनाधर्मत्वाभावबोधोऽसाधारणः। शोकस्य तु कारणनिवृत्त्यैव निवृत्तेर्न पृथक्साधनान्तरापेक्षेत्यभिप्रेत्य क्रमेण भ्रमद्वयमनुवदन्—

श्रीभगवानुवाच—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

(२) अशोच्याञ्शोचितुमयोग्यानेव भीष्मद्रोणादीनात्मसहितांस्त्वं पण्डितोऽपि सन्नन्वशोचोऽ-

---

कोई अनुचित बात नहीं थी, अब बड़े समारोह से रणभूमिमें आकर उसकी उपेक्षा करना तो बहुत अनुचित है—यह कहनेके लिये ही 'सेनयोरुभयोर्मध्ये' (दोनों सेनाओंके बीच में) यह विशेषण दिया है। यह बात 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' इत्यादि श्लोकमें स्पष्ट हो जायगी ॥ १० ॥

(१) यहाँ अर्जुनकी युद्धरूप स्वधर्ममें स्वभावसे उत्पन्न हुई प्रवृत्ति भी दो प्रकारके मोह और उसके कारण उत्पन्न हुए शोकसे रुक गयी थी, इसलिये उसके दो प्रकारके मोह का निराकरण करना आवश्यक है। उनमें पहला मोह जो सामान्यतया सभी प्राणियों में पाया जाता है, यह था कि जो आत्मा स्वयंप्रकाश, परमानन्दस्वरूप और संसारके सभी धर्मोंसे असंग है उसमें स्थूल-सूक्ष्म दो प्रकारके शरीर और इनकी कारणभूता अविद्या इन तीन उपाधियोंके अविवेकके कारण मिथ्याभूत संसारकी भी सत्यता और आत्मधर्मता आदि भासने लगे थे। दूसरा मोह युद्धरूप स्वधर्ममें हिंसादि की बहुलताके कारण अधर्मत्वका भाव होना था, जो असाधारण रूपसे करुणादि दोषोंके कारण अर्जुनको ही हुआ था। इस प्रकार तीनों उपाधियोंके विवेक द्वारा शुद्ध आत्मस्वरूपका बोध पहले मोह का निवर्तक है। जो सभी के लिये समान है और हिंसादियुक्त होने पर भी स्वधर्म होनेके कारण युद्ध में अधर्मत्वका अभाव बोध होना—यह दूसरे मोह की निवृत्तिका कारण है जो विशेष रूपसे अर्जुनसे ही सम्बद्ध है। शोक तो अपने कारणोंकी निवृत्तिसे ही दूर हो जायगा, इसलिये उसके लिये किन्हीं दूसरे साधनोंकी अपेक्षा नहीं है—इस अभिप्रायसे श्रीभगवान् क्रमशः उन दोनों भ्रमों का अनुवाद करते हुए कहते हैं—

[श्लोकार्थः—तुम जिनके लिये शोक करना उचित नहीं है उनके लिये शोक करते हो और बातें बड़े बुद्धिमानोंकी-सी कर रहे हो। किन्तु पण्डितजन तो मरने या जीनेवाले पुरुषोंके लिये शोक नहीं किया करते ॥ ११ ॥]

(२) 'मेरे लिये ये मर जायँगे और इनके विना मेरा राज्य-सुखादि से भी

नुशोचितवानसि ते म्रियन्ते मन्निमित्तमहं तैर्विनाभूतः किं करिष्यामि राज्यसुखादिनेत्येवमर्थकेन दृष्ट्वेमं स्वजनमित्यादिना । तथा चाशोच्ये शोच्यभ्रमः पश्वादिसाधारणस्तवात्यन्तपण्डितस्यानुचित इत्यर्थः । तथा कुतस्त्वा कश्मलमित्यादिना मद्वचनेनानुचितमिदमाचरितं मयेति विमर्शे प्राप्तेऽपि स्वं स्वयं प्रज्ञोऽपि सन्प्रज्ञानामवादान्प्रज्ञैर्वक्तुमनुचिताञ्शब्दांश्च कथं भीष्ममहं संख्ये इत्यादीन्भाषसे वदसि, न तु लज्जया तूष्णीं भवसि ।

(१) अतः परं किमनुचितमस्तीति सूचयितुं चकारः । तथाचाधर्मे धर्मत्वभ्रान्तिर्धर्मे चाधर्मत्वभ्रान्तिरसाधारणी तवातिपण्डितस्य नोचितेति भावः । प्रज्ञावतां पण्डितानां वादान्भाषसे परं न तु बुध्यस इति वा । भाषणापेक्षयाऽनुशोचनस्य प्राक्कालत्वादतीतत्वनिर्देशः । भाषणस्य तु तदुत्तरकालत्वेनाव्यवहितत्वाद्वर्तमानत्वनिर्देशः । छान्दसेन तिङ्व्यत्ययेनानुशोचसीति वर्तमानत्वं वा व्याख्येयम् ।

(२) ननु बन्धुविच्छेदे शोको नानुचितो वसिष्ठादिभिर्महाभागैरपि कृतत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—**गतासूनिति** । ये पण्डिता विचारजन्यात्मतत्त्वज्ञानवन्तस्ते गतप्राणानगतप्राणांश्च बन्धुत्वेन कल्पितान्

क्या प्रयोजन है' ऐसे अर्थवाले 'दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण' इत्यादि वाक्योंसे तुम बुद्धिमान् होकर भी अशोच्यशोक करनेके अयोग्य अपने सहित भीष्म-द्रोणादि के लिये निरन्तर शोक कर रहे हो । किन्तु यह अशोचनीयोंके विषयमें शोचनीयताका भ्रम पशु आदियोंमें भी सामान्यतया रहनेके कारण तुम जैसे महान् पण्डितके लिये अनुचित ही है—ऐसा इसका तात्पर्य है । तथा 'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्' इत्यादि मेरे वचनोंसे 'मुझसे यह अनुचित आचरण हुआ है' ऐसा विचार मिल जाने पर भी एवं स्वयं बड़े बुद्धिमान् होकर भी ये बुद्धिमानोंके अवाद अर्थात् बुद्धिमानोंके लिये जिन शब्दोंका बोलना अनुचित है, उन 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादि वाक्योंको बोल रहे हो; लज्जासे चुप भी तो नहीं रहते ।

(१) अब आगे क्या करना अनुचित है—यह सूचित करनेके लिये पूर्वार्धमें 'च' शब्द आया है । इस प्रकार इसका भाव यह है कि तुम जैसे महान् पण्डितके लिये अधर्म में धर्मत्वकी और धर्ममें अधर्मत्वकी असामान्य भ्रान्ति होनी उचित नहीं है । तुम प्रज्ञावान् अर्थात् पण्डितोंकी-सी बातें तो करते हो परन्तु समझते कुछ नहीं हो—इसलिये अथवा भाषणकी अपेक्षा भी अनुशोचन पहले हुआ है इसलिये 'अन्वशोचः' इसमें भूतकालिकताका निर्देश है । अथवा 'तिङ्' विभक्तिके फेरफारको छान्दस मानकर 'अन्वशोचः' की 'अन्वशोचति' इस प्रकार वर्तमानकालिक व्याख्या कर लेनी चाहिये ।

(२) 'किन्तु बन्धुओंका विछोह होने पर शोक करना तो अनुचित नहीं है, क्योंकि ऐसा तो वसिष्ठादि महाभागोंने भी किया था' ऐसी आशंका करके भगवान् कहते हैं—'गतासून्' इत्यादि । जो पण्डित अर्थात् विचारजन्य आत्मतत्त्वके ज्ञानसे युक्त हैं, वे

---

१. अयोध्या-पति कल्माषपादने राक्षस बनकर वसिष्ठके एक सौ पुत्र खा डाले थे । वंश-विनाश के महान् शोकसे व्याकुल होकर महर्षि वसिष्ठ डूब मरनेके लिए नदीमें कूद पड़े । कूदनेसे पूर्व उन्होंने अपनेको रस्सीसे बाँध लिया था । नदीमें कूदने पर उनके बन्धन (पाश) खुल गये और वे डूबे नहीं, अतः उस नदीका नाम पड़ा विपाशा (आजकल उसे व्यासा कहते हैं) । तदनन्तर हैमवती नदीमें कूद पड़े । कूदते ही नदीने अपनेको शतधा (सैकड़ों) धाराओंमें बाँट दिया, जिससे महर्षि बच गये । उस समयसे उस नदीका नाम शतद्रु (आजका सतलज) पड़ा ।

देहान्नानुशोचन्ति । एते मृताः सर्वोपकरणपरित्यागेन गताः किं कुर्वन्ति क्व तिष्ठन्ति एते च जीवन्तो बन्धुविच्छेदेन कथं जीविष्यन्तीति न व्यामुह्यन्ति, समाधिसमये तत्प्रतिभासाभावात् । व्युत्थानसमये तत्प्रतिभासेऽपि मृषात्वेन निश्चयात् । न हि रज्जुतत्त्वसाक्षात्कारेण सर्पभ्रमेऽपनीते तन्निमित्तभयकम्पादि सम्भवति, न वा पित्तोपहतेन्द्रियस्य कदाचिद्गुडे तिक्तताप्रतिभासेऽपि तिक्तार्थितया तत्र प्रवृत्तिः सम्भवति मधुरत्वनिश्चयस्य बलवत्त्वात् । एवमात्मस्वरूपाज्ञाननिबन्धनत्वाच्छोच्यभ्रमस्य तत्स्वरूपज्ञानेन तदज्ञानेऽपनीते तत्कार्यभूतः शोच्यभ्रमः कथमवतिष्ठेतेति भावः । वसिष्ठादीनां तु प्रारब्धकर्मप्राबल्यात्तथा तथाऽनुकरणं न शिष्टाचारतयाऽन्येषामनुष्ठेयतामापादयति, शिष्टैर्धर्मबुद्धयाऽनुष्ठीयमानस्यालौकिकव्यवहारस्यैव तदाचारत्वात्, अन्यथा निष्ठीवनादेरप्यनुष्ठानप्रसङ्गादिति द्रष्टव्यम् । यस्मादेवं तस्मात्त्वमपि पण्डितो भूत्वा शोकं मा कार्षीरित्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

(१) न त्वेवेत्याद्येकोनविंशतिश्लोकैरशोच्यानन्वशोचस्त्वमित्येतस्य विवरणं क्रियते । स्वधर्ममपि चावेक्ष्येत्याद्यष्टभिः श्लोकैः प्रज्ञावादांश्च भाषस इत्यस्य मोहद्वयस्य पृथक्प्रयत्ननिराकर्तव्यत्वात् । तत्र स्थूलशरीरादात्मानं विवेक्तुं नित्यत्वं साधयति—

न त्वेवाहं जातु नाऽऽसं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।

बन्धुरूपसे कल्पित मरे हुए अथवा जीवित रहनेवाले शरीरोंके लिये शोक नहीं करते । 'ये मरे हुये प्राणी अपनी सारी सामग्री यहीं छोड़कर गये हैं, ये क्या करेंगे और कहाँ रहेंगे ? तथा ये जीवित बचे हुए पुरुष अपने बन्धुओंसे बिछुड़कर अब कैसे जीवन धारण करेंगे ? इस प्रकारके मोह में वे नहीं फँसते, क्योंकि समाधिके समय तो इनका भान ही नहीं होता और व्युत्थानके समय भान होने पर भी इनका मिथ्यारूपसे निश्चय रहता है । रज्जुतत्त्वका साक्षात्कार होने पर भी सर्प-भ्रमकी निवृत्ति हो जाने पर उसके कारण भयकम्पादि होने सम्भव नहीं हैं । इसी प्रकार पित्तदोषसे रसनेन्द्रिय बिगड़ जाने पर यदि कभी गुड़में तीखापन जान पड़ता है तो तीखे स्वादकी इच्छासे उसमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें मधुरता होनेका निश्चय ही अधिक बलवान् है । भाव यह है कि इस प्रकार शोचनीयताका भ्रम तो आत्मस्वरूपके अज्ञानके ही कारण है, उसके स्वरूप का ज्ञान होनेसे जब अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है तो उसका कार्यभूत वह शोचनीयताका भ्रम ठहर कैसे सकता है ? वसिष्ठादिने जो प्रारब्धकर्मकी प्रबलताके कारण उस-उस प्रकारका अनुकरण किया वह दूसरोंके लिये शिष्ट व्यवहारकी तरह कर्तव्य नहीं हो सकता । उनका आचरण तो शिष्टपुरुषों द्वारा धर्मबुद्धिसे किया हुआ अलौकिक व्यवहार ही हो सकता है, नहीं तो समझ लेना चाहिये कि उनकी तरह थूकने आदिकी क्रियायें करनेका भी प्रसंग उपस्थित होगा । जब कि ऐसी बात है तब तुम भी बुद्धिमान् होकर शोक मत करो ॥ ११ ॥

(१) 'नत्वेवाहम्' इत्यादि उन्नीस श्लोकोंसे 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' इत्यादि श्लोकका ही विस्तार किया है, फिर 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' इत्यादि आठ श्लोकोंसे 'प्रज्ञावादांश्च भाषसे' इस वाक्यका विवरण किया है, क्योंकि उक्त दो प्रकारके मोहका निराकरण अलग-अलग उपायोंसे ही हो सकता है । अब स्थूल शरीरसे आत्माका विवेक करने के लिये उसकी नित्यता सिद्ध करते हैं—

[श्लोकार्थः—मैं किसी समय नहीं था—ऐसी बात नहीं है, तुम और ये राजा

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

(१) तुशब्दो देहादिभ्यो व्यतिरेकं सूचयति—यथाऽहमितः पूर्वं जातु कदाचिदपि नाऽऽसमिति नैवापि तु आसमेव तथा त्वमप्यासीः। इमे जनाधिपाश्चाऽऽसन्नेव। एतेन प्रागभावाप्रतियोगित्वं दर्शितम्। तथा सर्वे वयमहं त्वमिमे जनाधिपाश्चातः परं न भविष्याम इति न, अपि तु भविष्याम एवेति ध्वंसाप्रतियोगित्वमुक्तम्। अतः कालत्रयेऽपि सत्तायोगित्वादात्मनो नित्यत्वेनानित्याद्देहाद्वैलक्षण्यं सिद्धमित्यर्थः ॥ १२ ॥

(२) ननु देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति लोकायतिकाः। तथा च स्थूलोऽहं गौरोऽहं गच्छामि चेत्यादिप्रत्यक्षप्रतीतीनां प्रामाण्यमनपोहितं भविष्यति। अतः कथं देहादात्मनो व्यतिरेको व्यतिरेकेऽपि कथं वा जन्मविनाशशून्यत्वं जातो देवदत्तो मृतो देवदत्त इति प्रतीतेर्देहजन्मनाशाभ्यां सहाऽऽत्मनोऽपि जन्मविनाशोपपत्तेरित्याशङ्क्याऽऽह—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

(३) देहाः सर्वे भूतभविष्यद्वर्तमाना जगन्मण्डलवर्तिनोऽस्य सन्तीति देही। एकस्यैव विभुत्वेन सर्वदेहयोगित्वात्सर्वत्र चेष्टोपपत्तेर्न प्रतिदेहमात्मभेदे प्रमाणमस्तीति सूचयितुमेकवचनम्। सर्वे वयमिति बहुवचनं तु पूर्वत्र देहभेदानुवृत्त्या न त्वात्मभेदाभिप्रायेणेति न दोषः।

लोग किसी समय नहीं थे—ऐसा भी नहीं है और अब आगे हम सब नहीं रहेंगे—यह बात भी नहीं है ॥ १२ ॥]

(१) 'तु' शब्द देहादिसे आत्माकी भिन्नता सूचित करता है। जिस प्रकार अबसे पूर्व किसी समय मैं नहीं था—ऐसी बात नहीं है, अपि तु था ही, उसी प्रकार तुम भी थे और ये राजा लोग भी थे। इससे भगवान्‌ने आत्मामें प्रागभावकी अप्रतियोगिता दिखायी है। इसी प्रकार मैं, तू और ये राजालोग हम सबके सब इस समयसे आगे भी कभी नहीं रहेंगे—ऐसी बात नहीं है, अपि तु रहेंगे ही—इससे भगवान्‌ने आत्मामें प्रध्वंसाभावकी अप्रतियोगिता दिखायी है। अतः तात्पर्य यह है कि तीनों कालोंमें सत्तासे सम्बन्ध रखने वाला होनेसे आत्मा नित्य है, इसलिये अनित्य शरीरसे उसकी पृथक्ता सिद्ध होती है॥१२॥

(२) 'किन्तु लोकायतिकोंका तो मत है कि चैतन्य-विशिष्ट शरीर ही आत्मा है। ऐसा होने पर ही 'मैं स्थूल हूँ, गोरा हूँ, जाता हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रतीतियोंकी प्रामाणिकता अबाधित रह सकेगी। इसलिये देह और आत्माका पार्थक्य कैसे हो सकता है तथा पार्थक्य होने पर भी उसकी जन्म-मरणहीनता कैसे सिद्ध हो सकती है, क्योंकि 'देवदत्त उत्पन्न हुआ' 'देवदत्त मर गया' इन प्रतीतियोंसे देहके जन्म और नाशके साथ आत्माके जन्म और नाश भी उचित ही ठहरते हैं'—ऐसी अर्जुनकी ओरसे आशंका करके भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थः—जिस प्रकार देहधारी आत्माको इस देह में कुमार, युवा और वृद्ध अवस्थाएँ प्राप्त होती रहती हैं, उसी प्रकार उसे दूसरे देहकी भी प्राप्ति हो जाती है। धीर पुरुष इससे मोहमें नहीं पड़ता ॥ १३ ॥]

(३) विश्वमण्डलमें विद्यमान सारे भूत, भविष्यत् और वर्तमान देह इस आत्माके ही हैं, इसलिये यह देही है। विभु होनेके कारण एक ही आत्माका समस्त देहोंसे सम्बन्ध होनेसे सभीकी चेष्टा हो सकती है, इसलिये प्रत्येक देहमें आत्माकी भिन्नता होनेमें कोई

(१) तस्य देहिन एकस्यैव सतोऽस्मिन्वर्तमाने देहे यथा कौमारं यौवनं जरेत्यवस्थात्रयं परस्परविरुद्धं भवति न तु तद्भेदेनाऽऽत्मभेदः, स एवाहं बाल्ये पितरावन्वभूवं स एवाहं वार्धके प्रणष्टानुभवामीति दृढतरप्रत्यभिज्ञानादन्यनिष्ठसंस्कारस्य[2] चान्यत्रानुसन्धानाजनकत्वात्, तथा तेनैव

प्रमाण नहीं है—यह सूचित करनेके लिये ही 'देहिनः' इस पदमें एकवचन है। 'सर्वे वयम्' यहाँ जो बहुवचन है वह पूर्वोक्त देहभेदकी अनुवृत्तिसे है, आत्मभेदके अभिप्राय से नहीं, इसलिये इसमें कोई दोष नहीं है।

(१) उस देहीकी, एक होने पर भी, जिस प्रकार इस वर्तमान देहमें ही कौमार, यौवन और जरा—ये परस्पर विरुद्ध तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं, किन्तु इनकी विभिन्नता से आत्माओंका भेद नहीं होता, क्योंकि 'जिस मैंने बाल्यकालमें माता-पिताका अनुभव किया था वही मैं अब वृद्धावस्थामें परपोतोंका अनुभव करता हूँ'—ऐसी सुदृढ़ प्रत्यभिज्ञा होती है तथा एक व्यक्तिमें रहनेवाले संस्कार किसी दूसरे व्यक्तिमें अपनी स्मृति पैदा नहीं कर सकते उसी प्रकार नित्य अविकारी ही रहनेवाले आत्माको देहान्तर-प्राप्ति—इस शरीर से सर्वथा भिन्न देहकी प्राप्ति होती है, क्योंकि स्वप्न और योग-सिद्धिके समय उनसे प्राप्त होनेवाले देहभेदकी स्मृति रहने पर भी 'मैं वही हूँ' ऐसी ही प्रत्यभिज्ञा होती है। ऐसी स्थितिमें यदि देह ही आत्मा होता तो कौमार आदि अवस्थाओंके भेदसे शरीरमें भी विभिन्नता हो जानेके कारण इस प्रकारका अनुभव नहीं हो सकता था। यदि कहो कि

१. एकत्वका-अनुसन्धान।

२. सन्तानात्मवादी बौद्धों का कहना है कि दूरसे देखने पर दूर की वृक्ष-पंक्ति मिली हुई प्रतीत होती है, समीप जाने पर वृक्ष पृथक्-पृथक् दिखलाई देते हैं। कागज पर स्याही की एक लकीर जो प्रतीत होती है, वह वस्तुतः अनेक निरन्तरोत्पन्न बिन्दुओंकी वीथी या सन्तति है। दीपक की शिखा एक स्थिर प्रतीत होती है, किन्तु है वह अनेक प्रकाशोंकी सन्तति या धारा। ठीक इसी प्रकार शरीरके अन्दर जो एक आत्मा अनुभूत होता है, वह भी एक नहीं, अपितु अने कचित्तक्षणोंकी अविरल सन्तति है। प्रत्येक चित्तक्षण विनष्ट होता हुआ अपने समान दूसरे चित्तक्षणको जन्म दे देता है, दूसरा तीसरेको, तीसरा चौथेको। यह धारा केवल एक ही शरीरमें प्रवाहित नहीं रहती, अपितु अनन्त शरीरोंमें निरन्तर प्रवाहित रहती है। जब एक शरीरका चित्तक्षण शान्त होता हुआ दूसरे शरीरमें चित्तक्षणको जन्म देता है, तब वहाँ च्युति और उपपत्ति या मरण-जननका व्यवहार होता है। जैसे दूध अपने समानरूपके दधिको जन्म देता है, वैसे ही चित्तक्षण भी अपने समान संस्कारों वाले दूसरे चित्तक्षणको जन्म देते हैं, अतः उसमें स्थिरत्व और एकत्वकी अनुभूति होती है। नदी में जल-धारा प्रवाहित है, हम खड़े डुबकियाँ लगाते हैं, प्रतीत होता है कि हम एक ही स्थिर जलराशिमें डुबकियाँ लगा रहे हैं। वस्तुस्थिति यह नहीं, हमारी प्रत्येक डुबकी भिन्न-भिन्न जलराशिमें होती है। इस प्रकार चित्तसन्ततिको छोड़कर आत्मा नामकी कोई वस्तु नहीं।

इस बौद्ध सिद्धान्तका निराकरण करनेके लिए श्री मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि दूसरे चित्तक्षणके संस्कारोंसे दूसरे चित्तक्षणमें स्मृतिज्ञान उत्पन्न कैसे होगा? देवदत्तके संस्कारोंसे यज्ञदत्तमें स्मृति नहीं होती। अतः चित्तक्षणोंकी सन्ततिसे भिन्न एक स्थिर आत्मा है, जो अनेक शरीरोंमें अपनी एकताकी अबाध अनुभूति करता है—एक ही जीवनमें बाल्यादि अवस्थाओंके शरीर बदलते हैं, स्वप्नमें अनेक शरीर मिलते हैं, योग-शक्तिसे योगी अपने अनेक शरीर बना लेता है। किन्तु सभी शरीरोंमें आत्माको अपनी एकताका प्रत्यभिज्ञान बराबर होता रहता है।

प्रकारेणाविकृतस्यैव सत आत्मनो देहान्तरप्राप्तिरेतस्मादेहादत्यन्तविलक्षणदेहप्राप्तिः स्वप्ने योगैश्वर्ये च तद्देहभेदानुसन्धानेऽपि स एवाहमिति प्रत्यभिज्ञानात्। तथा च यदि देह एवाऽऽत्मा भवेत्तदा कौमारादिभेदेन देहे भिद्यमाने प्रतिसन्धानं न स्यात्। अथ तु कौमाराद्यवस्थानामत्यन्तवैलक्षण्येऽप्यवस्थावतो देहस्य यावत्प्रत्यभिज्ञं वस्तुस्थितिरिति न्यायेनैक्यं ब्रूयात्तदाऽपि स्वप्नयोगैश्वर्ययोर्देहधर्मिभेदे प्रतिसन्धानं न स्यादित्युभयोदाहरणम्। अतो मरुमरीचिकादावुदकादिबुद्धेरिव स्थूलोऽहमित्यादिबुद्धेरपि भ्रमत्वमवश्यमभ्युपेयं बाधस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्। एतच्च न जायत इत्यादौ प्रपञ्चयिष्यते। एतेन देहाद्व्यतिरिक्तो देहेन सहोत्पद्यते विनश्यति चेति पक्षोऽपि प्रत्युक्तः। तत्रावस्थाभेदे प्रत्यभिज्ञोपपत्तावपि धर्मिणो देहस्य भेदे प्रत्यभिज्ञानुपपत्तेः।

(१) अथवा यथा कौमाराद्यवस्थाप्राप्तिरविकृतस्याऽऽत्मन एकस्यैव तथा देहान्तरप्राप्तिरेतस्मादेहादुत्क्रान्तौ। तत्र स एवाहमितिप्रत्यभिज्ञानाभावेऽपि जातमात्रस्य हर्षशोकभयादिसम्प्रतिपत्तेः पूर्वसंस्कारजन्याया दर्शनात्। अन्यथा स्तन्यपानादौ प्रवृत्तिर्न स्यात्तस्या[1] इष्टसाधनतादिज्ञानज-

'जब तक प्रत्यभिज्ञा होती है तब तक एक वस्तुकी स्थिति रहती है' इस न्यायसे कौमार आदि अवस्थाओंका अत्यन्त भेद रहने पर भी अवस्थावान् देहकी एकता ही रहती है तो उस स्थितिमें भी स्वप्न और योगसिद्धिसे प्राप्त होनेवाले देहरूपी धर्मियोंके भिन्न होनेपर तो ऐसा अनुसन्धान होना ही नहीं चाहिये था, इसीसे ये दो उदाहरण दिये हैं। अतः मरुमरीचिकादिमें जलादिबुद्धिके समान 'मैं स्थूल हूँ' ऐसी बुद्धिकी भ्रमरूपता भी अवश्य समझनी चाहिये, क्योंकि इन दोनों ही स्थितियोंमें समानरूपसे इन बुद्धियोंका बाध हो जाता है। इसका विशेष विस्तार 'न जायते' इत्यादि श्लोककी टीकामें किया जायगा। इससे 'आत्मा देहसे भिन्न है, किन्तु वह देहके साथ ही उत्पन्न और नष्ट होता है' इस पक्षका भी निराकरण कर दिया, क्योंकि उस स्थितिमें कौमार आदि अवस्थाओं का भेद होने पर आत्माके एकत्वका अनुसन्धान हो सकने पर भी धर्मी देहका भेद होने पर तो उसकी एकताका अनुसन्धान हो नहीं सकेगा।

(१) अथवा यों समझना चाहिये कि जिस प्रकार एक ही अविकारी आत्माको कौमार आदि अवस्थाओंकी प्राप्ति होती है उसी प्रकार इस देहसे उत्क्रमण करनेपर उसे दूसरे देहकी भी प्राप्ति हो जाती है। वहाँ 'मैं वही हूँ' ऐसी प्रत्यभिज्ञा न होनेपर भी उत्पन्न होते ही पूर्वसंस्कारजनित हर्ष, शोक एवं भय आदिकी प्राप्ति तो देखी ही जाती है; अन्यथा उनकी स्तन-पानादिमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती थी, क्योंकि उस प्रवृत्तिका इष्टसाधनतादिके ज्ञानसे तथा केवल अदृष्टसे ही उत्पन्न होना माना गया है। इस प्रकार भी पहले और पिछले शरीरके आत्माकी एकता ही सिद्ध होती है, नहीं तो कृतनाश और अकृता-

१. गौ का बच्चा जंगलमें पैदा होते ही अपनी माताके स्तन खोजने लगता है, पाते ही पीने लग जाता है। यह उसे किसने सिखाया? वह एक सिखे-सिखाये प्राणीके समान स्तनोंसे दूध खींचने क्यों लगा? स्तन काटने क्यों नहीं लगा? इस जन्ममें तो उसे अभी सीखनेका अवसर नहीं मिला। ज्ञात होता है कि वह अपने साथ अपने पूर्व जन्मके संस्कार लाया है, वे ही संस्कार उसे प्रेरणा दे रहे हैं। जब तक किसी प्राणीको यह ज्ञान न हो कि अमुक वस्तु हमारे अभीष्ट (जीवन आदि) का साधन है, तब तक वह उस वस्तुकी ओर अग्रसर नहीं होता। अतः कहना होगा कि उस बच्चेके शरीर का आत्मा अपने पूर्व जीवनमें था और वहीं से वह इष्ट साधनताज्ञानके संस्कार और अदृष्टोंका संचय कर लाया है, जो उसे यहाँ प्रवृत्त कर रहे हैं।

न्यत्वस्याद्दष्टमात्रजन्यत्वस्य चाभ्युपगमात्। तथा च पूर्वापरदेहयोरात्मैक्यसिद्धिः, अन्यथा कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गादित्यन्यत्र विस्तरः। कृतयोः पुण्यपापयोर्भोगमन्तरेण नाशः कृतनाशः। अकृतयोः पुण्यपापयोरकस्मात्फलदातृत्वमकृताभ्यागमः।

(१) अथवा देहिन एकस्यैव तव यथा क्रमेण देहावस्थोत्पत्तिविनाशयोर्न भेदो नित्यत्वात्तथा युगपत्सर्वदेहान्तरप्राप्तिरपि तवैकस्यैव विभुत्वात्, मध्यमपरिमाणत्वे सावयवत्वेन नित्यत्वायोगात्, अणुत्वे सकलदेहव्यापिसुखाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गात्, विभुत्वे निश्चिते सर्वत्र दृष्टकार्यत्वात्सर्वशरीरेष्वेक एवाऽऽत्मा त्वमिति निश्चितोऽर्थः।

(२) तत्रैवं सति वध्यघातकभेदकल्पनया त्वमधीरत्वान्मुह्यसि धीरस्तु विद्वान्न मुह्यति अहमेषां हन्तैते मम वध्या इति भेददर्शनाभावात्। तथा च विवादगोचरापन्नाः सर्वे देहा एकभोक्तृका देहत्वात्त्वद्देहवदिति। श्रुतिरपि—'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वेता० ६।११) इत्यादि। एतेन यदाहुर्देहमात्रमात्मेति[1] चार्वाकाः, इन्द्रियाणि मनः प्राणश्चेति तदेकदेशिनः,

भ्यागमकी प्राप्तिका प्रसंग होगा। इस विषयका विशेष विस्तार भाष्य-भारती आदि ग्रन्थोंमें किया गया है। किये हुए पुण्य-पापोंका भोगके बिना ही नाश हो जाना 'कृतनाश' है तथा बिना किये हुए पुण्य-पापोंका अकस्मात् फल दे देना 'अकृताभ्यागम'।

(१ अथवा जिस प्रकार तुम एक ही देहीमें, नित्य होनेके कारण, क्रमशः देहकी अवस्थाओंके उत्पत्ति और नाशसे कोई भेद नहीं होता उसी प्रकार विभु होनेके कारण तुझ एकको ही एक साथ समस्त देहान्तरोंकी भी प्राप्ति है। यदि तुझे मध्यम (देहके बराबर) परिमाणवाला मानें तो सावयव होनेके कारण तेरी नित्यता सम्भव नहीं है और अणु मानें तो सकल शरीरमें व्याप्त सुख आदिकी उपलब्धि न होनेका प्रसंग उपस्थित होगा। अतः विभुत्व निश्चय होनेसे और सर्वत्र तेरा कार्य देखा जानेसे समस्त शरीरोंमें तू एक ही आत्मा है—यह निश्चित बात है।

(२) तब ऐसी स्थितिमें अधीर होनेके कारण मरने और मारनेवालेके भेदकी कल्पना करके तू ही मोहको प्राप्त होता है, कोई धीर विद्वान् तो होता नहीं है, क्योंकि उसे 'मैं इन्हें मारनेवाला हूँ और ये मेरे वध्य हैं, ऐसी भेददृष्टि नहीं होती। अतः विवादके विषयभूत समस्त देह एक ही भोक्तावाले हैं, देह होनेके कारण, तेरे देहके समान। श्रुति भी कहती है—'एक ही देव समस्त भूतोंमें छिपा हुआ है, वह सर्वव्यापी है और समस्त भूतोंका अन्तरात्मा है' इत्यादि। इससे चार्वाकोंका जो कथन है कि 'देह ही आत्मा है', चार्वाकोंमें ही एकदेशी जो कहते हैं कि 'इन्द्रिय मन और प्राण

१. कोई ऐसा भारतीय दर्शन नहीं, जिसने चार्वाकोंके साथ दो-दो हाथ न किये हों। वैदिक कालसे लेकर आज तक इनकी गूँज बराबर सुनी जाती रही है। 'चार्वाक' शब्द का अर्थ होता है—(चारुः = लोकसुखावहः, वाक् = वचनं यस्य) जनसाधारणके रुचिकर वचन बोलनेवाला। इस मतके आदिम आचार्य बृहस्पति माने जाते हैं। बृहस्पतिके सूत्र यत्र-तत्र उद्धृत हुए हैं। श्रीमधुसूदन सरस्वतीने भी (गी० १६।११ में) 'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः' 'काम एवैकः पुरुषार्थः' आदि सूत्रोंको बार्हस्पत्य (बृहस्पति-रचित) कहा है। अतः जाना जाता है कि बृहस्पति-रचित कोई सूत्रग्रन्थ अवश्य था। उसमें पूर्णतया इस मतका प्रतिपादन था और वह किसी समय अधिक लोकप्रिय भी हो गया था, जिससे उसे लोकायत (लोकमें विस्तृत) भी कहते थे। चार्वाकोंमें कई भेद थे। कुछ लोग शरीरको ही आत्मा मानते थे, कुछ इन्द्रियोंको, कुछ प्राणोंको और कुछ लोग मन को।

क्षणिकं विज्ञानमिति सौगताः,[1] देहातिरिक्तः स्थिरो देहपरिमाण इति दिगम्बराः, मध्यमपरिमाणस्य नित्यत्वानुपपत्तेर्नित्योऽणुरित्येकदेशिनः, तत्सर्वमपाकृतं भवति नित्यत्वविभुत्वस्थापनात् ॥ १३ ॥

(१) नन्वात्मनो नित्यत्वे विभुत्वे च न विवदामः प्रतिदेहमेकत्वं तु न सहामहे, तथाहि—बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाख्यनवविशेषगुणवन्तः प्रतिदेहं भिन्ना एव नित्या विभवश्चाऽऽत्मान इति वैशेषिका मन्यन्ते। इममेव च पक्षं तार्किकमीमांसकादयोऽपि प्रतिपन्नाः। सांख्यास्तु विप्रतिपद्यमाना अप्यात्मनो गुणवत्त्वे प्रतिदेहं भेदे न विप्रतिपद्यन्तेऽन्यथा सुखदुःखादिसंकरप्रसङ्गात्। तथा च भीष्मादिभिन्नस्य मम नित्यत्वे विभुत्वेऽपि सुखदुःखादियोगित्वाद्भीष्मादिबन्धुदेहविच्छेदे सुखवियोगो दुःखसंयोगश्च स्यादिति शोकमोहौ नानुचिताविति अर्जुनाभिप्रायमाशङ्क्य लिङ्गशरीरविवेकायाऽऽह—

आत्मा है' बौद्धोंका जो मत है कि 'क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है' जैनोंका कथन है कि 'देहसे भिन्न, स्थिर और देह ही के बराबर आकारवाला आत्मा है' तथा उन्हींके एकदेशियोंका जो सिद्धान्त है कि 'मध्यम-परिमाण आत्माका नित्य होना असम्भव है, इसलिए वह नित्य और अणु है' उन सभीका आत्माके नित्यत्व और विभुत्वकी सिद्धि करके निराकरण कर दिया गया ॥ १३ ॥

(१) 'आत्माके नित्यत्व और विभुत्वके विषयमें तो हमारा विवाद नहीं है, किन्तु प्रत्येक शरीरमें समानरूपसे वह एक ही विद्यमान है—यह हमें सहन नहीं होता। वैशेषिक-गण आत्माको बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना-संज्ञक नौ विशेष गुणवाला, नित्य और विभु मानते हैं। इसी पक्षको नैयायिक और मीमांसक आदि भी मानते हैं। सांख्यवादियोंका गुणवान् होनेमें इनसे मतभेद होनेपर भी आत्माके प्रत्येक शरीरमें भिन्न माननेमें कोई विरोध नहीं है, नहीं तो समस्त आत्माओंके सुख-दुःखादिका आपसमें घोटाला होनेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा। इस प्रकार भीष्मादिसे भिन्न मैं यद्यपि नित्य और विभु भी हूँ तो भी सुख-दुःखसे सम्बन्धवाला होनेके कारण भीष्मादि बन्धुओंके देहका विछोह होनेपर मुझे सुखका विछोह और दुःखका संयोग कैसे न होगा ? अतः मेरे शोक और मोह अनुचित नहीं हैं' ऐसा अर्जुनका अभिप्राय विचारकर भगवान् लिंगदेहके विवेकके लिये कहने लगे—

१. सुगत नाम है—बुद्धका। उनका (शोभनं गतं = ज्ञानं यस्य) ज्ञान समीचीन है। धर्मकीर्तिने सुगतत्वकी परिभाषा इस प्रकार की है—

हेतोः प्रहाणं त्रिगुणं सुगतत्वमनिःश्रयात्।
दुःखस्य शस्त्रं नैरात्म्यदृष्टेः तद्युक्तितोऽपि वा ॥ ॥ (प्र० वा० २।१४०)

अर्थात् दुःख और दुःखके कारणोंकी कक्षासे निर्गत हो जानेका नाम सुगतत्व है। कुछ भी हो, 'सुगत' बुद्धकी संज्ञा है। उनके अनुयायी 'सौगत' कहलाते हैं। उनमें क्षणिकविज्ञानवादियोंका वर्ग क्षणिकविज्ञानसे अतिरिक्त आत्माकी सत्ता नहीं मानता। प्रत्येक व्यक्ति जो अपने शरीर तथा आत्माका अनुभव करता है, वह सब विज्ञानमें वैसे ही कल्पित है, जैसे आकाशमें गन्धर्व नगर। वसुबन्धुने कहा है—

आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते।
विज्ञानपरिणामोऽसौ परिणामः स च त्रिधा ॥ (त्रिंशिका)

अर्थात् आत्मा और देह, इन्द्रिय आदिका यह जो विविध (उपचार) काल्पनिक व्यवहार देखनेमें आता है, वह सब एक विज्ञानका परिणाम है, वह परिणाम तीन प्रकारका होता है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

(१) मीयन्त आभिर्विषया इति मात्रा इन्द्रियाणि तासां स्पर्शा विषयैः संबन्धास्तत्तद्विषयाकारान्तःकरणपरिणामा वा। त आगमापायिन उत्पत्तिविनाशवतोऽन्तःकरणस्यैव शीतोष्णादिद्वारा सुखदुःखदा, ननु नित्यस्य विभोरात्मनः; तस्य निर्गुणत्वान्निर्विकारत्वाच्च। न हि[1] नित्यस्या-

[श्लोकार्थः—कुन्तिनन्दन ! इन्द्रियोंके जो विषयोंसे सम्बन्ध हैं वे उत्पत्ति और नाशवाले, सर्दी-गर्मी द्वारा सुख-दुःख देनेवाले एवं अनित्य हैं। हे भारत ! तुम उन्हें सहन करो ॥ १४ ॥]

(१) इनसे विषयोंका मान (ज्ञान) होता है, इसलिये इन्द्रियाँ 'मात्रा' कहलाती हैं। उनके स्पर्श = विषयोंसे सम्बन्ध अथवा भिन्न-भिन्न विषयोंके आकारवाले अन्तःकरणके परिणाम—ये आगमापायी अर्थात् उत्पत्ति और नाशवाले हैं तथा सर्दी-गर्मी द्वारा अन्तःकरणको ही सुख-दुःख देनेवाले हैं, नित्य और विभु आत्माको नहीं; क्योंकि वह तो निर्गुण और निराकार है। [तुम जो आत्माको सुख-दुःखादि गुणवान् बताते हो, सो] नित्यवस्तुको अनित्य धर्मोंकी आश्रयता होनी सम्भव नहीं है; क्योंकि धर्म और धर्मीका अभेद होनेके कारण उनका और कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता। तथा साक्ष्य साक्षीका

१. यद्यपि तार्किक नित्य आकाशमें अनित्य शब्दके समान नित्य जीवमें ज्ञान, इच्छा आदि अनित्य धर्म मानते हैं, तथापि वेदान्त ग्रन्थोंमें उनका प्रचुर खण्डन किया गया है। श्रीसुरेश्वराचार्यने स्वयं सन्देह उठाया है—

ननु प्रत्यक्षमानेन साक्षाद् दुःखादिदर्शने।
प्रत्यक्षबाधसिद्धयर्थं न न्याय्योक्तिपरम्परा ॥ (बृह० वा० १।४।५५८)

अर्थात् 'अहं सुखी, अहं दुःखी'—आदि प्रत्यक्ष प्रमाणोंके आधारपर आत्मामें सुख-दुःख आदि अनित्य धर्म सिद्ध होते हैं। अतः प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित होनेके कारण 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः', 'न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' आदि शास्त्र न्याय्य (उचित या प्रमाण) नहीं ठहराये जा सकते। इस सन्देहका निराकरण करते हुए समझाया गया है—

नोपाध्याश्रयजनित-विशेषविषयत्वतः।
प्रत्यक्षाभासतासिद्धेः तेन नोक्तिविरोधिता ॥
दुःखी यदि भवेदात्मा कः साक्षी दुःखिनो भवेत्।
दुःखिनः साक्षिताऽयुक्ता साक्षिणो दुःखिता तथा ॥ (बृह० वा० १।४।५५९, ६०)

अर्थात् 'अहं दुःखी' आदिके आधारपर आत्मामें दुःख सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त अनुभव अन्तःकरणरूप उपाधिगत आभासमें दुःखादिको बता रहा है, न कि आत्मामें, अतः आत्माको निर्लिप्त सिद्ध करनेवाले आगम प्रमाणोंका उक्त प्रत्यक्षाभाससे बाध नहीं किया जा सकता। यदि आत्माको दुःखी मान लें, तब उस दुःखका साक्षी कौन होगा ? कोई दुःखी साक्षी बन नहीं सकता, उसी प्रकार साक्षीमें दुःख नहीं बनता। आशय यह है कि यदि दुःख आदि अनित्य धर्म आत्मामें मान भी लिए जायँ, तब उन धर्मोंसे धर्मी (आत्मा) का सम्बन्ध क्या ठहराया जायगा ? वैशेषिकोंका समवाय सम्बन्ध तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि वैशेषिक उसे नित्य मानते हैं और वेदान्त-सिद्धान्तमें ब्रह्मसे भिन्न कोई वस्तु नित्य नहीं। सम्बन्ध अपने सम्बन्धियोंकी गतिविधिपर आश्रित होता है। समवाय

नित्यधर्माश्रयत्वं संभवति धर्मधर्मिणोरभेदात्संबन्धान्तरानुपपत्तेः साक्ष्यस्य साक्षिधर्मत्वानुपपत्तेश्च । तदुक्तम्—

'नर्ते स्याद्विक्रियां दुःखी साक्षिता का विकारिणः ।
धीविक्रियासहस्राणां साक्ष्यतोऽहमविक्रियः' इति ॥ (बृह० वा० ११४।५६१)

(१) तथा च सुखदुःखाद्याश्रयीभूतान्तःकरणभेदादेव सर्वव्यवस्थोपपत्तेर्न निर्विकारस्य सर्वभासकस्याऽऽत्मनो भेदे मानमस्ति, सद्रूपेण च सर्वत्रानुगमात् । अन्तःकरणस्य तावत्सुखदुःखादौ जनकत्वमुभयवादिसिद्धम् । तत्र समवायिकारणत्वस्यैवाभ्यर्हितत्वात्तदेव कल्पयितुमुचितं न तु समवायिकारणान्तरानुपस्थितौ निमित्तत्वमात्रम् । तथा च 'कामः संकल्पः' इत्यादिश्रुतिरेतत्सर्वं मन एवेति कामादिसर्वविकारोपादानत्वमभेदनिर्देशान्मनस आह । आत्मनश्च स्वप्रकाशज्ञानानन्दरूपत्वस्य श्रुतिभिर्बोधनान्न कामाद्याश्रयत्वम् । अतो वैशेषिकादयो भ्रान्त्यैवाऽऽत्मनो विकारित्वं भेदं चाङ्गीकृतवन्त इत्यर्थः ।

धर्म भी नहीं हो सकता । ऐसा ही कहा भी है—'बिना विकारके तो जीव दुःखी नहीं हो सकता और जो विकारी है उसकी साक्षिता ही क्या है ? मैं बुद्धिके सहस्रों विकारोंका साक्षी हूँ, इसलिये मुझमें कोई विकार नहीं है ।'

(१) इस प्रकार सुख-दुःखादिके आश्रयभूत अन्तःकरणोंके भेदसे ही सब व्यवस्था बन जानेके कारण निर्विकार और सबके प्रकाशक आत्माओंके भेदमें कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह तो सद्रूप और चिद्रूपसे सभी जगह अनुगत है । अन्तःकरणका सुख-दुःखादिकी उत्पत्तिमें कारण होना तो दोनों ही वादियोंके मतमें निश्चित है । तथा अधिक माननीय होनेके कारण (सुख-दुःखादिके प्रति) उसकी समवायिकारणताकी ही कल्पना करनी उचित है, कोई अन्य समवायिकारण न होनेपर उसे निमित्तमात्र मानना उचित नहीं है । इसी प्रकार 'कामः संकल्पः' इत्यादि श्रुति भी 'एतत्सर्वं मन एव' (यह सब मन ही है) ऐसा कहकर मनके साथ कामादि सब विकारोंका अभेद बताकर उसे उनका उपादान ही बताती है । आत्माकी तो श्रुतिने स्वप्रकाशज्ञानानन्दस्वरूपताका उपदेश किया है, इसलिये उसके कामादिकी आश्रयता नहीं हो सकती । अतः वैशेषिकादि मतावलम्बियोंने भ्रमसे ही आत्मामें विकारित्व और भेद अंगीकार किया है—ऐसा इसका तात्पर्य है ।

सम्बन्धके यहाँ दो सम्बन्धी हैं—आत्मा और दुःखादि । आत्माके नित्य होनेपर भी दुःखादि नित्य नहीं, अतः उनका सम्बन्ध कैसे नित्य हो सकेगा ? दूसरी बात यह भी है कि समवाय सम्बन्ध भी तो आत्माका धर्म है, वह और किस सम्बन्धसे आत्मामें रहता है ? यदि समवायान्तरसे मानें, तब समवायान्तरका और समवाय एवं उसका और समवाय—इस प्रकार अनवस्था होती है । संयोगादि अन्य सम्बन्ध तो यहाँ सम्भावित ही नहीं, क्योंकि वे दो सम्बन्धी द्रव्योंमें रहा करते हैं, यहाँ आत्मा द्रव्य होनेपर भी दुःखादि द्रव्य नहीं, गुण हैं । अतः आत्मा और दुःखादिका तादात्म्य (अभेद) सम्बन्ध ही मानना होगा, तब तो दुःखादि धर्मोंके नाशसे आत्माका भी नाश प्रसक्त होगा । इसलिए दुःखादि साक्ष्य (साक्षिभास्य) पदार्थोंको साक्षीका धर्म नहीं माना जा सकता ।

१. पूरी श्रुति इस प्रकार है—'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव ।' अर्थात् काम, सङ्कल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि और भय—ये सब मन ही हैं ।

(१) अन्तःकरणस्याऽऽगमापायित्वाद् दृश्यत्वाच्च नित्यद्रष्टृत्वात्तो भिन्नस्य सुखादिजनका ये मात्रास्पर्शास्तेऽप्यनित्या अनियतरूपा, एकदा सुखजनकस्यैव [1]शीतोष्णादेरन्यदा दुःखजनकत्वदर्शनात्, एवं कदाचिद्दुःखजनकस्याप्यन्यदा सुखजनकत्वदर्शनात् । शीतोष्णग्रहणमाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकसुखदुःखोपलक्षणार्थम् । शीतमुष्णं च कदाचित्सुखं कदाचिद्दुःखं सुखदुःखे तु न कदाऽपि विपर्ययेते इति पृथङ्निर्देशः ।[2]

(२) तथा चात्यन्तास्थिरांस्त्वद्भिन्नस्य विकारिणः सुखदुःखादिप्रदान्भीष्मादिसंयोगवियोगरूपान्मात्रास्पर्शांस्त्वं तितिक्षस्व=नैते मम किंचित्करा इति विवेकेनोपेक्षस्व, दुःखितादात्म्याध्यासेनाऽऽत्मानं दुःखिनं मा ज्ञासीरित्यर्थः । कौन्तेय भारतेति संबोधनद्वयेनोभयकुलविशुद्धस्य तवाज्ञानमनुचितमिति सूचयति ॥ १४ ॥

(३) नन्वन्तःकरणस्य सुखदुःखाद्याश्रयत्वे तस्यैव कर्तृत्वेन भोक्तृत्वेन च चेतनत्वमभ्युपेयं,

---

(१) अन्तःकरण तो उत्पत्ति-नाशवान् और दृश्य होनेके कारण नित्य साक्षीस्वरूप तुझसे भिन्न है, अतः उसके जो सुखादिजनक मात्रास्पर्श हैं वे भी अनित्य-अनियतरूप हैं, क्योंकि जो शीतोष्णादि एक समय सुखदायक जान पड़ते हैं, वे ही दूसरे समय दुःखदायी दीख पड़ते हैं । इसी प्रकार कभी दुःखजनक होने पर भी वे दूसरे समय सुखप्रद जान पड़ते हैं । शीत और उष्णका ग्रहण आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों प्रकारके सुख-दुःखोंका उपलक्षण करानेके लिये है । शीत और उष्ण तो कभी सुख और कभी दुःख हो जाते हैं, किन्तु सुख-दुःखमें ऐसा फेर-फार कभी नहीं होता, इसलिये उनका अलग निर्देश किया है ।

(२) इस प्रकार जो अत्यन्त अस्थिर और तुझसे भिन्न विकारी चित्तको सुख-दुःखादि देनेवाले हैं, उन भीष्मादिके संयोग-वियोगरूप मात्रास्पर्शोंको तू सहन कर = 'ये मेरा कुछ भी नहीं कर सकते' इस प्रकारके विवेकसे उनकी उपेक्षा कर, अर्थात् दुःखी चित्तके साथ आत्माके अभेदका अध्यास करके अपनेको दुःखी मत समझ । 'कौन्तेय' और 'भारत' इन दो सम्बोधनोंसे यह सूचित करते हैं कि जिसके माता और पिता दोनों ही के कुल शुद्ध हैं ऐसे तुझको अज्ञान होना उचित नहीं है ॥ १४ ॥

(३) 'अन्तःकरण सुख-दुःखादिका आश्रय है, इसलिये कर्ता-भोक्ता होनेके कारण उसीको चेतन भी मानना चाहिये । तथा उससे भिन्न उसके प्रकाशक भोक्ताके विषयमें

---

१. ऊपरके श्लोकमें आगमापायिता और अनित्यता मात्रा-स्पर्श (इन्द्रिय-सम्बन्ध) के दो विशेषण दिये गये हैं । दोनोंकी पुनरुक्तताका परिहार करनेके लिए श्रीमधुसूदन सरस्वतीने अनित्यता का अर्थ किया है—अनियतरूपता । यहाँ शंका होती है कि—मात्रा-स्पर्शमें अनियतरूपता दिखानेके लिए श्रीमधुसूदन सरस्वतीको ऐसा लिखना चाहिए था—'एकदा सुखजनकस्यैव मात्रास्पर्शस्यान्यदा दुःखजनकत्वदर्शनात् ।' यहाँ 'मात्रास्पर्शस्य'के स्थानपर 'शीतोष्णादेः' कहकर शीतोष्णादिमें अनियतता क्यों दिखाई ? किन्तु यह शंका उचित नहीं, क्योंकि सम्बन्धमें किसी कार्यकी जनकता सम्बन्धीके द्वारा ही आया करती है । उक्त स्पर्श या सम्बन्धके यहाँ दो सम्बन्धी हैं—एक इन्द्रिय और दूसरा शीतोष्णादि विषय । विषय न होनेपर इन्द्रियोंका सम्बन्ध किससे होगा ? विषयकी अनियततासे ही सम्बन्धमें अनियतता होती है, यह दिखानेके लिए सरस्वतीजीने वहाँ 'शीतोष्णादेः' कहा है ।

२. इससे निश्चय होता है कि टीकाकारको 'शीतोष्णसुखदुःखदा' इस पदकी व्याख्या 'शीतोष्णरूप सुख-दुःख देनेवाले' तथा 'शीत-उष्ण और सुख-दुःख देनेवाले' दोनों प्रकारसे अभीष्ट है !

तथा च तद्व्यतिरिक्ते तद्भासके भोक्तरि मानाभावान्नाममात्रे विवादः स्यात्, तदभ्युपगमे च बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यापत्तिः, अन्तःकरणस्य सुखदुःखाद्याश्रयत्वेन बद्धत्वात्, आत्मनश्च तद्व्यतिरिक्तस्य मुक्तत्वादित्याशङ्कामर्जुनस्यापनेतुमाह भगवान्—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

(१) यं स्वप्रकाशत्वेन स्वत एव प्रसिद्धम् 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' (बृह० ४।३।१९) इति श्रुतेः पुरुषं पूर्णत्वेन पुरि शयानं 'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैतेन किंचनानावृतं नैतेन किंचनासंवृतम्' (बृह० २।५।१८) इति श्रुतेः, समदुःखसुखं = समे दुःखसुखे अनात्मधर्मतया भास्यतया च यस्य निर्विकारस्य स्वयंज्योतिषस्तं, सुखदुःखग्रहणमशेषान्तःकरणपरिणामोपलक्षणार्थम्, 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' (बृह० ४।४।२३) इति श्रुत्या वृद्धिकनीयस्तारूपयोः सुखदुःखयोः प्रतिषेधात्, धीरं धियमीरयति प्रेरयतीति व्युत्पत्त्या चिदाभासद्वारा धीतादात्म्याध्यासेन धीप्रेरकं धीसाक्षिणमित्यर्थः । 'स धीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति' (बृह० ४।३।७) इति श्रुतेः । एतेन बन्धप्रसक्तिर्दर्शिता । तदुक्तम्—

'यतो मानानि सिध्यन्ति जाग्रदादित्रयं तथा ।
भावाभावविभागश्च स ब्रह्मास्मीति बोध्यते' (बृह० वा० सं० १०८२) इति ॥

तो कोई प्रमाण भी नहीं है, इसलिये उसके नाममात्रमें विवाद होगा । यदि उसे माना भी जाय तो बन्ध-मोक्षके विभिन्न अधिकरणोंमें होनेकी आपत्ति होगी, क्योंकि सुख-दुःखका आश्रय होनेके कारण अन्तःकरण तो बद्ध है तथा उनसे रहित होनेके कारण आत्मा मुक्त है'—इस अर्जुनकी शंकाका निराकरण करनेके लिये भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थः—हे पुरुषश्रेष्ठ ! सुख और दुःखमें समान रहनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके सम्बन्ध परमार्थदृष्टिसे विचलित नहीं कर सकते, वही मोक्ष पानेके योग्य होता है ॥ १५ ॥]

(१) 'यहाँ यह पुरुष स्वयंज्योति होता है' इस श्रुतिके अनुसार स्वयंप्रकाशरूपसे अपने आप स्फुरित होनेवाले जिस पुरुषको—जो 'वह यह पुरुष समस्त देहरूप पुरियोंमें हृदयके भीतर रहनेवाला है, ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो इससे आच्छादित न हो और ऐसी भी कोई वस्तु नहीं है जो इससे ढकी न हो' इस श्रुतिके अनुसार पूर्ण होनेके कारण देहरूप पुरीमें शयन करनेवाला है तथा जो समदुःख-सुख है = जिस निर्विकार स्वयंज्योतिस्वरूपके लिये अनात्मरूपसे प्रकाश्य होनेके कारण सुख-दुःख समान हैं । यहाँ सुख-दुःखका ग्रहण अन्तःकरणके समस्त परिणामोंको उपलक्षित करानेके लिये है, क्योंकि 'ब्रह्मवेत्ताकी यह नित्य महिमा है कि वह कर्मसे न तो बढ़ता है और न घटता है' इस श्रुतिने ब्रह्मवेत्ताके वृद्धि और ह्रासरूप सुख-दुःखका निषेध किया है और जो धीर है अर्थात् 'धियम् ईरयति' (बुद्धिको प्रेरित करता है) इस व्युत्पत्तिके अनुसार चिदाभासके द्वारा बुद्धिके साथ तादात्म्याध्यास होनेसे बुद्धिको प्रेरित करनेवाला यानी बुद्धिका साक्षी है, जैसा कि 'वह बुद्धि और स्वप्नरूप होकर इस लोक (स्थूल शरीर) से परे चला जाता है' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है । इससे आत्माके बन्धनका प्रसंग दिखाया है, कहा भी है—'जिसके द्वारा सम्पूर्ण प्रमाण, जाग्रदादि तीनों अवस्थाएँ और भाव एवं अभावका

सुखदुःखदा मात्रास्पर्शा हि यस्मान्न व्यथयन्ति परमार्थतो न विकुर्वन्ति सर्वविकारभासकत्वेन विकारायोग्यत्वात् ।

'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' (कठ० ५।११) इति श्रुतेः ।

अतः स पुरुषः स्वस्वरूपभूतब्रह्मात्मैक्यज्ञानेन सर्वदुःखोपादानतदज्ञाननिवृत्युपलक्षिताय निखिलद्वैतानुपरक्तस्वप्रकाशपरमानन्दरूपायामृतत्वाय मोक्षाय कल्पते योग्यो भवतीत्यर्थः ।

(१) यदि ह्यात्मा स्वाभाविकबन्धाश्रयः स्यात्तदा स्वाभाविकधर्माणां धर्मिनिवृत्तिमन्तरेणानिवृत्तेर्न कदाऽपि मुच्येत । तथाचोक्तम्—

'आत्मा कर्त्रादिरूपश्चेन्मा काङ्क्षीस्तर्हि मुक्तताम् ।
न हि स्वभावो भावानां व्यावर्तेतौष्ण्यवद्वेः' इति ॥

प्रागभावासहवृत्तेर्युगपत्सर्वविशेषगुणनिवृत्तेर्धर्मिनिवृत्तिनान्तरीयकत्वदर्शनात् । अथाऽऽत्मनि

विभाग—ये सिद्ध होते हैं वह ब्रह्म मैं हूँ'—ऐसा बोध होता है । उस पुरुषको, समस्त विकारोंका भासक होनेसे विकारके योग्य न होनेके कारण, क्योंकि ये सुख-दुःख देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके सम्बन्ध व्यथित = वस्तुतः विकारयुक्त नहीं कर सकते—जैसा कि 'जिस प्रकार समस्त लोकोंका नेत्र सूर्य नेत्रेन्द्रियसम्बन्धी बाह्य दोषोंसे लिप्त नहीं होता उसी प्रकार समस्त भूतोंका एक ही अन्तरात्मा, जो उनसे बाहर भी व्याप्त है, लोकके दुःखसे लिप्त नहीं होता' यह श्रुति भी कहती है—इसलिये तात्पर्य यह है कि वह पुरुष स्वरूपभूत ब्रह्म और आत्माकी एकताके ज्ञानद्वारा अमृतत्व = मोक्षके लिये समर्थ अर्थात् योग्य होता है, जो समस्त दुःखोंके उपादान ब्रह्मात्मैक्यके अज्ञानकी निवृत्तिसे उपलक्षित, सम्पूर्ण द्वैतके संसर्गसे रहित और स्वयंप्रकाश परमानन्दस्वरूप है ।

(१) यदि आत्मा स्वाभाविक बन्धका आश्रय होता तो स्वाभाविक धर्मोंकी निवृत्ति धर्मीकी निवृत्तिके बिना न हो सकनेके कारण वह कभी मुक्त ही नहीं हो सकता था । ऐसा ही कहा भी है—'यदि आत्मा कर्तादिरूप हो तो उसकी मुक्ति होनेकी

---

१. वैशेषिकगण मोक्षका स्वरूप बताते हैं—'दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्षः' (प्रशस्त० भा०) । इसकी व्याख्या करते हुए व्योमशिवाचार्यने कहा है—'यथा दग्धेन्धनस्यानलस्योपशमे ज्वालादिरहितस्यावस्थानं, तद्वद् अत्यन्तं विशेषगुणविमुक्तस्यात्मनोऽवस्थानं मोक्षः' । जबतक ईन्धन रहता है, तबतक अग्निसे विकराल ज्वालाएँ और धुएँके बादल निकलते रहते हैं, ईन्धन समाप्त हो जानेपर अग्नि एकरूपमें स्थिर हो जाती (टिक जाती) है । वैसे ही आत्मामें जबतक नौ विशेष गुण (बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना) विद्यमान रहते हैं, तबतक वह विविध दुःखोंकी ज्वालाओंसे संव्याप्त रहता है, समस्त विशेष गुणोंका आत्यन्तिक उच्छेद हो जानेपर वह आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है, इसी स्थितिका नाम मोक्ष है । व्योमशिवाचार्यने आरम्भमें भी मोक्ष तत्त्व स्पष्ट किया है—'नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तिः' । यों तो आत्मामें ज्ञान-सुख आदिका नाश संसार अवस्थामें भी होता रहता है, किन्तु वह (नाश) मुक्ति नहीं कहलाता, क्योंकि आत्यन्तिक नहीं । विशेष गुणों के ऐसे उच्छेद (नाश) को आत्यन्तिक कहा जाता है, जिसके हो जानेपर आत्मामें अन्य विशेष गुण कभी भी उत्पन्न न हो, या अन्य विशेष गुणोंके उत्पन्न होनेकी योग्यता न रहे । इसी तथ्यको शंकर मिश्रकी तार्किक शैलीमें ऐसे कहा जा सकता है—'प्रागभावासहवृत्तिः युगपदुत्पन्ना सर्वविशेषगुणनिवृत्तिरपवर्गः ।' अर्थात् आत्माके सभी विशेष गुणोंकी एक साथ

बन्धो न स्वाभाविकः किंतु बुद्ध्याद्युपाधिकृतः, आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (कठ०१।३) इति श्रुतेः। तथा च धर्मिसद्भावेऽपि तन्निवृत्त्या मुक्त्युपपत्तिरिति चेत्, हन्त! तर्हि यः स्वधर्ममन्यनिष्ठतया भासयति स उपाधिरित्यभ्युपगमाद् बुद्ध्यादिरूपाधिः स्वधर्ममात्मनिष्ठतया भासयतीत्यायातम्। तथा चाऽऽयातं मार्गे बन्धस्यासत्यत्वाभ्युपगमात्। न हि स्फटिकमणौ जपाकुसुमोपधाननिमित्तो लोहितिमा सत्यः। अतः सर्वसंसारधर्मासंसर्गिणोऽप्यात्मन उपाधिवशात्तत्संसर्गित्वप्रतिभासो बन्धः, स्वस्वरूपज्ञानेन तु स्वरूपाज्ञानतत्कार्यबुद्ध्याद्युपाधिनिवृत्त्या तन्निमित्तनिखिलभ्रमनिवृत्तौ निर्मृष्टनिखिलभास्योपरागतया शुद्धस्य स्वप्रकाशपरमानन्दतया पूर्णस्याऽऽत्मनः स्वत एव

इच्छा मत करो, क्योंकि जिस प्रकार सूर्यकी उष्णता नहीं जा सकती वैसे ही वस्तुके स्वभावकी निवृत्ति कभी नहीं हो सकती।' क्योंकि यह देखा गया है कि जिनकी स्थिति प्रागभावको सहन नहीं करती (अर्थात् जो धर्मीमें अनादिकालसे विद्यमान रहते हैं) उन एकसाथ रहनेवाले समस्त विशेष गुणोंकी निवृत्ति धर्मीकी निवृत्तिके विना नहीं होती, तथा आत्मामें जो बन्धन है वह स्वाभाविक नहीं, अपितु बुद्धि आदि उपाधिके कारण है, जैसा कि—'देह, इन्द्रिय और मनके सहित आत्माको बुद्धिमान् लोग भोक्ता कहते हैं' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है अब यदि कहो कि धर्मी आत्माके रहते हुए भी औपाधिक बन्धनकी निवृत्ति होनेसे उसकी मुक्ति हो सकती है, तब तो 'जो अपने धर्मोंको दूसरेमें स्थित-रूपसे भासे उसका नाम उपाधि है' ऐसा स्वीकार करनेसे यही निश्चय हुआ कि बुद्धि आदि उपाधि अपने धर्मोंको आत्मामें स्थित करके प्रकाशित करती है। इस प्रकार आत्माके बन्धनको असत्य स्वीकार करनेसे तो तुम हमारे ही मार्गमें आ जाते हो। स्फटिकमणिमें जपाकुसुमकी सन्निधिके कारण जो लालिमा होती है वह सत्य नहीं होती। अतः समस्त संसार-धर्मोंसे असंग होनेपर भी आत्मामें उपाधिके कारण सांसारिक धर्मोंसे संसर्ग भासित होना ही उसका बन्धन है। स्वरूपका ज्ञान होनेसे उसका अज्ञान तथा अज्ञानकी कार्यभूता बुद्धि आदि उपाधिके निवृत्त हो जानेसे उसके कारण होनेवाले सम्पूर्ण भ्रमकी निवृत्तिसे भास्यजनित समस्त अध्यासकी सफाई हो जानेके कारण पूर्ण आत्माके शुद्ध और स्वयंप्रकाश परमानन्दस्वरूप रह जानेसे स्वतः ही उसका

उत्पन्न उस निवृत्ति (नाश) को अपवर्ग कहा जाता है, जो भावी विशेषगुणों के प्रागभावकी सहवृत्ति (सहचरी=एक समय एक आधारमें रहनेवाली) न हो। संसार अवस्थामें विशेष गुणोंकी निवृत्ति ऐसी नहीं होती, क्योंकि एक ज्ञान, सुखादि विशेष गुणका नाश होनेपर भी अन्य ज्ञान सुखादि उत्पन्न होते रहते हैं, अतः उनका प्रागभाव उस आत्मामें मानना होगा, तब तो यह निवृत्ति अन्य विशेषगुणोंके प्रागभावकी सहवृत्ति (सहचरी) हो गई, अतः इसे आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं कहा जा सकता, यह अपवर्ग नहीं।

श्रीमधुसूदन सरस्वती उक्त मोक्षका खण्डन करते हुए कहते हैं कि आप (वैशेषिक) आत्मामें विशेष गुणोंको स्वाभाविक (अनारोपित) मानते हैं? या आरोपित? यदि स्वाभाविक मानते हैं, तब उन गुणोंकी तबतक आत्यन्तिक निवृत्ति न होगी, जबतक उन गुणोंका आश्रय (धर्मी) नष्ट न हो जाय। आश्रयका नाश माननेपर आत्मासे ही हाथ धोना पड़ जायगा, मुक्ति किसकी होगी? गुण भी आत्माके धर्म ही हैं। स्वाभाविक धर्मोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति धर्मिनिवृत्तिनान्तरीयक (धर्मिणो निवृत्तिः नान्तरीयकी = अवश्यम्भाविनी यस्याः) होती है, अर्थात् वह धर्मिनिवृत्तिके (अन्तरा न) विना नहीं हो सकती। आत्मामें उन धर्मोंको आरोपित मानना वैशेषिकोंका सिद्धान्त नहीं।

कैवल्यं मोक्ष इति न बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यापत्तिः। अत एव नाममात्रे विवाद इत्यपास्तं, भास्यभासकयोरेकत्वानुपपत्तेः। दुःखी स्वव्यतिरिक्तभास्यो भास्यत्वाद्घटवदित्यनुमानाद्भास्यस्य भासकत्वादर्शनात्। एकस्यैव भास्यत्वे भासकत्वे च कर्तृकर्मविरोधात्।

(१) आत्मनः कथमिति चेत्,

(२) न, तस्य भासकत्वमात्राभ्युपगमात्, अहं दुःखीत्यादिवृत्तिसहिताहंकारभासकत्वेन तस्य कदाऽपि भास्यकोटावप्रवेशात्। अत एव दुःखी न स्वातिरिक्तभासकापेक्षो भासकत्वाद्दीपवदित्यनुमानमपि न, भास्यत्वेन स्वातिरिक्तभासकत्वसाधकेन प्रतिरोधात्। भासकत्वं च भानकरणत्वं स्वप्रकाशभानरूपत्वं वा। आद्ये दीपस्येव करणान्तरानपेक्षत्वेऽपि स्वातिरिक्तभानसापेक्षत्वं दुःखिनो न व्याहन्यतेऽन्यथा दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यापत्तेः[1]। द्वितीये स्वसिद्धेः[2] हेतुरित्यधिकबलतया भास्यत्वहेतुरेव विजयते।

कैवल्यरूप मोक्ष सिद्ध हो जाता है—इस प्रकार बन्ध और मोक्ष विभिन्न अधिकरणोंमें होते हैं—इसकी प्राप्ति नहीं होती। अतः तुम्हारी जो ऐसी आशंका थी कि 'नाममात्रमें ही विवाद होगा' उसका निराकरण कर दिया गया, क्योंकि भास्य और भासककी एकता होनी सम्भव नहीं है। दुःखी अपनेसे भिन्न प्रकाशकद्वारा प्रकाश्य होता है, प्रकाश्य होनेके कारण, 'घटके समान' इस अनुमानसे जो प्रकाश्य है उसकी प्रकाशकता कभी नहीं देखी जाती। यदि एक ही वस्तुमें प्रकाश्यता और प्रकाशकता दोनों रहेंगी, तो एक ही वस्तुमें कर्तृत्व और कर्मत्व दोनों भावोंके रहनेपर विरोध उपस्थित होगा।

(१) शंका—किन्तु आत्माके विषयमें यह नियम किस प्रकार सम्भव होगा?

(२) समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि आत्माकी तो केवल प्रकाशकता ही स्वीकार की गयी है। 'मैं दुःखी हूँ' इत्यादि वृत्तिसहित अहंकारके भासक होनेपर उसका भास्यकोटिमें कभी प्रवेश नहीं हो सकता। इसी कारण ऐसा अनुमान भी नहीं किया जा सकता कि 'दुःखी अपनेसे भिन्न किसी अन्य प्रकाशककी अपेक्षा नहीं रखता क्योंकि वह प्रकाशक है, दीपकके समान।' क्योंकि अपनेसे भिन्न भासकके सिद्ध करनेवाले भास्यत्व हेतुके द्वारा सत्प्रतिपक्ष हो जाता है। भासकत्वका अर्थ भानका करण होना अथवा स्वप्रकाशरूप होता है। पहला पक्ष माननेपर दीपकके समान यद्यपि दुःखीको अपने भानमें अपनेसे भिन्नकरणकी अपेक्षा नहीं है, तथापि उसकी अपनेसे भिन्न अपने भानकी अपेक्षाका तो व्याघात नहीं होता, नहीं तो दृष्टान्तमें साध्यवैकल्यकी प्राप्ति होगी। दूसरा पक्ष माननेपर तो हेतु असिद्ध हो जाता है। इसलिये अधिक बलवान् होनेके कारण भास्यत्वरूप हेतुकी ही जीत होती है।

१. उपर्युक्त शंकामें पूर्वपक्षीने दीपकके दृष्टान्तसे दुःखीमें अपनेसे भिन्न भासककी अपेक्षाका अभाव दिखाया है। किंतु यदि 'भासकत्व' का अर्थ भानकरणत्व किया जाय तो अपने से भिन्न भासक की अपेक्षा न होनेपर भी दृष्टान्त (दीपक) और साध्य (दुःखी) इन दोनोंमें अपनेसे भिन्न अपने भानकी अपेक्षा तो रहती ही है। यदि पक्षमें यह बात न मानी जाय तो दृष्टान्तमें भानकरणार्थक भासकत्वरूप हेतुसे साध्यकी सिद्धि नहीं होगी। अर्थात् साध्यका अभावरूप साध्यवैकल्य दोषकी प्राप्ति होगी।

२. जो हेतु पक्षमें न रहे वह असिद्ध कहलाता है।

(१) बुद्धिवृत्त्यतिरिक्तभानानभ्युपगमाद् बुद्धिरेव भानरूपेति चेत्,

(२) न, भानस्य[1] सर्वदेशकालानुस्यूततया भेदकधर्मशून्यतया च विभोर्नित्यस्यैकस्य चानित्यपरिच्छिन्नानेकरूपबुद्धिपरिणामात्मकत्वानुपपत्तेः । उत्पत्तिविनाशादिप्रतीतेश्चावश्यकल्प्यविषयतयाऽप्युपपत्तेः[2] । अन्यथा तत्तज्ज्ञानोत्पत्तिविनाशभेदादिकल्पनायामतिगौरवापत्तेरित्याद्यन्यत्र विस्तरः[3] । तथा च श्रुतिः—'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' (बृह० ४।३।२३), 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' (छां० ३।१४।३), 'महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव' (बृह० २।४।१२), 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृह० २।५।१९) इत्याद्या विभुनित्यस्वप्रकाशज्ञानरूपतामात्मनो दर्शयति । एतेनाविद्यालक्षणादप्युपाधेर्व्यतिरेकः सिद्धः । अतोऽसत्योपाधिनिबन्धनबन्धभ्रमस्य सत्यात्मज्ञानान्निवृत्तौ मुक्तिरिति सर्वमवदातम् ।

(१) शंका—बुद्धिवृत्तिके सिवा तो भान कुछ माना नहीं जाता, इसलिये बुद्धि ही भानरूप है—ऐसा मानें तो ?

(२) ऐसी बात नहीं है । जो समस्त देश और कालमें अनुस्यूत और भेदक धर्मशून्य होनेसे विभु, नित्य और एक है, वह भान अनेक प्रकारका अनित्य और परिच्छिन्न बुद्धिपरिणामरूप नहीं हो सकता । तथा उसकी उत्पत्ति और विनाशादिकी जो प्रतीति होती है वह तो अवश्य कल्पनीय विषयोंकी विषयतासे भी हो सकती है[2] । नहीं तो, उस-उस ज्ञानके उत्पत्ति और विनाशरूप भेदादिकी कल्पनामें बड़ा गौरव उपस्थित हो जायगा[3] । इन सब बातोंका दूसरी जगह विस्तार किया जायगा । इसी प्रकार 'अविनाशी होनेके कारण द्रष्टाकी दृष्टिका लोप नहीं होता', 'आत्मा आकाशके समान सर्वगत और नित्य है', 'वह यह ब्रह्म कार्य-कारणसे रहित तथा अन्तर-बाह्यभावशून्य है', 'यह आत्मा सबका साक्षी ब्रह्म है' इत्यादि श्रुतियाँ भी आत्माकी विभुता, नित्यता और स्वप्रकाश ज्ञानरूपता प्रदर्शित करती हैं । इससे अविद्यारूप उपाधिसे भी आत्माकी भिन्नता सिद्ध हो जाती है ।

१. सर्वदेशानुस्यूतत्व और सर्वकालानुस्यूतत्वसे अमितभानमें विभुत्व और नित्यत्व सिद्ध किया । आशय यह है कि सभी देशकाल आदि पदार्थोंमें प्रामाणिकता लानेके लिए भानके साथ उनका सम्बन्ध स्थापित करना होगा, नहीं तो भानके बिना उनकी सत्ता ही सिद्ध न हो सकेगी । भान यदि बुद्धि-वृत्ति है, तब उसका विषयके साथ सम्बन्ध क्या ? प्रत्यक्ष वस्तुके साथ कुछ सम्बन्ध बना लेनेपर भी परोक्ष विषयके साथ कोई परम्परा सम्बन्ध भी नहीं हो सकता । अतः भानका अर्थ चैतन्य ज्ञान ही करना होगा और विषयके साथ उसका आध्यासिक तादात्म्य संबन्ध मानना होगा । इस प्रकार 'घटो भाति', 'अत्र भाति', 'इदानीं भाति' आदि रूपसे भासक वह नित्य विभु चेतन स्वतः एक ही है, केवल विषयका भेद है । एकता सिद्ध करनेके लिए ही कहा है—'भेदकधर्मशून्यतया' । अर्थात् जैसे शब्दान्तर अभ्यास, संख्या, संज्ञा, गुण और प्रकरणान्तर आदि प्रमाणोंसे धर्मका भेद (अनेकत्व) सिद्ध होता है, वैसे इस ब्रह्मका भेदक कोई नहीं, क्योंकि समस्त विश्वके साथ उसका वास्तविक संबंध नहीं, अध्यस्त वस्तुका प्रभाव अधिष्ठानपर कुछ भी नहीं पड़ता—एक ही रज्जुमें विविध दण्ड, माला, धारा, सर्प आदिका अध्यास उसे भिन्न नहीं कर सकता ।

२. अर्थात् अवश्य कल्पित होनेवाले जो विषय हैं, उनके सम्बन्धसे ही भानके उत्पत्ति-विनाश होते जान पड़ते हैं ।

३. क्योंकि यदि भानको उत्पत्ति-विनाशशील मानेंगे तो उसे एक न मानकर अनेक मानना होगा तथा उन्हें प्रध्वंसाभाव और प्रागभावयुक्त एवं परस्पर भिन्न मानना पड़ेगा । यह महान् गौरव है ।

(१) पुरुषर्षभेति संबोधयन्स्वप्रकाशचैतन्यरूपत्वेन पुरुषत्वं परमानन्दरूपत्वेन चाऽऽत्मन ऋषभत्वं सर्वद्वैतापेक्षया श्रेष्ठत्वमजानन्नेव शोचसि, अतः स्वस्वरूपज्ञानादेव तव शोकनिवृत्तिः सुकरा 'तरति शोकमात्मवित्' (छ० ७।१।३) इति श्रुतेरिति सूचयति । अत्र पुरुषमित्येकवचनेन सांख्यपक्षो निराकृतस्तैः पुरुषबहुत्वाभ्युपगमात् ॥ १५ ॥

(२) ननु भवतु पुरुषैकत्वं तथाऽपि तस्य सत्यस्य जडद्रष्टृत्वरूपः सत्य एव संसारः । तथाच शीतोष्णादिसुखदुःखकारणे सति तद्भोगस्याऽऽवश्यकत्वात्सत्यस्य च ज्ञानाद्विनाशानुपपत्तेः कथं तितिक्षा कथं वा सोऽमृतत्वाय कल्पत इति चेत् ।

(३) न, कृत्स्नस्यापि द्वैतप्रपञ्चस्याऽऽत्मनि कल्पितत्वेन तज्ज्ञानाद्विनाशोपपत्तेः शुक्तौ कल्पितस्य रजतस्य शुक्तिज्ञानेन विनाशवत् ।

(४) कथं पुनरसत्मानात्मनोः प्रतीत्यविशेष आत्मवदनात्माऽपि सत्यो न भवेदनात्मवदात्माऽपि मिथ्या न भवेदुभयोस्तुल्ययोगक्षेमत्वादित्याशङ्क्य विशेषमाह भगवान्—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

अतः सत्य आत्मज्ञानके द्वारा असत्य उपाधिके कारण प्रतीत होनेवाले बन्धरूप भ्रमकी निवृत्ति हो जानेपर मुक्ति हो जाती है—इस प्रकार सभी विषय स्पष्ट हो जाता है ।

(१) अर्जुनको 'पुरुषर्षभ' इस प्रकार सम्बोधन करके भगवान् यह सूचित करते हैं कि तुम स्वप्रकाश चैतन्यस्वरूपसे अपना पुरुषत्व और परमानन्दरूपसे आत्माका ऋषभत्व अर्थात् सम्पूर्ण द्वैतकी अपेक्षा श्रेष्ठत्व न जाननेके कारण ही शोक करते हो । अतः स्वरूपके ज्ञानसे ही तुम्हारे शोककी निवृत्ति होनी सुगम है, जैसा कि 'आत्मज्ञानी शोकको तर जाता है' इस श्रुतिसे भी सिद्ध होता है । यहाँ 'पुरुषम्' ऐसा एकवचन देकर सांख्यपक्षका निराकरण किया गया है, क्योंकि वे अनेक पुरुष मानते हैं ॥ १५ ॥

(२) शंका—पुरुषकी एकता भले ही हो, तथापि उस सत्य पुरुषका जड़को द्रष्टृतारूप संसार भी तो सत्य ही है । ऐसी स्थितिमें शीतोष्णादि सुख-दुःखके कारणों के आनेपर उनका भोग अनिवार्य होनेके कारण तथा सत्य संसारका ज्ञानसे विनाश न हो सकनेके कारण किस प्रकार की तितिक्षा हो सकेगी और कैसे वह मोक्ष पानेके योग्य होगा ?

(३) समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि सारा द्वैतप्रपञ्च आत्मामें कल्पित ही है, इसलिये आत्माके ज्ञानसे उसका नाश होना संभव ही है, जैसे कि सीपमें कल्पित चाँदीका सीपके ज्ञानसे नाश हो जाता है ।

(४) अब अर्जुनकी ओरसे ऐसी आशंका करके कि 'आत्मा और अनात्माकी प्रतीतिमें कोई अन्तर न होनेपर भी आत्माके समान अनात्मा सत्य क्यों नहीं है अथवा अनात्माके समान आत्मा भी मिथ्या क्यों नहीं है ? क्योंकि दोनोंका योग-क्षेम तो समान ही है'—भगवान् उनका अन्तर बताते हैं—

[श्लोकार्थः—मिथ्या वस्तुकी कभी सत्ता नहीं होती और सत्यका कभी अभाव नहीं होता । तत्त्ववेत्ताओंने इन सत्य और मिथ्या दोनों प्रकारके पदार्थोंके निश्चितरूपको देख लिया है ॥ १६ ॥]

(१) यत्कालतो देशतो वस्तुतो वा परिच्छिन्नं तदसत्। यथा घटादि जन्मविनाशशीलं प्राक्कालेन परकालेन च परिच्छिद्यते ध्वंसप्रागभावप्रतियोगित्वात्। कादाचित्कं कालपरिच्छिन्नमित्युच्यते। एवं देशपरिच्छिन्नमपि तदेव मूर्तत्वेन सर्वदेशावृत्तित्वात्। कालपरिच्छिन्नस्य देशपरिच्छेदनियमेऽपि देशपरिच्छिन्नत्वेनाभ्युपगतस्य परमाण्वादेस्तार्किकैः कालपरिच्छेदानभ्युपगमाद्देशपरिच्छेदोऽपि पृथगुक्तः स च किञ्चिद्देशवृत्तिरित्यन्ताभावः। एवं सजातीयभेदो विजातीयभेदः स्वगतभेदश्चेति

(१) जो काल, देश अथवा वस्तुसे परिच्छिन्न होता है वह असत् माना जाता है। जैसे घटादि उत्पत्ति-नाशशील पदार्थ पूर्वकाल और परकालसे परिच्छिन्न हैं, क्योंकि वे प्रध्वंसाभाव और प्राग्भावके प्रतियोगी हैं, इसलिये वे किसी समयविशेषमें होनेवाले अर्थात् कालपरिच्छिन्न कहे जाते हैं। इसी प्रकार मूर्तरूप होनेसे समस्त देशमें न रह सकनेके कारण वे ही देशसे भी परिच्छिन्न हैं। यद्यपि यह नियम है कि कालपरिच्छिन्न पदार्थ देशपरिच्छिन्न भी होता है तथापि नैयायिकोंने परमाणु आदिकी देशपरिच्छिन्नता स्वीकार करनेपर भी कालपरिच्छिन्नता नहीं मानी; इसीसे देशपरिच्छिन्नका अलग उल्लेख किया है। यही थोड़ेसे देशमें रहनेवाला अत्यन्ताभाव है। इसी प्रकार सजातीय, विजातीय

१. स्वगतभेद—'सजातीयाद्भेदः', 'विजातीयाद्भेदः' के समान ही 'स्वगताद्भेदः'—यही पञ्चमी समास ही स्वगतभेदमें किया करते हैं। इसका अर्थ होता है—स्व (वृक्ष) में (गत) रहनेवाले शाखा-पत्र आदिसे भेद, इसीलिए श्रीमधुसूदन सरस्वतीने 'पत्रपुष्पादेश्च भेदः' ऐसा ही कहा है। यहाँ विचारणीय यह है कि वैशेषिकोंकी दृष्टिसे अवयवमें अवयवी समवेत (समवाय सम्बन्धसे वृत्ति) होता है, अतः तन्तुओंमें वस्त्र रहता है, शाखादि अवयवोंमें वृक्ष रहता है, न कि वृक्षमें शाखादि, फिर स्वगत पदसे शाखादिका ग्रहण क्योंकर होगा? इस सिद्धान्तका चार्वाकों (तत्त्वोपप्लव० में) और बौद्धोंने खूब खण्डन किया—

वृक्षे शाखाः शिलाश्चाग इत्येषा लौकिकी मतिः।
तौ पुनस्तास्विति ज्ञानं लोकातिक्रान्तमुच्यते॥ (तत्त्व सं० ८३१)

अर्थात् 'वृक्षमें शाखाएँ हैं, पर्वतमें शिलाएँ हैं', वस्त्रमें तन्तु हैं, घरमें दीवारें हैं'—यह लौकिक अनुभव है। इसका उल्लंघन करके वैशेषिकोंकी 'शाखाओंमें वृक्ष है, शिलाओंमें पर्वत है, तन्तुओंमें वस्त्र है, दीवारोंमें घर है'—यह अलौकिक कल्पना सर्वथा अयुक्त है। इस विषयमें वेदान्तियोंने भी इनका ही साथ दिया है। अतः हम कह सकते हैं कि हमारी दृष्टिसे स्वगत पदका अर्थ शाखा आदि अवयव लिये जा सकते हैं और स्वगत-भेदका अर्थ वृक्षमें स्वावयव शाखादिप्रतियोगिक भेद किया जा सकता है।

श्रीविद्यारण्य स्वामीने एक और ही समस्या उपस्थित कर दी है। वे कहते हैं—

वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः।
वृक्षान्तरात् सजातीयो विजातीयः शिलादितः॥ (पञ्च० २।२०)

इन्होंने भेदके तीन नाम रख लिये—स्वगत, सजातीय और विजातीय। वृक्षगत तीनों भेदोंको स्वगत (स्व = वृक्ष गत = वृत्ति) कहा जा सकता है, सजातीय वृक्षत्व जाति वाला भेद कोई नहीं हो सकता और विजातीय भी नहीं हो सकता, क्योंकि भेदमें कोई जाति मानी ही नहीं जाती। अतः विद्यारण्य स्वामीका भी आशय यही है कि स्वगतप्रतियोगिक अभाव स्वगत, सजातीयप्रतियोगिक अभाव सजातीय और विजातीयप्रतियोगिक अभाव विजातीय होता है। वार्तिककार आदि ने तो 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।१।२) का अर्थ करते हुए 'सजातीय निषेध' जैसे पदोंका प्रयोग किया है—

'सजातीयनिषेधो वा ह्येकशब्देन भण्यते।
सलिलोक्त्या विजातीयसम्बन्धो हि निवारितः॥ (बृह० वा० ४।३।१८० १)

त्रिविधो भेदो वस्तुपरिच्छेदः। यथा वृक्षस्य वृक्षान्तराच्छिलादेः पत्रपुष्पादेश्च भेदः। अथवा जीवेश्वरभेदो जीवजगद्भेदो जीवपरस्परभेद ईश्वरजगद्भेदो जगत्परस्परभेद इति पञ्चविधो वस्तुपरिच्छेदः। कालदेशापरिच्छिन्नस्याप्याकाशादेस्तार्किकैर्वस्तुपरिच्छेदाभ्युपगमात्पृथङ्निर्देशः। एवं सांख्यमतेऽपि योजनीयम्।

(१) एतादृशस्यासतः शीतोष्णादेः कृत्स्नस्यापि प्रपञ्चस्य भावः सत्ता पारमार्थिकत्वं स्वान्यूनसत्ताकतादृशपरिच्छेदशून्यत्वं न विद्यते न संभवति घटत्वाघटत्वयोरिव परिच्छिन्नत्वापरिच्छिन्नत्वयोरेकत्र विरोधात्। न हि दृश्यं किंचित्कचित्काले देशे वस्तुनि वा न निषिध्यते सर्वत्रानुगमात्। न वा सद्वस्तु क्वचिद्देशे काले वस्तुनि वा निषिध्यते सर्वत्रानुगमात्। तथा च सर्वत्रानुगते सद्वस्तुनि अननुगतं व्यभिचारि वस्तु कल्पितं रज्जुखण्ड इवानुगते व्यभिचारि सर्पधारादिकमिति भावः।

और स्वगत तीन प्रकारका भेद वस्तुपरिच्छेद है। जैसे वृक्षका दूसरे वृक्षसे, शिला आदिसे और अपने पत्र-पुष्पादिसे भेद होता है। अथवा जीव और ईश्वरका भेद, जीव जगत्का भेद, जीवोंका परस्पर भेद, ईश्वर और जगत्का भेद तथा जगत्का अपना जगत्का भेद, यह पाँच प्रकारका भेद ही वस्तुपरिच्छेद है। काल और देशसे अपरिच्छिन्न होनेपर भी आकाशादिका नैयायिकोंने वस्तुपरिच्छेद माना है, इसीसे इसका पृथक् निर्देश किया है। इसी प्रकार सांख्यमतमें भी लगा लेना चाहिये।

(१) ऐसे शीतोष्णादि समस्त असत् प्रपञ्चका भाव=सत्ता=पारमार्थिकता अर्थात् अपनेसे न्यून सत्ता न होना रूप परिच्छेदशून्यता नहीं है=हो नहीं सकती, क्योंकि घटत्व और अघटत्वके समान परिच्छिन्नत्व और अपरिच्छिन्नत्वका एक वस्तुमें होना परस्पर विरुद्ध है। कोई भी दृश्य ऐसा नहीं है जिसका किसी भी काल, देश या वस्तुमें निषेध न होता हो, क्योंकि वह सबमें अनुगत नहीं होता, किन्तु सद्वस्तुका किसी भी काल, देश या वस्तुमें निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि वह सभीमें अनुगत है। अतः भाव यह है कि जैसे सर्प-धारा-भूछिद्र आदि कल्पनाओंमें अनुगत रस्सीके टुकड़ेमें सर्प-धारा आदि व्यभिचारी वस्तुएँ कल्पित हैं वैसे ही सर्वत्र अनुगत सद्वस्तुमें अननुगत और व्यभिचारी वस्तुएँ कल्पना की हुई हैं।

१. सांख्य मतमें सत्कार्यवाद माना जाता है, अर्थात् कार्य अपने कारणमें सदैव रहता है, उसका समय समयपर आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। अतः कार्यमें काल-परिच्छेद (कादाचित्कत्व) नहीं होता। इनके मतमें असत्त्वकी सिद्धिके लिए देश-परिच्छेदका ग्रहण किया गया है। कार्यवर्गमें सांख्याचार्य विभुत्व नहीं मानते, अतः देश-परिच्छेद (क्वाचित्कत्व) संभव है। प्रकृति और पुरुष विभु माने जाते हैं, इनमें असत्त्व सिद्ध करनेके लिए वस्तु-परिच्छेद रखा गया है। प्रकृतिमें विजातीय और पुरुषमें सजातीय और विजातीय दोनों भेद रहते हैं।

२. घटादि गत परिच्छेद 'स्व' पदसे ग्रहण करना चाहिए। घटादिमें व्यावहारिकसत्ताक देशादि-परिच्छेद रहता है, उनमें व्यावहारिकसत्ताक अपरिच्छेद (उक्त परिच्छेद-शून्यत्व) नहीं रहता, क्योंकि एक ही घटमें जैसे समानसत्ताक घटत्व और घटत्वाभाव दोनों नहीं रह सकते, वैसे ही एक ही घटमें समानसत्ताक परिच्छेद और परिच्छेद-शून्यत्व नहीं रह सकते।

आत्मा ही परमार्थ वस्तु है। वह अपरिच्छिन्न है। अतः जिसकी सत्ता उससे न्यून (थोड़े देशकाल या वस्तुमें रहनेवाली) है वह पदार्थ परिच्छिन्न है। उस परिच्छिन्नताका अभाव ही यहाँ 'भाव' शब्दका तात्पर्य माना गया है।

(१) ननु व्यभिचारिणः कल्पितत्वे सद्वस्त्वपि कल्पितं स्यात्तस्यापि तुच्छव्यावृत्तत्वेन व्यभिचारित्वादित्यत आह—नाभावो विद्यते सत इति। सदधिकरणकभेदप्रतियोगित्वं हि वस्तुपरिच्छित्त्वं तच्च न तुच्छव्यावृत्तत्वेन, तुच्छे शशविषाणादौ सत्त्वायोगात्। 'सद्धयामभावो निरूप्यते' इति न्यायात्। एकस्यैव स्वप्रकाशस्य नित्यस्य विभोः सतः सर्वानुस्यूतत्वेन सद्व्यक्तिभेदानभ्युपगमात्। घटः सन्नित्यादिप्रतीतेः सार्वलौकिकत्वेन सतो घटाद्यधिकरणकभेदप्रतियोगित्वायोगात्। अभावः परिच्छिन्नत्वं देशतः कालतो वस्तुतो वा सतः सर्वानुस्यूतसन्मात्रस्य न विद्यते न संभवति पूर्ववद्विरोधादित्यर्थः।

(१) 'यदि व्यभिचारी वस्तु कल्पित होती है तो तुच्छ वस्तुओंसे भिन्न होनेसे व्यभिचारी होनेके कारण सद्वस्तु भी कल्पित ही होनी चाहिये' ऐसी आशंका करके भगवान् कहते हैं—'नाभावो विद्यते सतः' (सद्वस्तुका अभाव नहीं होता)। सत् जिसका अधिकरण है उस भेदका प्रतियोगी होना ही वस्तुपरिच्छेद[3] है। तुच्छसे व्यावृत्त (पृथक) होनेके कारण कोई वस्तु असत् नहीं होती, क्योंकि तुच्छ जो शशशृंगादि हैं उनमें तो सत्ता ही नहीं होती। यह बात 'सत् और असत्से ही अभावका निरूपण होता है' इस न्यायसे[4] सिद्ध होती है। एक ही स्वप्रकाश, नित्य और विभु सत् सबमें अनुस्यूत है, इसलिये सत् और व्यक्तिका भेद नहीं माना जाता, क्योंकि 'घटः सन्' (घट विद्यमान है) ऐसी प्रतीति सभी लोगोंको होती है। अतः घटादिमें रहनेवाले भेदकी प्रतियोगिता सत्में नहीं रह सकती। इसलिये तात्पर्य यह है कि सत्=सबमें

१. शंकावादीने कहा था कि ब्रह्म भी तुच्छ-व्यावृत्त है, अतः कल्पित क्यों नहीं ? मिथ्या क्यों नहीं ? सिद्धांतीका कहना है कि एक वस्तु जब दूसरी वस्तुसे भिन्न देखी जाती है, तब उसमें वस्तु-परिच्छेद आ जानेके कारण कल्पितत्व और मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है। वस्तु-परिच्छेदका निष्कृष्ट स्वरूप होता है—सदधिकरणकभेद-प्रतियोगित्व। अर्थात् सत् पदार्थ जिसका अधिकरण है, ऐसे अभावको सदधिकरणक अभाव कहा जाता है, उस अभावकी प्रतियोगिताका नाम ही वस्तु-परिच्छेद होता है। ब्रह्म यद्यपि तुच्छ व्यावृत्त है, तुच्छाधिकरणक अभावका प्रतियोगी। तथापि तुच्छ सत् नहीं, अतः तुच्छाधिकरणक अभावको सदधिकरणक अभाव नहीं कह सकते, उसकी प्रतियोगिताको वस्तु-परिच्छेद नहीं कह सकते, फिर ब्रह्ममें कल्पितत्व क्योंकर सिद्ध होगा ?

२. यदि कहा जाय कि ब्रह्म घटादिसे भिन्न है, अतः उसमें घटाद्यधिकरणक अभावकी प्रतियोगिता तो रखी ही जा सकती है और घटादि सत् हैं, अतः सदधिकरणकाभावकी प्रतियोगिता आ जानेसे ब्रह्ममें कल्पितत्व सिद्ध क्यों न होगा ? इस सन्देहको दूर करनेके लिए कहा—सद्द्वयम्। अर्थात् दो (अनुयोगी और प्रतियोगीरूप) सत् पदार्थोंके द्वारा अन्योऽन्याभावका निरूपण होता है। यहाँ सत् तत्त्व एक ही है, दो नहीं। अतः घटादि सत् पदार्थका भेद सत् में नहीं रह सकता। आशय यह है कि 'घटः सन्', 'पटः सन्' आदि रूपोंमें अनुभूयमान एक ही सत् तत्त्व है, विभिन्न सत् नहीं।

३. घट-पट आदि समस्त वस्तुओंको अधिष्ठान सत् ही है, क्योंकि सद्रूपसे ही उनकी प्रतीति होती है। अतः सदधिष्ठित घटमें रहनेवाला जो पटका भेद है उस भेदका प्रतियोगी पट है। यही घट और पटकी वस्तुपरिच्छिन्नता है।

४. जो वस्तु न सत् है और न असत्, वह अभावकी प्रतियोगिनी नहीं हो सकती, क्योंकि अभाव तो भाव पदार्थका ही होता है, वह भाव पदार्थ चाहे तो घटादिके समान सद्रूप हो और चाहे रज्जुसर्पादिके समान असत् हो।

(१) ननु सन्नाम किमपि वस्तु नास्त्येव यस्य देशकालवस्तुपरिच्छेदः प्रतिषिध्यते, किं तर्हि सत्त्वं नाम परं सामान्यं तदाश्रयत्वेन द्रव्यगुणकर्मसु सद्व्यवहारः, तदेकाश्रयत्वसंबन्धेन सामान्यविशेषसमवायेषु। तथा चासतः प्रागभावप्रतियोगिनो घटादेः सत्त्वं कारणव्यापारात्सतोऽपि तस्याभावः कारणनाशाद्भवत्येवेति कथमुक्तं नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत इति। एवं प्राप्ते परिहरति—उभयोरपीत्यर्धेन।

(२) उभयोरपि सदसतोः सतश्चासतश्चान्तो मर्यादा नियतरूपत्वं यत्सत्तत्सदेव यदसत्तदसदेवेति दृष्टो निश्चितः श्रुतिस्मृतियुक्तिभिर्विचारपूर्वकम्। कैः ? तत्त्वदर्शिभिर्वस्तुयाथात्म्यदर्शनशीलैर्ब्रह्मविद्भिर्न तु कुतार्किकैः। अतः कुतार्किकाणां न विपर्ययानुपपत्तिः। तुशब्दोऽवधारणे एकान्तरूपो नियम एव दृष्टो न त्वनेकान्तरूपोऽन्यथाभाव इति, तत्त्वदर्शिभिरेव दृष्टो नातत्त्वदर्शिभिरिति वा। तथा च श्रुतिः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्युपक्रम्य 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ३।२।१) इत्युपसंहरन्ती सदेकं सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यं सत्यं दर्शयति।

अनुस्यूत सन्मात्रका अभाव=देश काल अथवा वस्तुसे परिच्छेद नहीं है=हो नहीं सकता, क्योंकि पूर्ववत् यहाँ भी विरोध आता है।

(१) 'किन्तु सत् नामकी तो कोई वस्तु है ही नहीं, जिसके देश, काल और वस्तुकृत परिच्छेदका निषेध किया जाता है। तो फिर क्या बात है ?—सत्ता तो पर सामान्यका ही नाम है, जिसके रहनेसे द्रव्य, गुण और कर्म-इन सबमें सत्त्वका व्यवहार होता है। तथा द्रव्य, गुण और कर्मरूप समान आश्रयसे सम्बन्ध होनेके कारण ही सामान्य, विशेष और समवायोंमें भी सत्त्वका व्यवहार होता है। तथा प्रागभावके प्रतियोगी घटादि असत् पदार्थोंकी उनके कारणके व्यापारसे सत्ता एवं सत् पदार्थोंका अपने कारणके नाशसे अभाव भी हो ही सकता है; फिर यह क्यों कहा कि मिथ्या वस्तुकी कभी सत्ता नहीं होती और सत्यका अभाव नहीं होता ?' ऐसी आशंका होनेपर भगवान् 'उभयोरपि दृष्टोऽन्तः' इत्यादि आधे श्लोकसे इसका परिहार करते हैं।

(२) सत् और असत् दोनोंही का अन्त=मर्यादा अर्थात् 'जो सत् है वह सत ही है और जो असत् है वह असत् ही है'—ऐसा नियतरूप श्रुति, स्मृति और युक्तियोंद्वारा विचारकर देखा है=निश्चय किया है। किन्होंने ? तत्त्वदर्शियोंने—वस्तुके यथार्थ स्वरूपको देखनेवाले ब्रह्मवेत्ताओंने; कुतर्क करनेवालोंने नहीं। इसलिये कुतार्किकोंको विपरीत बुद्धि होनी अनुचित नहीं है। यहाँ 'तु' शब्द इस प्रकार निश्चय करनेके लिये है कि नित्य एकरूप रहनेवाला नियम ही देखा है, अनैकान्तिक विपरीतभाव नहीं देखा तथा तत्त्वदर्शियोंने ही देखा है, अतत्त्वदर्शियोंने नहीं देखा। श्रुति भी 'हे सोम्य ! आरम्भमें एक अद्वितीय सत् ही था' यहाँसे आरम्भ करके 'यह सब इस सत्से अभिन्न ही है, वह सत्य है और वही आत्मा है, हे श्वेतकेतो ! तू वही है' इस प्रकार उपसंहार करती हुई यही दिखाती है कि सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदसे शून्य सत् ही सत्य

१. सामान्य नाम है—जातिका। जाति तीन प्रकारकी होती है—पर, अपर और परापर, सत्ता जाति पर है, क्योंकि यह सब जातियोंकी अपेक्षा पर (व्यापक) है। घटत्वादि जातियोंको अपर कहा जाता है और पृथिवीत्व आदि जातियोंको परापर, क्योंकि घटत्वादिकी अपेक्षा पृथिवीत्वादि पर और द्रव्यत्व आदिकी अपेक्षा अपर (व्याप्य) है।

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छां० ६।१।४) इत्यादिश्रुतिस्तु विकारमात्रस्य व्यभिचारिणो वाचारम्भणत्वेनानृतत्वं दर्शयति। 'अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' (छ० ६।८।४) इति श्रुतिः सर्वेषामपि विकाराणां सति कल्पितत्वं दर्शयति।

(१) सत्त्वं च न सामान्यं तत्र मानाभावात्। पदार्थमात्रसाधारण्यात्सत्सदिति प्रतीत्या द्रव्य-गुणकर्ममात्रवृत्तिसत्त्वस्य स्वानुपपादकस्याकल्पनात्। वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वात्। एकरूपप्रतीतेरेकरूपविषयनिर्वाह्यत्वेन संबन्धभेदस्य स्वरूपभेदस्य च कल्पयितुमनुचितत्वात्। विषयस्याननुगमेऽपि प्रतीत्यनुगमे जातिमात्रोच्छेदप्रसङ्गात्। तस्मादेकमेव सद्वस्तु स्वतः स्फुरणरूपं ज्ञाताज्ञातावस्थाभासकं स्वतादात्म्याध्यासेन सर्वत्र सव्यवहारोपपादकम्। सन्घट इति प्रतीत्या तावत्सद्घटयोक्तिमात्राभिन्नत्वं घटे विषयीकृतं न तु सत्तासमवायित्वमभेदप्रतीतेर्भेदघटितसंबन्धानिर्वाह्यत्वात्। एवं द्रव्यं सद् गुणः सन्नित्यादिप्रतीत्या सर्वाभिन्नत्वं सतः सिद्धम्। द्रव्यगुणादिभेदासिद्धया च न तेषु धर्मिषु सत्त्वं नाम धर्मः कल्प्यते किं तु सति धर्मिणि द्रव्याद्यभिन्नत्वं लाघवात्। तच्च वास्तवं न संभवतीत्याध्यासिकमित्यन्यत्। तदुक्तं वार्तिककारैः—

है। 'विकार वाणीका विलास और नाममात्र है, मृत्तिका ही सत्य है' इत्यादि श्रुतिने तो परिवर्तनशील विकारमात्रको वाणीका विलास बताकर मिथ्या ही दिखाया है। तथा 'हे सोम्य! अन्नरूप अंकुर (कार्य) से उसके मूल (कारण) जलकी शोध कर, हे सोम्य! जलरूप अंकुरमें उसके मूल तेजकी शोध कर और हे सोम्य! तेजरूप अंकुरसे उसके मूल सत्‌की शोध कर, सोम्य! इस सारी प्रजाका मूल सत् है, यह सत्‌में रहती है और सत् ही इसका आधार है' यह श्रुति समस्त विकारोंका सत्‌में कल्पित होना प्रदर्शित करती है।

(१) तथा सत्त्व सामान्यका नाम नहीं है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। पदार्थमात्रमें सामान्यभावसे रहनेवाली 'सत्-सत्' ऐसी प्रतीतिको केवल द्रव्य गुण और कर्ममें ही रहनेवाला सामान्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसके द्वारा सत्‌की सिद्धि नहीं हो सकती। इसके विपरीत पदार्थमात्रमें अनुस्यूत सत् ही सामान्य है—यह सरलतासे कहा जासकता है। एकरूप प्रतीतिका निर्वाह तो एकरूप विषयसे ही हो सकता है; ऐसी स्थितिमें सम्बन्धभेद और सामान्यके स्वरूपकी कल्पना करनी अनुचित ही है और यदि विषयकी एकरूपताके बिना भी प्रतीतिकी एकरूपता स्वीकार करोगे तो जातिमात्रके उच्छेदका ही प्रसंग उपस्थित होगा। अतः ज्ञात और अज्ञात विषयको प्रकाशित करनेवाली स्वतःस्फुरणरूप एक ही सद्वस्तु है, जो अपने तादात्म्याध्याससे सर्वत्र सद्रूप व्यवहारकी साधक है। 'सन् घटः' (घट सत् है) इस प्रतीतिसे घटमें सत् और घटव्यक्तिकी अभिन्नता ही दृष्टिगोचर होती है, न कि घटादि व्यक्तियोंके साथ सत्तासामान्यकी समवायिता, क्योंकि अभेदप्रतीत भेदमें रहनेवाले सम्बन्धकी निर्वाहक

१. यहाँ 'स्व' पदसे 'सत्, सत्'—इस प्रतीतिका ग्रहण किया जाता है, इस प्रतीतिकी उपपादक (निर्वाहक) द्रव्यगुण-कर्ममात्र वृत्ति सत्ता नहीं हो सकती, क्योंकि 'सामान्यं सत्', 'विशेषः सन्' 'अभावः सन्'—इस प्रकार सत्प्रतीति सामान्य, विशेष और अभावमें भी है, किन्तु वहाँ सत्ता जाति नहीं मानी जाती, अतः यह सत्ता जाति सत्प्रतीतिकी उपपादक नहीं, अनुपपादक है।

'सत्तातोऽपि न भेदः स्याद् द्रव्यत्वादेः कुतोऽन्यतः।
एकाकारा हि संवित्तिः सद्द्रव्यं सन्गुणस्तथा' ॥ (बृह० वा० सं० ९६८) इत्यादि।

सत्ताऽपि नासतो भेदिका तस्याप्रसिद्धेः। द्रव्यत्वादिकं तु सद्धर्मत्वान्न सतो भेदकमित्यर्थः। अत एव घटाद्भिन्नः पट इत्यादि प्रतीतिरपि न भेदसाधिका घटपटतद्भेदानां सदभेदेनैक्यात्। एवं यत्रैव न भेदग्रहस्तत्रैव लब्धपदा सती सदभेदप्रतीतिर्विजयते। तार्किकैः कालपदार्थस्य सर्वात्मकस्याभ्युपगमात्तेनैव सर्वव्यवहारोपपत्तौ तदतिरिक्तपदार्थकल्पने मानाभावात्तस्यैव सर्वानुस्यूतस्य सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च सर्वतादात्म्येन प्रतीत्युपपत्तेः। स्फुरणस्यापि सर्वानुस्यूतत्वेनैकत्वान्नित्यत्वं विस्तरेणाग्रिमश्लोके वक्ष्यते।

(१) तथाच यथा कस्मिंश्चिद्देशे काले वाऽघटस्य पटादेर्न देशान्तरे कालान्तरे वा घटत्वम्।

नहीं होती।[1] इसी प्रकार 'द्रव्य सत् है' 'गुण सत् है' इत्यादि प्रतीतिसे भी सत्‌का सबसे अभिन्नत्व सिद्ध होता है। द्रव्य और गुणके भेदकी सिद्धि नहीं हो सकती, इससे उन धर्मियोंमें सत् नामका कोई धर्म नहीं माना जा सकता, अपितु कल्पनाके लाघवकी दृष्टिसे तो धर्मीरूप सत्‌में ही उन द्रव्यादिका अभेद है। हाँ, यह बात दूसरी है कि वह अभेद वास्तविक नहीं, बल्कि आध्यासिक है। वार्तिककार श्रीसुरेश्वराचार्यने भी कहा है—'द्रव्यत्वादिका तो सत्तासे भी भेद नहीं है, फिर किसी अन्यसे तो हो ही कैसे सकता है? क्योंकि 'द्रव्य सत्' 'गुण सत्' यह ज्ञान एकरूप ही होता है।' सत्ता तो असत्‌से भी भेद रखनेवाली नहीं है, क्योंकि असत्‌की तो सिद्धि ही नहीं होती। अतः तात्पर्य यह है कि द्रव्यत्वादि सब सत्‌के ही धर्म होनेके कारण उसका भेद करनेवाले नहीं हो सकते। इसीसे 'पट घटसे भिन्न है' इत्यादि प्रतीति भी भेदको सिद्ध नहीं कर सकती, क्योंकि सत्‌से अभिन्न होनेके कारण घट, पट और उनका भेद—ये सब एक ही हैं। इस प्रकार जहाँ भी भेद का ग्रहण नहीं होता वहीं स्थित होकर सत्‌की अभिन्नताकी प्रतीति विजयको प्राप्त होती है। नैयायिकोंने कालपदार्थकी सर्वात्मकता स्वीकार की है। सारा व्यवहार उसीसे सिद्ध हो सकता है, इसलिये उससे भिन्न किसी अन्य पदार्थकी कल्पनामें कोई प्रमाण नहीं है। उस सर्वानुस्यूत कालकी भी सबके साथ तादात्म्यभावसे सद्रूप एवं स्फुरणरूपसे ही प्रतीति हो सकती है। सबमें अनुस्यूत होनेके कारण स्फुरण भी एकरूप ही है। इसकी नित्यताका अगले श्लोकमें विस्तारसे वर्णन किया जायगा।

(१) इस प्रकार जैसे किसी भी देश या कालमें जो घट नहीं हैं, उन पट आदिमें

१. यहाँ जो प्रसंग है वह 'सत्' और 'सामान्य'का भेद बिना समझे हृदयङ्गम नहीं हो सकता। वस्तुका होना—उसका अस्तित्व ही 'सत्' है। यह सर्वत्र अनुस्यूत है। ऐसा कोई देशकाल या वस्तु नहीं हो सकता जिसमें होनापन न हो। इसलिये सत् ही उसका अधिष्ठान है। इसके विपरीत 'सामान्य' एक धर्म है जो एक ही प्रकारके द्रव्य, गुण या क्रियामें रहता है। जैसे घटत्व यह धर्म प्रत्येक घट व्यक्तिमें रहता है, अतः एक घटको जान लेनेपर घटत्वका बोध हो जानेसे सभी घट जाने जा सकते हैं। इसीको 'जाति' भी कहते हैं। इसके ज्ञानके लिये व्यक्तिका ज्ञान होना आवश्यक है, किन्तु सत्‌के ज्ञानके लिये किसी भी व्यक्तिके ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है। इसके सिवा जातिका अधिष्ठान व्यक्ति है, उसमें वह समवाय (नित्य) सम्बन्धसे रहती है किन्तु सत् व्यक्ति और जाति दोनोंका अधिष्ठान है, उसमें वह सारा प्रपञ्च तादात्म्यभासे अध्यस्त है। जातिका व्यक्तियोंसे नित्य सम्बन्ध होनेपर भी भेद ही है, किन्तु सत्ता तो व्यक्तियोंका स्वरूप है, उसका उनसे न कोई सम्बन्ध है और न कभी भेद ही।

एवं कस्मिंश्चिद्देशे काले वा घटस्यान्यत्राघटत्वं शक्रेणापि न शक्यते संपादयितुं पदार्थस्वभावभङ्गायोगात्। एवं कस्मिंश्चिद्देशे काले वाऽसतो देशान्तरे कालान्तरे वा सत्त्वं कस्मिंश्चिद्देशे काले वा सतोऽन्यत्रासत्त्वं न शक्यते संपादयितुं युक्तिसाम्यात्। अत उभयोर्नियतरूपत्वमेव द्रष्टव्यमित्यद्वैतसिद्धौ विस्तरः। अतः सदेव वस्तु मायाकल्पितासन्निवृत्त्याऽमृतत्वाय कल्पते सन्मात्रदृष्ट्या च तितिक्षाऽप्युपपद्यत इति भावः ॥ १६ ॥

(१) नन्वेतादृशस्य सतो ज्ञानाद्भेदे परिच्छिन्नत्वापत्तेर्ज्ञानात्मकत्वमभ्युपेयम्। तच्चानाध्यासिकमन्यथा जडत्वापत्तेः। तथा चानाध्यासिकज्ञानरूपस्य सतो धात्वर्थत्वादुत्पत्तिविनाशवत्त्वं घटज्ञानमुत्पन्नं घटज्ञानं नष्टमिति प्रतीतेश्च। एवं चाहं घटं जानामीति प्रतीतेस्तस्य साश्रयत्वं सविषयत्वं चेति देशकालवस्तुपरिच्छिन्नत्वात्स्फुरणस्य कथं तद्रूपस्य सतो देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

किसी दूसरे देश या कालमें घटत्व नहीं हो सकता, वैसे ही किसी भी देश या कालमें जो घट है उसका अघटत्व सम्पादन करना इन्द्रके वशकी भी बात नहीं है, क्योंकि वस्तुके स्वभावका भंग होना असम्भव है। इसी प्रकार समान युक्ति होनेके कारण जो किसी देश या कालमें असत् है उसका दूसरे देश या कालमें सत्त्व और जो किसी देश या कालमें सत् है उसका अन्यत्र असत्त्व सम्पादन नहीं किया जा सकता। अतः सत् और असत् इन दोनोंको नियतरूप ही समझना चाहिये—इसका विस्तार अद्वैतसिद्धिमें किया गया है। इसलिये मायाकल्पित असत्‌की निवृत्ति हो जानेसे सद्वस्तु ही अमृतत्वके योग्य होती है तथा सन्मात्रपर ही दृष्टि रहनेसे तितिक्षा होनी भी सम्भव है—ऐसा इसका भाव है ॥ १६ ॥

(१) 'ऐसा जो सत् है उसका ज्ञानसे भेद होनेपर तो परिच्छिन्नताकी प्राप्ति होगी, इसलिये उसे ज्ञानस्वरूप ही मानना चाहिये और वह ज्ञानस्वरूपता भी आध्यासिक नहीं होनी चाहिये, नहीं तो सत्‌को जडताकी प्राप्ति होगी। इस प्रकार अनाध्यासिक ज्ञानस्वरूप सत् धातु (क्रियापद) का अर्थ होनेके कारण तथा 'घटज्ञान उत्पन्न हुआ, घटज्ञान नष्ट हुआ' इस प्रकार उसकी प्रतीति होनेके कारण उत्पत्ति और नाशवाला होना चाहिये। इसी तरह 'मैं घटको जानता हूँ' ऐसी प्रतीति होनेके कारण ज्ञानकी साश्रयता और सविषयता भी सिद्ध होती है। ऐसी स्थितिमें स्फुरणकी देशकालवस्तुपरिच्छिन्नता होनेपर स्फुरणरूप सत्‌की देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यता कैसे हो सकती है?' ऐसी अर्जुनकी ओरसे आशंका करके भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थः—जिससे यह सब व्याप्त है उस सत्‌को तुम अविनाशी समझो क्योंकि इस अव्यय सत्‌का विनाश कोई भी नहीं कर सकता ॥ १७ ॥]

१. सत् वस्तुको सत् ज्ञानसे भिन्न माननेपर सदधिकरणक भेदकी प्रतियोगिता रह जानेके कारण उसमें मिथ्यात्व मानना पड़ेगा।

२. 'धात्वर्थः क्रिया ज्ञेया'—इस नियमके अनुसार ज्ञान 'ज्ञा' धातुका अर्थ होनेसे क्रियारूप है, क्रिया सदैव उत्पत्ति और विनाशवाली होती है।

(१) विनाशो देशतः कालतो वस्तुतो वा परिच्छेदः सोऽस्यास्तीति विनाशि परिच्छिन्नं तद्विलक्षणमविनाशि सर्वप्रकारपरिच्छेदशून्यं तु एव तत्सद्रूपं स्फुरणं त्वं विद्धि जानीहि। किं तत्? येन सद्रूपेण स्फुरणेनैकेन नित्येन विभुना सर्वमिदं दृश्यजातं स्वतः सत्तास्फूर्तिशून्यं ततं व्याप्तं स्वसत्तास्फूर्त्यध्यासेन रज्जुशकलेनेव सर्पधारादि स्वस्मिन्समावेशितं तद्विनाशयेव विद्धीत्यर्थः।

(२) कस्मात्? यस्माद्विनाशं परिच्छेदमव्ययस्यापरिच्छिन्नस्यापरोक्षस्य सर्वानुस्यूतस्य स्फुरणरूपस्य सतः कश्चित्कोऽपि आश्रयो वा विषयो वेन्द्रियसंनिकर्षादिरूपो हेतुर्वा न कर्तुमर्हति समर्थो न भवति, कल्पितस्याकल्पितपरिच्छेदकत्वायोगात्। औरोपमात्रे चेष्टापत्तेः। अहं घटं जानामीत्यत्र हि अहंकार आश्रयतया भासते घटस्तु विषयतया। उत्पत्तिविनाशवती काचिदहंकारवृत्तिस्तु सर्वतो विप्रसृतस्य सतः स्फुरणस्य व्यञ्जकतया, आत्ममनोयोगस्य परैरपि ज्ञानहेतुत्वाभ्युपगमात्। तदुत्पत्तिविनाशेनैव च तदुपहिते स्फुरणरूपे सत्युत्पत्तिविनाशप्रतीत्युपपत्तेर्नैकस्य स्फुरणस्य स्वत उत्पत्तिविनाशकल्पनाप्रसङ्गः, ध्वन्यवच्छेदेन शब्दवद्घटाद्यवच्छेदेनाऽऽकाशवच्च। अहंकारस्तु तस्मिन्नध्यस्तोऽपि

(१) जिसका देश, काल अथवा वस्तुसे परिच्छेद हो उसे विनाशी=परिच्छिन्न कहते हैं, उस सद्रूप स्फुरणको तो तुम उससे विलक्षण अविनाशी अर्थात् सब प्रकारके परिच्छेदसे शून्य समझो। यह सत् क्या है?—जिस एकमात्र नित्य और विभु सद्रूप स्फुरणने इस सम्पूर्ण दृश्यसमूहको, जो स्वतः सत्ता और स्फूर्तिसे शून्य है, व्याप्त किया हुआ है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सर्प और धारा आदि रस्सीके टुकड़ेसे व्याप्त हैं वैसे ही अपनी सत्ता और स्फूर्तिके अध्याससे जिसने इस दृश्यका अपनेमें समावेश किया हुआ है, उस सत्‌को तू अविनाशी ही समझ।

(२) ऐसा क्यों जानूँ?—क्योंकि इस अव्ययका अर्थात् अपरिच्छिन्न, अपरोक्ष, सर्वानुस्यूत, स्फुरणरूप सत्‌का कोई भी आश्रय, विषय अथवा इन्द्रियसन्निकर्षादिरूप हेतु विनाश=परिच्छेद नहीं कर सकता—ऐसा करनेमें समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि कल्पित पदार्थमें अकल्पित वस्तुका परिच्छेद करनेकी योग्यता नहीं होती, हाँ, अकल्पितमें कल्पित पदार्थका आरोप तो अभीष्ट ही है। 'मैं घड़ेको जानता हूँ' इस वाक्यमें अहंकार ज्ञानके आश्रयरूपसे और घट विषयरूपसे भासता है। उत्पत्तिनाशवाली जो कोई अहंकारवृत्ति है वह तो सर्वत्र फैले हुए स्फुरणरूप सत्‌की अभिव्यञ्जिका होकर ही भासती है, क्योंकि दूसरे वादियोंने भी आत्मा और मनके संयोगको ज्ञानका हेतु माना है। उस वृत्तिके उत्पत्ति और विनाशसे ही उससे उपहित स्फुरणरूप सत्‌में उत्पत्ति और विनाशकी प्रतीति उत्पन्न हो जाती है, अतः उस एकमात्र स्फुरणमें स्वतः उत्पत्ति और विनाशकी कल्पनाका प्रसंग नहीं आ सकता, जैसे ध्वनिके अवच्छेदसे शब्द और घटादिके अवच्छेदसे

१. मीमांसक शब्दको नित्य मानते हैं और 'उत्पन्नो गकारः', 'नष्टो गकारः'—इस प्रकार अनुभूयमान शब्दके उत्पाद और विनाशको आरोपित मानते हैं। उनका कहना है कि वायवीय संयोग-विभाग (जिसे नाद या ध्वनि कहा करते हैं) शब्दके अभिव्यञ्जक होते हैं, उनके उत्पाद-विनाशका आरोप शब्दमें वैसे ही हो जाया करता है, जैसे घटादिके उत्पाद-विनाशका आरोप घटावच्छिन्न आकाशमें होता है। इसी प्रकार घटाद्याकार अन्तःकरण-वृत्ति ज्ञानरूप सत्तत्त्वकी व्यञ्जक मानी जाती है, यदि वृत्तिगत परिच्छेदका आरोप ज्ञान (चैतन्य) में कर लिया जाय, तो कोई क्षति नहीं। आरोपित सर्पसे रज्जु विषैली नहीं होती, ऐसे ही आरोपित परिच्छेदसे अधिष्ठान चैतन्य परिच्छिन्न नहीं होता।

तदाश्रयता भासते तद्वृत्तितादात्म्याध्यासात्। सुषुप्तावहंकाराभावेऽपि तद्वासनावासिताज्ञानभासकस्य चैतन्यस्य स्वतः स्फुरणात्। अन्यथैतावन्तं कालमहं किमपि नाज्ञासिषमिति सुषुप्तोत्थितस्य स्मरणं न स्यात्। न चोत्थितस्य ज्ञानाभावानुमितिरियमिति वाच्यं, सुषुप्तिकालरूपपक्षाज्ञानाद्विज्ञासंभवाच्च। अस्मरणादेर्व्यभिचारित्वात्स्मरणजनकनिर्विकल्पकाद्यभावासाधकत्वाच्च। ज्ञानसामग्र्यभावस्य चान्योन्याश्रयग्रस्तत्वात्। तथा च श्रुतिः 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तद्द्रष्टव्यं न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' (बृह० ४।३।२३) इत्यादिः सुषुप्तौ स्वप्रकाशस्फुरणसद्भावं तन्नित्यतया दर्शयति।

(१) पूर्वं घटादिविषयोऽपि तदज्ञातावस्थाभासके स्फुरणे कल्पितः, य एव प्रागज्ञातः स एवेदानीं मया ज्ञात इति प्रत्यभिज्ञानात्। अज्ञातज्ञापकत्वं हि प्रामाण्यं सर्वतन्त्रसिद्धान्तः। यथार्थानुभवः प्रमेति वदद्भिस्तार्किकैरपि ज्ञातज्ञापिकायाः स्मृतेर्व्यावर्तकमनुभवपदं प्रयुञ्जानैरेतदभ्युपगमात्। अज्ञातत्वं च घटादेर्न चक्षुरादिना परिच्छिद्यते तत्रासामर्थ्यात्तज्ज्ञानोत्तरकालमज्ञानस्यानुवृत्तिप्रसङ्गाच्च। नाप्यनुमानेन लिङ्गाभावात्। नहीदानीं ज्ञातत्वेन प्रागज्ञातत्वमनुमातुं शक्यं धारावाहिकानेकज्ञान-

आकाशके उत्पत्ति और नाशकी कल्पना नहीं हो सकती। अहंकार यद्यपि सत्‌में अध्यस्त है, तो भी उसके आश्रयरूपसे भासता है, क्योंकि उसकी वृत्तिका सत्‌के साथ तादात्म्याध्यास है। सुषुप्तिमें अहंकारका अभाव रहनेपर भी उसकी वासनासे युक्त अज्ञानका भासक चैतन्य स्वयं स्फुरित होता रहता है। यदि ऐसा न होता तो सुषुप्तिसे उठे हुए पुरुषको 'इतने समय तक मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं रहा' ऐसी स्मृति नहीं हो सकती थी। यह भी कहना ठीक नहीं कि 'यह ज्ञानाभाव सोनेसे उठे हुए पुरुषकी अनुमिति ही है', क्योंकि उस समय सुषुप्तिकालरूप पक्षका अज्ञान रहता है, उसका साधक कोई लिंग भी नहीं है, कारण कि अस्मरणादि उसका हेतु भी व्यभिचारी है और यह अस्मरणादि स्मरणकी उत्पत्ति न करनेवाले निर्विकल्प ज्ञान आदिके अभावको भी सिद्ध नहीं कर सकता। इसके सिवा ज्ञानकी सामग्रीका अभावरूप हेतु भी अन्योन्याश्रय दोषसे ग्रस्त है। इसी प्रकार 'जो यह है वह इसे नहीं देखता, देखते हुए भी वह इस दीखनेवाली वस्तुको नहीं देखता, द्रष्टाकी दृष्टिका कभी लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है' इत्यादि श्रुति भी सुषुप्तिमें स्वप्रकाश स्फुरणकी सत्ताको उसकी नित्यताके कारण दिखाती है।

(१) इसी प्रकार घटादि विषय भी अपने अज्ञानकी अवस्थाको प्रकाशित करनेवाले स्फुरणमें कल्पित है, क्योंकि 'जो घटादि पहले मुझे अज्ञात था वही अब ज्ञात हुआ है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। 'अज्ञात वस्तुका ज्ञापक होना—यही प्रमाणता है' ऐसा सभी शास्त्रोंका सिद्धान्त है। 'यथार्थ अनुभवको प्रमा कहते हैं' ऐसा कहनेवाले तथा 'अनुभव'पद ज्ञात वस्तुको जतानेवाली स्मृतिका व्यावर्तक है—ऐसा प्रयोग करनेवाले नैयायिकोंने भी ऐसा ही माना है। घटादिका अज्ञातत्व चक्षु आदिसे परिच्छिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें उनका सामर्थ्य नहीं है और ऐसा माननेपर घटादिका ज्ञान होनेके उत्तर क्षणमें उनके अज्ञानकी अनुवृत्तिका प्रसंग भी उपस्थित हो जायगा। इसी प्रकार

१. यदि अन्तःकरणकी वृत्ति ही चैतन्य ज्ञानकी व्यञ्जक है, तब सुषुप्तिमें वृत्तिके न होनेसे ज्ञानका प्रकाश न होगा, अप्रकाशित ज्ञानके होनेमें वहाँ कोई प्रमाण नहीं, अतः ज्ञान परिच्छिन्न हो जाता—इस शंकाको दूर करनेके लिए कहा—'सुषुप्तावहङ्काराभावेऽपि'। अर्थात् सुषुप्तिमें अन्तःकरणकी वृत्ति न होनेपर भी ज्ञानका सद्भाव मानना पड़ेगा, नहीं तो अज्ञानका भान किससे होगा ?

विषये व्यभिचारात्। इदानीमेव ज्ञातत्वं तु प्रागज्ञातत्वे सतीदानीं ज्ञातत्वरूपं साध्यविशिष्टत्वादसिद्धम्। नचाज्ञातावस्थाज्ञानमन्तरेण ज्ञानं प्रति घटादेर्हेतुता ग्रहीतुं शक्यते पूर्ववर्तित्वाग्रहात्। घटं न जानामीति सार्वलौकिकानुभवविरोधश्च। तस्मादज्ञातं स्फुरणं भासमानं स्वाध्यस्तं घटादिकं भासयति घटादीनामज्ञाते स्फुरणे कल्पितत्वसिद्धिः, अन्यथा[1] घटादेर्जडत्वेनाज्ञातत्वतद्ज्ञानयोरनुपपत्तेः। स्फुरणं चाज्ञातं स्वाध्यस्तेनैवाज्ञानेनेति स्वयमेव भगवान्वक्ष्यति—'अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' (गी० ५।१५) इत्यत्र। एतेन विभुत्वं सिद्धम्। तथाच श्रुतिः 'महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव' (बृह० २।४।१२) इति 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' (तै० २।१) इति च ज्ञानस्य महत्त्वमनन्तत्वं च दर्शयति। महत्त्वं स्वाध्यस्तसर्वसंबन्धित्वमनन्तत्वं त्रिविधपरिच्छेदशून्यत्वमिति विवेकः।

अनुमानसे भी घटादिका अज्ञातत्व सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें कोई लिंग नहीं है। जो विषय इस समय ज्ञातरूपसे अनुभव होता है उसके पूर्व-अज्ञातत्वका अनुमान नहीं किया जासकता, क्योंकि इस अनुभवका धारावाहिक अनेक ज्ञानोंमें व्यभिचार हो जायगा। इसी समयकी जो ज्ञातता है वह तो साध्यके समान होनेके कारण असिद्ध हेतु है, क्योंकि पहले अज्ञात होनेपर ही इस समय यह ज्ञातता है। इसके सिवा घटादिकी अज्ञातावस्थाके ज्ञानके बिना अपने ज्ञानमें घटादिकी हेतुता भी ग्रहण नहीं की जा सकती, क्योंकि ऐसी स्थितिमें उसकी पूर्वविद्यमानताका भी ग्रहण नहीं होगा। तथा 'मैं घटको नहीं जानता' इस सार्वलौकिक अनुभवसे भी विरोध होगा। अतः अज्ञात स्फुरण ही प्रकाशमान रहकर अपनेमें अध्यस्त घटादिको प्रकाशित करता है, इस प्रकार अज्ञातमें (अज्ञात स्फुरणमें) घटादिके कल्पित होनेकी भी सिद्धि हो जाती है। अन्यथा जड होनेके कारण घटादिके अज्ञातत्व और भान दोनोंकी ही सिद्धि नहीं हो सकती। स्फुरण तो अपनेमें अध्यस्त अज्ञानके कारण ही अज्ञात है—यह बात भगवान् स्वयं ही 'ज्ञान अज्ञानसे ढका हुआ है, इसीसे जीव मोहको प्राप्त होते हैं' इस स्थलपर कहेंगे। इससे उसकी विभुता भी सिद्ध होती है। इसी प्रकार 'ब्रह्म महद्भूत अनन्त अपार और विज्ञानघन ही है' तथा 'ब्रह्म सत्य ज्ञानस्वरूप और अनन्त है' ये श्रुतियाँ भी ज्ञानकी महत्ता और अनन्तता प्रदर्शित करती हैं। अपनेमें अध्यस्त सभी पदार्थोंसे सम्बन्ध रखना

१. अन्यथा = अज्ञात स्फुरण (चेतन) में घटादिका अध्यास न माननेपर। घटादि जड़ वर्गपर अज्ञानकी कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि जिसके आवृत और अनावृत होनेपर कोई विशेषता अनुभवमें आती है, उस वस्तुपर ही आवरण (अज्ञान) की कल्पना की जाती है। दीपकके आवृत होनेपर घटादिका भान नहीं होता और अनावृत्त होनेपर घटादिका भान होता है, अतः प्रदीप प्रकाशपर आवरणकी कल्पना होती है। घटादिके आवृत और अनावृत होनेपर कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती, अतः घटादि पर आवरण (अज्ञान) की कल्पना नहीं होती। यद्यपि प्रदीपादिके रहनेपर भी घट यदि वस्त्रादिसे आवृत हो तो प्रकाशित नहीं होता और आवृत न होनेपर प्रकाशित होता है। तथापि यह विशेषता भी प्रकाशके आवृत और अनावृत होनेसे ही होती है—घटका आवरक (आच्छादक) वस्त्र घटतक प्रकाशको पहुँचने नहीं देता, अतः वह प्रकाशका ही आवरण है, घटका नहीं। इस प्रकार चैतन्य प्रकाशके आवृत और अनावृत होनेपर विशेषता (जगत्का अभान और भान) स्पष्ट परिलक्षित होती है, अतः उसपर ही अज्ञानकी कल्पना की जाती है। चैतन्य प्रकाश स्वगत अज्ञातत्वका भी भासक हो जाता है। घटादिपर न तो अज्ञातत्व ही बन सकता है और न उनसे उस अज्ञातत्वका भान।

(१) एतेन शून्यवादोऽपि प्रत्युक्तः, निरधिष्ठानभ्रमायोगान्निरवधिबाधायोगाच्च । तथा श्रुतिः 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' (कठ० ३।११) इति सर्वबाधावधिं पुरुषं परिशिनष्टि । उक्तं च भाष्यकारैः—सर्वं विनश्यद्वस्तुजातं पुरुषान्तं विनश्यति पुरुषो विनाशहेत्वभावान्न विनश्यति' यह ब्रह्मकी महत्ता है तथा देश काल वस्तु तीनोंके परिच्छेदसे शून्य होना उसकी अनन्तता है—इस प्रकार इनका विवेक कर लेना चाहिये ।

(१) इससे शून्यवादका भी निराकरण हो गया, क्योंकि अधिष्ठानके बिना कोई भ्रम नहीं हो सकता और वस्तुका अमर्याद बाध होना असम्भव है । इसी प्रकार 'पुरुषसे परे कुछ नहीं है, वही सीमा है और वही परा गति है' यह श्रुति भी पुरुषको सम्पूर्ण बाधकी अवधिरूपसे शेष रखती है । भगवान् भाष्यकारने भी कहा है—'नष्ट होनेवाली सभी वस्तुएँ पुरुष पर्यन्त ही नष्ट होती हैं, पुरुष, विनाश का कोई हेतु न होनेके कारण,

१. शून्यवादमें दिये गये दोषोंका अनुवाद स्वयं नागार्जुनने किया है—

'यदि शून्यमिदं सर्वमुदयो नास्ति न व्ययः । चतुर्णामार्यसत्यानामभावस्ते प्रसज्यते ॥
संघो नास्ति न चेत् सन्ति तेऽष्टौ पुरुषपुद्गलाः । अभावाबार्यसत्यानां सद्धर्मोऽपि न विद्यते ॥
धर्मे चाऽसति संघे च कथं बुद्धो भविष्यति । एवं त्रीण्यपि रत्नानि ब्रुवाणः प्रतिबाधसे ॥
शून्यतां फलसद्भावमधर्मं धर्ममेव च । सर्वसंव्यवहारांश्च लौकिकान् प्रतिबाधसे ॥
(मा० का० २४, १–६)

अर्थात् 'यदि यह सब कुछ शून्य है, तब न किसीका उत्पाद होता है, न व्यय (नाश), अतः प्रतीत्यसमुत्पादवाद समाप्त हो जाता है । आपके चार आर्यसत्य (दुःख, दुःखका कारण, दुःखनिरोध और उसका मार्ग) भी सिद्ध न होंगे । संघ न होगा, संघ यदि नहीं, तब आपके आठ रुरुष (स्रोतआपन्न, सकृदागामी, अनागामी, और अर्हत्—चार मार्गस्थ और चार फलस्थ आठ पुरुष) कहाँ होंगे ? आर्य सत्योंके न होनेपर सद्धर्मका भी अभाव मानना होगा । धर्म और संघके न होनेपर बुद्ध भी न होगा । इस प्रकार शून्यतावादी तीनों रत्नों (धर्म, संघ और बुद्ध) का बाध कर रहा है । इतना ही नहीं, फल-सद्भाव, अधर्म और धर्म, समस्त लौकिक व्यवहारका भी बाध कर डालता है ।'

इन आक्षेपोंका समाधान करते हुए नागार्जुनने वहीं कहा है—

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना ।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः ॥
यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे ।

अर्थात् 'लोगोंने 'शून्य' का अर्थ 'कुछ न' अभाव समझकर हमारे ऊपर दोष दिया है । किन्तु हम अभावको शून्य नहीं कहते, अपितु प्रतीत्यसमुत्पाद (कार्य-कारण सापेक्षतावाद) को 'शून्य' शब्दसे कहा करते हैं और दो सत्यों (सांवृतिक और पारमार्थिक) को मानकर बुद्धका शासन प्रकाशमें आया है, अतः इसमें किसी प्रकारकी त्रुटि नहीं—इसपर वेदान्ताचार्योंका कहना है कि ठीक है, दो सत्योंके आधारपर ही हम भी विश्व-व्यवस्था कर पाते हैं । किन्तु सांवृतिक सत्य जिस आधारपर कल्पित हुआ है, वह आधार आप सत् मानते हैं ? या असत् ? आप कालत्रयबाधविधुर सत् नहीं मानते, अतः व्यावहारिक जगत्की कल्पना आपके मतमें सम्भव नहीं, क्योंकि कोई भी कल्पना या भ्रान्ति सत् वस्तु पर ही हो सकती है, वाचस्पति मिश्रने कहा है—'आरोपश्च तत्त्वाधिष्ठानो दृष्टः' (ब्र० सू० २।२।२१) । अतः भले ही आप प्रतीत्यसमुत्पादको ही शून्यता कहें, किन्तु उसे सत् तो नहीं कहते, अतः आप व्यावहारिक सत्यकी व्यवस्था नहीं कर सकते । यहाँ 'निरधिष्ठानभ्रमायोगात्' का अर्थ है—अतत्त्वाधिष्ठानभ्रमायोगात् ।

इति । एतेन क्षणिकवादोऽपि परास्तः, अबाधितप्रत्यभिज्ञानादन्यदृष्टान्यस्मरणाद्यनुपपत्तेश्च । तस्मादेकस्य सर्वानुस्यूतस्य स्वप्रकाशस्फुरणस्य सतः सर्वप्रकारपरिच्छेदशून्यत्वादुपपन्नं नाभावो विद्यते सत इति ॥ १७ ॥

(१) ननु स्फुरणरूपस्य सतः कथमविनाशित्वं तस्य देहधर्मत्वाद् देहस्य चानुक्षणविनाशादिति भूतचैतन्यवादिनस्तान्निराकुर्वन्नासतो विद्यते भाव इत्येतद्विवृणोति—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

(२) अन्तवन्तो विनाशिन इमेऽपरोक्षा देहा उपचितापचितरूपत्वाच्छरीराणि । बहुवचना-

नष्ट नहीं होता ।' इससे क्षणिक विज्ञानवादका भी निरास हो गया, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष होती है और अन्यके देखे हुए पदार्थ का किसी अन्यको स्मरण नहीं हो सकता । अतः सबमें अनुस्यूत एक स्वयंप्रकाश स्फुरणरूप सत् सब प्रकारके परिच्छेदसे शून्य होनेके कारण 'सत्का अभाव नहीं होता' यह कथन ठीक ही है ॥ १७ ॥

(१) भूतोंको चैतन्य बतानेवालोंका कथन है कि स्फुरणरूप सत् अविनाशी कैसे हो सकता है, क्योंकि वह तो देहका ही धर्म है और देहका क्षण-क्षणमें नाश हो रहा है । उनका निराकरण करनेके लिए भगवान् 'नासतो विद्यते भावः' इसे स्पष्ट करते हैं—

[श्लोकार्थः—हे अर्जुन ! नित्य, अविनाशी और अप्रमेय आत्माके ये शरीर नाशवान् हैं, इसलिये तुम युद्ध करो ॥ १८ ॥]

(२) ये—प्रत्यक्ष शरीर वृद्धि और ह्रासवाले होनेके कारण अन्तवान्=विनाशी हैं ।

१. क्षणिकवादमें अबाधित-प्रत्यभिज्ञा-अनुपपत्ति दोषका शान्तरक्षितने अनुवाद करके खण्डन किया है—

'ननु च प्रत्यभिज्ञानं स एवेत्युपजायते । अक्षव्यापारसद्भावे निष्प्रकम्पमबाधितम् ॥
ततः प्रत्यक्षबाधेयं दुर्वारा सर्वहेतुषु । क्षणभङ्गप्रसिद्ध्यर्थमुपात्तेषु प्रसज्यते ॥
न खलु प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यक्षमुपपद्यते । भ्रान्तं च प्रत्यभिज्ञानं प्रत्येकं तद्विलक्षणम् ॥
(तत्त्वसं० ४४४–४७)

अर्थात् यह बात ठीक है कि क्षणिकत्व पक्षमें प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिका दोष दिया जाता, किन्तु प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं, यह तो भ्रमज्ञान है, अतः यह बाधक ही नहीं बनती । परन्तु प्रत्यभिज्ञाकी लोकमें सिद्ध प्रमाणताका अपलाप नहीं किया जा सकता, इसके आधारपर व्यवस्था करनी होगी, आपके कपोलकल्पित क्षणिकत्वको सामने रखकर प्रत्यभिज्ञाको भ्रम नहीं कहा जा सकता, अपितु अबाधित प्रत्यभिज्ञाके बलपर स्थिरभाव की ही सिद्धि होती है, क्षणिकवादकी नहीं ।

२. शरीर तीन प्रकारके हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण । जाग्रत्कालमें स्थूल शरीरका (अहं गौरः आदिरूपसे) प्रत्यक्ष होता है । सूक्ष्म शरीरका जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओंमें (अहं सुखी, अहं ज्ञानवान् आदिरूपसे) प्रत्यक्ष होता है एवं कारण शरीर (अज्ञान) का सुषुप्तिमें (न किञ्चिदवेदिषम् आदिरूपसे) प्रत्यक्ष होता है । इस प्रकार सभी शरीर अपरोक्ष हैं ।

३. उपचयार्थक 'दिह' धातुसे 'देह' शब्द बना है । उपचित (वृद्धिगत) वस्तुका अपचित (क्षीण) होना अनिवार्य है, अतः देहोंको उपचितापचितरूप कहा है । 'अपचित' पदके योगसे अन्तवत्ता नितान्त प्रकट हो जाती है, अतः सरस्वतीजीने यह पद अपनी ओरसे जोड़ा है ।

(१) एतेन शून्यवादोऽपि प्रत्युक्तः, निरधिष्ठानभ्रमायोगान्निरवधिबाधायोगाच्च। तथा श्रुतिः 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' (कठ० ३।११) इति सर्वबाधावधिं पुरुषं परिशिनष्टि। उक्तं च भाष्यकारैः—सर्वं विनश्यदृवस्तुजातं पुरुषान्तं विनश्यति पुरुषो विनाशहेत्वभावान्न विनश्यति' यह ब्रह्मकी महत्ता है तथा देश काल वस्तु तीनोंके परिच्छेदसे शून्य होना उसकी अनन्तता है—इस प्रकार इनका विवेक कर लेना चाहिये।

(१) इससे शून्यवादका भी निराकरण हो गया, क्योंकि अधिष्ठानके बिना कोई भ्रम नहीं हो सकता और वस्तुका अमर्याद बाध होना असम्भव है। इसी प्रकार 'पुरुषसे परे कुछ नहीं है, वही सीमा है और वही परा गति है' यह श्रुति भी पुरुषको सम्पूर्ण बाधकी अवधिरूपसे शेष रखती है। भगवान् भाष्यकारने भी कहा है—'नष्ट होनेवाली सभी वस्तुएँ पुरुष पर्यन्त ही नष्ट होती हैं, पुरुष, विनाश का कोई हेतु न होनेके कारण,

१. शून्यवादमें दिये गये दोषोंका अनुवाद स्वयं नागार्जुनने किया है—

'यदि शून्यमिदं सर्वमुदयो नास्ति न व्ययः। चतुर्णामार्यसत्यानामभावस्ते प्रसज्यते॥
संघो नास्ति न चेत् सन्ति तेऽष्टौ पुरुषपुद्गलाः। अभावाद्बार्यसत्यानां सद्धर्मोऽपि न विद्यते॥
धर्मे चाऽसति संघे च कथं बुद्धो भविष्यति। एवं त्रीण्यपि रत्नानि ब्रुवाणः प्रतिबाधसे॥
शून्यतां फलसद्भावमधर्मं धर्ममेव च। सर्वसंव्यवहारांश्च लौकिकान् प्रतिबाधसे॥
(मा० का० २४, १-६)

अर्थात् 'यदि यह सब कुछ शून्य है, तब न किसीका उत्पाद होता है, न व्यय (नाश), अतः प्रतीत्यसमुत्पादवाद समाप्त हो जाता है। आपके चार आर्यसत्य (दुःख, दुःखका कारण, दुःखनिरोध और उसका मार्ग) भी सिद्ध न होंगे। संघ न होगा, संघ यदि नहीं, तब आपके आठ रुरुष (स्रोतआपन्न, सकृदागामी, अनागामी, और अर्हत्—चार मार्गस्थ और चार फलस्थ आठ पुरुष) कहाँ होंगे? आर्य सत्योंके न होनेपर सद्धर्मका भी अभाव मानना होगा। धर्म और संघके न होनेपर बुद्ध भी न होगा। इस प्रकार शून्यतावादी तीनों रत्नों (धर्म, संघ और बुद्ध) का बाध कर रहा है। इतना ही नहीं, फल-सद्भाव, अधर्म और धर्म, समस्त लौकिक व्यवहारका भी बाध कर डालता है।'

इन आक्षेपोंका समाधान करते हुए नागार्जुनने वहीं कहा है—

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥
यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।

अर्थात् 'लोगोंने 'शून्य' का अर्थ 'कुछ न' अभाव समझकर हमारे ऊपर दोष दिया है। किन्तु हम अभावको शून्य नहीं कहते, अपितु प्रतीत्यसमुत्पाद (कार्य-कारण सापेक्षतावाद) को 'शून्य' शब्दसे कहा करते हैं और दो सत्यों (सांवृतिक और पारमार्थिक) को मानकर बुद्धका शासन प्रकाशमें आया है, अतः इसमें किसी प्रकारकी त्रुटि नहीं'—इसपर वेदान्ताचार्योंका कहना है कि ठीक है, दो सत्योंके आधारपर ही हम भी विश्व-व्यवस्था कर पाते हैं। किन्तु सांवृतिक सत्य जिस आधारपर कल्पित हुआ है, वह आधार आप सत् मानते हैं? या असत्! आप कालत्रयबाधविधुर सत् नहीं मानते, अतः व्यावहारिक जगत्की कल्पना आपके मतमें सम्भव नहीं, क्योंकि कोई भी कल्पना या भ्रान्ति सत् वस्तु पर ही हो सकती है, वाचस्पति मिश्रने कहा है—'आरोपश्च तत्त्वाधिष्ठानो दृष्टः' (ब्र० सू० २।२।२१)। अतः भले ही आप प्रतीत्यसमुत्पादको ही शून्यता कहें, किन्तु उसे सत् तो नहीं कहते, अतः आप व्यावहारिक सत्यकी व्यवस्था नहीं कर सकते। यहाँ 'निरधिष्ठानभ्रमायोगात्' का अर्थ है—अतत्त्वाधिष्ठानभ्रमायोगात्।

इति। एतेन क्षणिकवादोऽपि परास्तः, अबाधितप्रत्यभिज्ञानादन्यदृष्टान्यस्मरणाद्यनुपपत्तेश्च। तस्मादेकस्य सर्वानुस्यूतस्य स्वप्रकाशस्फुरणस्य सतः सर्वप्रकारपरिच्छेदशून्यत्वादुपपन्नं नाभावो विद्यते सत इति॥ १७॥

(१) ननु स्फुरणरूपस्य सतः कथमविनाशित्वं तस्य देहधर्मत्वाद् देहस्य चानुक्षणविनाशादिति भूतचैतन्यवादिनस्तान्निराकुर्वन्नासतो विद्यते भाव इत्येतद्विवृणोति—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥ १८॥

(२) अन्तवन्तो विनाशिन इमेऽपरोक्षा देहा उपचितापचितरूपत्वाच्छरीराणि। बहुवचना-

नष्ट नहीं होता।' इससे क्षणिक विज्ञानवादका भी निरास हो गया, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष होती है और अन्यके देखे हुए पदार्थ का किसी अन्यको स्मरण नहीं हो सकता। अतः सबमें अनुस्यूत एक स्वयंप्रकाश स्फुरणरूप सत् सब प्रकारके परिच्छेदसे शून्य होनेके कारण 'सत्का अभाव नहीं होता' यह कथन ठीक ही है॥ १७॥

(१) भूतोंको चैतन्य बतानेवालोंका कथन है कि स्फुरणरूप सत् अविनाशी कैसे हो सकता है, क्योंकि वह तो देहका ही धर्म है और देहका क्षण-क्षणमें नाश हो रहा है। उनका निराकरण करनेके लिए भगवान् 'नासतो विद्यते भावः' इसे स्पष्ट करते हैं—

[श्लोकार्थः—हे अर्जुन! नित्य, अविनाशी और अप्रमेय आत्माके ये शरीर नाशवान् हैं, इसलिये तुम युद्ध करो॥ १८॥]

(२) ये—प्रत्यक्ष शरीर वृद्धि और ह्रासवाले होनेके कारण अन्तवान्=विनाशी हैं।

१. क्षणिकवादमें अबाधित प्रत्यभिज्ञा-अनुपपत्ति दोषका शान्तरक्षितने अनुवाद करके खण्डन किया है—

'ननु च प्रत्यभिज्ञानं स एवेत्युपजायते। अक्षव्यापारसद्भावे निष्प्रकम्पमबाधितम्॥
ततः प्रत्यक्षबाधेयं दुर्वारा सर्वहेतुषु। क्षणभङ्गप्रसिद्ध्यर्थमुपात्तेषु प्रसज्यते॥
न खलु प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यक्षमुपपद्यते। भ्रान्तं च प्रत्यभिज्ञानं प्रत्येकं तद्विलक्षणम्॥
(तत्त्वसं० ४४४-४७)

अर्थात् यह बात ठीक है कि क्षणिकत्व पक्षमें प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिका दोष दिया जाता, किन्तु प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं, यह तो भ्रमज्ञान है, अतः यह बाधक ही नहीं बनती। परन्तु प्रत्यभिज्ञाकी लोकमें सिद्ध प्रमाणताका अपलाप नहीं किया जा सकता, इसके आधारपर व्यवस्था करनी होगी, आपके कपोलकल्पित क्षणिकत्वको सामने रखकर प्रत्यभिज्ञाको भ्रम नहीं कहा जा सकता, अपितु अबाधित प्रत्यभिज्ञाके बलपर स्थिरभाव की ही सिद्धि होती है, क्षणिकवादकी नहीं।

२. शरीर तीन प्रकारके हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। जाग्रत्कालमें स्थूल शरीरका (अहं गौरः आदिरूपसे) प्रत्यक्ष होता है। सूक्ष्म शरीरका जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओंमें (अहं सुखी, अहं ज्ञानवान् आदिरूपसे) प्रत्यक्ष होता है एवं कारण शरीर (अज्ञान) का सुषुप्तिमें (न किञ्चिदवेदिषम् आदिरूपसे) प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार सभी शरीर अपरोक्ष हैं।

३. उपचयार्थक 'दिह' धातुसे 'देह' शब्द बना है। उपचित (वृद्धिगत) वस्तुका अपचित (क्षीण) होना अनिवार्य है, अतः देहोंको उपचितापचितरूप कहा है। 'अपचित' पदके योगसे अन्तवत्ता नितान्त प्रकट हो जाती है, अतः सरस्वतीजीने यह पद अपनी ओरसे जोड़ा है।

स्थूलसूक्ष्मकारणरूपा विराट्सूत्राव्याकृताख्याः समष्टिव्यष्ट्यात्मनः सर्वे नित्यस्याविनाशिन एव शरीरिण आध्यासिकसंबन्धेन शरीरवत एकस्याऽऽत्मनः स्वप्रकाशस्फुरणरूपस्य संबन्धिनो दृश्यत्वेन भोग्यत्वेन चोक्ताः श्रुतिभिर्ब्रह्मवादिभिश्च । तथाच तैत्तिरीयकेऽन्नमयाद्यानन्दमयान्तान्पञ्च कोशान्कल्पयित्वा तदधिष्ठानमकल्पितं 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० २।५) इति दर्शितम् । तत्र पञ्चीकृतपञ्चमहाभूततत्कार्यात्मको विराण्मूर्तराशिरन्नमयकोशः स्थूलसमष्टिः । तत्कारणीभूतोऽपञ्चीकृतपञ्चमहाभूततत्कार्यात्मको हिरण्यगर्भः सूत्रममूर्तराशिः सूक्ष्मसमष्टिः 'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म' (१।६।१) इति बृहदारण्यकोक्त्यात्मकः सर्वकर्मात्मकत्वेन क्रियाशक्तिमात्रमादाय प्राणमयकोश उक्तः । नामरूपात्मकत्वेन ज्ञानशक्तिमात्रमादाय मनोमयकोश उक्तः । रूपात्मकत्वेन तदुभयाश्रयतया कर्तृत्वमादाय विज्ञानमयकोश उक्तः । ततः प्राणमयमनोमयविज्ञानमयात्मैक एव हिरण्यगर्भाख्यो लिङ्गशरीरकोशः । तत्कारणीभूतस्तु मायोपहितचैतन्यात्मा सर्वसंस्कारशेषोऽव्याकृताख्य आनन्दमयकोशः । ते च सर्व एकस्यैवाऽऽत्मनः शरीराणीत्युक्तम् । 'तस्यैष एव शारीर 'आत्मा यः पूर्वस्य' (तै० २।३।४) इति । तस्य प्राणमयस्यैष एव शरीरे भवः शारीर आत्मा यः सत्यज्ञानादिलक्षणो गुहानिहितत्वेनोक्तः पूर्वस्यान्नमयस्य । एवं प्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयेषु योज्यम् ।

(१) अथवेमे सर्वे देहाख्यैलोक्यवर्तिसर्वप्राणिसंबन्धिन एकस्यैवाऽऽत्मन उक्ता इति योजना ।

तथा च श्रुतिः—

'देहाः' इस पदमें बहुवचन होनेके कारण स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप तथा अव्याकृत, सूत्र और विराट्संज्ञक सभी व्यष्टि-समष्टि देह समझने चाहिये। ये नित्य और अविनाशी शरीरके ही हैं और उस एकमात्र स्वयंप्रकाश स्फुरणरूप देहधारी आत्मासे आध्यासिक सम्बन्धसे सम्बद्ध हैं। श्रुति और ब्रह्मवादियोंने भी इनका उसके दृश्य और भोग्यरूपसे वर्णन किया है। इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद्में भी अन्नमयसे लेकर आनन्दमयपर्यन्त पाँच कोशोंकी कल्पना करके 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस वाक्यसे उनके अधिष्ठानको अकल्पित बताया है। उनमें पञ्चीकृत पाँचभूत और उनके कार्योंसे बना हुआ अन्नमय कोशरूप विराट् मूर्तसमुदाय स्थूलसमष्टि है। इसका कारणरूप अपञ्चीकृत पञ्चभूत और उनके कार्योंसे संगठित हिरण्यगर्भ एवं सूत्ररूप अमूर्तसमुदाय सूक्ष्मसमष्टि है। यह 'नाम'रूप और कर्म—ये तीन अन्न हैं' इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् में कहे हुए तीन अन्नोंसे बना हुआ है। इस श्रुतिने केवल क्रियाशक्तिको लेकर कर्मात्मकरूपसे प्राणमयकोशका केवल ज्ञानशक्तिको लेकर नामात्मकरूपसे मनोमय कोशका और उन दोनोंके आश्रयरूपसे केवल कर्तृत्वको लेकर रूपात्मकरूपसे विज्ञानमय कोशका वर्णन किया है। इस प्रकार प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमयरूप एक ही हिरण्यगर्भसंज्ञक लिंगशरीर कोश है। उसका कारण मायोपहित चैतन्यस्वरूप और सम्पूर्ण संस्कारोंका शेषभूत जो अव्याकृत नामका समष्टि शरीर है वह आनन्दमयकोश है। ये सब एक ही आत्माके शरीर हैं—यह बात 'तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य' इस श्रुतिने कही है। अर्थात् इस प्राणमय कोशका शरीरमें रहनेवाला वह शारीर आत्मा है जो सत्यज्ञानादिलक्षण देहा हृदयाकाशमें निहितरूपसे पहले अन्नमयकोशका आत्मा बताया गया है। इसी प्रकार प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशोंमें भी लगा लेना चाहिये।

(१) अथवा त्रिलोकीमें रहनेवाले समस्त प्राणियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले ये सारे

१. इस कोशका वही देही आत्मा है जो इससे पहलेका है।

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' ॥ (श्वेता० ६।११)

इति सर्वशरीरसंबन्धिनमेकमात्मानं नित्यं विभुं दर्शयति ।

(१) ननु नित्यत्वं यावत्कालस्थायित्वं तथा चाविद्यादिवत्कालेन सह नाशेऽपि तदुपपन्नमित्यत आह—अनाशिन इति । देशतः कालतो वस्तुतश्च परिच्छिन्नस्याविद्यादेः कल्पितत्वेनानित्यत्वेऽपि यावत्कालस्थायिस्वरूपमौपचारिकं नित्यत्वं व्यवह्रियते 'यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्' (ब्र० सू० २।३।७) इति न्यायात् । आत्मनस्तु परिच्छेदत्रयशून्यस्याकल्पितस्य विनाशहेत्वभावान्मुख्यमेव कूटस्थनित्यत्वं न तु परिणामिनित्यत्वं यावत्कालस्थायित्वं चेत्यभिप्रायः ।

देह एक ही आत्माके बताये गये हैं—इस प्रकार इसका अर्थ लगाना चाहिये। इसी प्रकार 'एक ही देव समस्त प्राणियोंमें छिपा हुआ, सर्वव्यापी, समस्त भूतोंका अन्तरात्मा, कर्मोंका प्रवर्तक, समस्त प्राणियोंका निवासस्थान, साक्षी, चैतन्य, केवल (अद्वितीय) और निर्गुण है' यह श्रुति भी समस्त शरीरोंसे सम्बन्ध रखनेवाले एक ही नित्य और विभु आत्मा को प्रदर्शित करती है।

(१) यदि कहो कि नित्यता तो कालकी स्थितिपर्यन्त रहनेका नाम है। इस दृष्टिसे अविद्यादिके समान कालके साथ नष्ट हो जानेपर भी आत्माका नित्यत्व माना ही जा सकता है—तो इस पर भगवान् कहते हैं—'अनाशिनः' इत्यादि। अर्थात् देश, काल और वस्तुसे परिच्छिन्न अविद्यादिके कल्पित होनेके कारण अनित्य होनेपर भी उनके लिये 'यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्' इस न्यायसे कालकी सत्तापर्यन्त स्थित रहनारूप औपचारिक नित्यत्वका व्यवहार होता है। किन्तु तीनों प्रकारके परिच्छेदसे शून्य अकल्पित आत्माके विनाशका तो कोई कारण ही नहीं है, इसलिये उसकी मुख्य कूटस्थनित्यता मानी

१. आकाश नित्य है ? या अनित्य ? इस प्रकारके सन्देहपर किसी एकदेशीका कहना था कि आकाश नित्य है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति श्रुतियोंमें नहीं कही गई है और जो (आत्मनः आकाशः सम्भूतः) श्रुति आकाशकी उत्पत्ति बताती है, वह गौणार्थक है, क्योंकि आकाशकी जनक (समवायिकारण आदि) सामग्री प्रसिद्ध नहीं, अतः उसकी उत्पत्ति सम्भव ही नहीं, प्रत्युत आकाशको नित्य सिद्ध करनेवाले (वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम् आदि) प्रमाण विद्यमान हैं। इसपर सिद्धान्तीने कहा है—'यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्' (ब्र० सू० २।३।७)। अर्थात् जो कुछ भी घट-पट आदि विकार जगत् है, उसका अपने अन्यूनसत्ताक पदार्थोंसे विभाग (भेद या वस्तु परिच्छेद) मानना पड़ेगा, क्योंकि लोकमें ऐसा ही देखा जाता है। फलतः जहाँ-जहाँ ऐसा भेद देखा जाय, उसका विकार (जन्म) ही मानना चाहिए। आकाश भी अपने अन्यून सत्तावाले घटादि से भिन्न होनेके कारण विकृत या जन्य ही सिद्ध होता है। ब्रह्ममें भी घटादिका भेद अवश्य है, किन्तु घटादिकी व्यावहारिक सत्ता मानी जाती है, पारमार्थिक नहीं, अतः वे ब्रह्मकी अपेक्षा न्यूनसत्तावाले ही हैं, उनका भेद विकारका साधक नहीं होता। हाँ, आकाशको नित्य बतानेवाले वाक्योंका तात्पर्य आकाशकी चिरस्थिरतामात्र बतानेमें है। यहाँ 'कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य' (सांख्य० १५) में कथित कारणसे कार्यका आविर्भावरूप विभाग विवक्षित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इसी सूत्रमें भगवान् भाष्यकार कहते हैं—'विभागश्चाकाशस्य पृथिव्यादिभ्योऽवगम्यते ।' 'आत्माप्याकाशादिभ्यो विभक्तः ।' अतः उक्त 'विभाग' पद भेदका ही वाचक है।

२. आकाशादि जितना विकार है उस सभीमें व्यावहारिक भेदके समान विभाग देखा जाता है।

(१) नन्वेतादृशे देहिनि किंचिदप्रमाणमवश्यं वाच्यमन्यथा निष्प्रमाणस्य तस्याऽलीकत्वापत्तेः शास्त्रारम्भवैयर्थ्यापत्तेश्च । तथा च वस्तुपरिच्छेदो दुष्परिहरः[1] 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) इति न्यायाच्च, अत आह—अप्रमेयस्येति । 'एकमेवाद्वितीयं सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (बृह० ४।५।२) अप्रमेयमप्रमेयम् ।

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः (कठ० २।२।१५) । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मुं० २।२।१०) ॥

इति च श्रुतेः स्वप्रकाशचैतन्यरूप एवाऽऽत्माऽतस्तस्य सर्वभासकस्य स्वभानार्थं न स्वभास्यापेक्षा, किंतु कल्पिताज्ञानतत्कार्यनिवृत्त्यर्थं कल्पितवृत्तिविशेषापेक्षा, कल्पितस्यैव कल्पितविरोधित्वात्, 'यक्षानुरूपो बलिः' इति न्यायात् । तथा च सर्वकल्पितनिवर्तकवृत्तिविशेषोत्पत्त्यर्थं[2]

गयी है, परिणामिनित्यता या कालकी स्थितिपर्यन्त रहना नहीं माना गया—ऐसा इसका अभिप्राय है ।

(१) 'किन्तु इस प्रकारके देहधारीके विषयमें कोई प्रमाण तो अवश्य चताना चाहिये, नहीं तो प्रमाणहीन होनेसे उसकी अलीकता प्राप्त होगी और ऐसी स्थितिमें उसके लिये शास्त्रका आरम्भ ही व्यर्थ हो जायगा और यदि 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) इस न्यायसे उसे [उपनिषद्वेद्य] मानेंगे तो उसके वस्तुपरिच्छेदका निराकरण करना कठिन होगा' ऐसी आशंका करके भगवान् कहते हैं—'अप्रमेयस्य' जो किसी प्रमाणसे न जाना जा सके उसे 'अप्रमेय' कहते हैं । 'इस अप्रमेय और नित्य ब्रह्मतत्त्वको एक प्रकार ही देखना चाहिये' तथा 'उस ब्रह्मतत्त्वमें सूर्यका प्रकाश नहीं है और चन्द्रमा, तारे एवं ये बिजलियाँ भी उसे प्रकाशित नहीं करतीं, फिर यह अग्नि तो कर ही कैसे सकता है ? उसके प्रकाशित होनेके पीछे ही सब प्रकाशित होते हैं तथा उसके प्रकाशसे ही ये सब प्रकाशित हैं' इन श्रुतियोंसे भी आत्मा स्वप्रकाश चैतन्यस्वरूप सिद्ध होता है । अतः सबके प्रकाशक उस आत्माको अपने प्रकाशके लिये अपने किसी भास्यकी अपेक्षा नहीं है, किन्तु कल्पित अज्ञान और उसके कार्यकी निवृत्तिके लिए एक कल्पित वृत्तिविशेषकी

१. सभी शास्त्र देहमें विद्यमान देही (आत्मा) के लिए ही अभ्युदय और मोक्षका उपदेश कर रहे हैं, यह शरीर तो यहीं जल-गल जाता है, यह न स्वर्ग जा सकता है और न मुक्त हो सकता है । यदि देहादिसे अतिरिक्त कोई देही प्रमाण-सिद्ध नहीं, तब सभी शास्त्र अरण्य-रोदनके समान निष्प्रयोजन हो जायँगे ।

२. तथा च = देही (आत्मा) के प्रमाण-सिद्ध हो जाने पर । एक ही वस्तु प्रमाण और प्रमेय हो नहीं सकती, अतः देहीरूप प्रमेयसे भिन्न प्रमाण कहना होगा, तब प्रमाणका भेद देहीमें रह जाता है और देहीमें वस्तुपरिच्छेद मानना पड़ता है ।

३. शास्त्र ही ब्रह्मकी योनि (उसे जाननेका साधन) है, उससे भिन्न और कोई प्रमाण नहीं है ।

४. वेदान्त-वाक्य-जन्य ब्रह्माकार वृत्तिका उपयोग ब्रह्मको अवभासित करनेमें नहीं, अपितु ब्रह्मविषयक अज्ञानको नष्ट करनेमें होता है । उक्त अज्ञान कल्पित है, अतः उसे नष्ट करनेके लिए वैसे ही कल्पित नाशककी अपेक्षा है, स्वप्नके अन्धकारको स्वप्नके दीपकसे ही दूर किया जाता है ।

५. ब्रह्मात्मगोचर अखण्डाकार निर्विकल्पक वृत्तिकी उत्पत्ति 'तत्त्वमसि' आदि शास्त्रोंपर ही निर्भर है । उक्त वृत्तिके बिना मोक्षरूप परमपुरुषार्थकी प्राप्ति नहीं हो सकती । अतः परमपुरुषार्थ-साधक शास्त्रकी सार्थकता इसीमें है कि उससे उक्त निर्विकल्प वृत्तिकी निष्पत्ति की जाय । इस वृत्तिकी

शास्त्रारम्भः, तस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यमात्राधीनत्वात् । स्वतः सर्वदाभासमानत्वात्सर्वकल्पनाधिष्ठानत्वाद्दृश्यमात्रभासकत्वाच्च न तस्य तुच्छत्वापत्तिः । तथा चैकमेवाद्वितीयं सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादिशास्त्रमेव स्वप्रमेयानुरोधेन स्वस्यापि कल्पितत्वमापादयति अन्यथा स्वप्रामाण्यानुपपत्तेः[2] ।

(१) कल्पितस्य चाकल्पितपरिच्छेदकत्वं नास्तीति प्राक्प्रतिपादितम् । आत्मनः स्वप्रकाशत्वं च युक्तितोऽपि भगवत्पूज्यपादैरुपपादितम् । तथाहि—यत्र जिज्ञासोः संशयविपर्यय-

अपेक्षा है, क्योंकि 'यक्षके अनुरूप ही बलि होनी चाहिये' इस न्यायसे कल्पित ही कल्पित का विरोधी हो सकता है । इस प्रकार सम्पूर्ण कल्पित प्रपञ्चकी निवृत्ति करनेवाली उस वृत्तिविशेषकी उत्पत्तिके लिये ही शास्त्रका आरम्भ हुआ है, क्योंकि वह वृत्ति 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंके ही अधीन है । स्वयं सर्वदा प्रकाशमान रहने, समस्त कल्पनाओंका अधिष्ठान होने तथा दृश्यमात्रका प्रकाशक होनेके कारण उसके तुच्छत्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती । तथा अपने प्रमेयके अनुरोधसे 'एकमेवाद्वितीयम्' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि शास्त्र भी अपनेतक कल्पितत्वकी प्राप्ति करा देता है; नहीं तो उसका स्वतःप्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता ।

(१) यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि कल्पित पदार्थ अकल्पितका परिच्छेदक नहीं हो सकता । भगवान् शंकराचार्यने युक्तिसे भी आत्माका स्वयंप्रकाशत्व सिद्ध किया है, यथा—यह सर्वत्र देखा गया है जहाँ जिज्ञासुको संशय, विपर्यय और व्यतिरेक प्रमा इनमें से कोई नहीं होती वहीं इनका विरोधी ज्ञान होता है, नहीं तो इन तीनोंमेंसे कोई-न-

विषयता रहने पर भी ब्रह्मको प्रमेय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह वृत्ति स्वोपहित ब्रह्मको ही विषय करती है, शुद्ध ब्रह्मको नहीं, शुद्ध ब्रह्म अप्रमेय है । यदि वह वृत्ति स्वोपहित (स्व-विशिष्ट) ब्रह्मको विषय करती है, तब उसका विषय ब्रह्म सप्रकार (उक्त वृत्तिरूप प्रकारसे विशिष्ट) हो जाता है, अखण्ड (निर्विकल्पक) नहीं रहता; यह शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह वृत्ति प्रकार न बनकर ही ब्रह्मको स्वोपहित करती है, अतः वह ब्रह्म निर्विकल्पक ही है, विशिष्ट नहीं ।

१. तथा च = ब्रह्म प्रमाणका विषय होनेपर भी तुच्छ नहीं—यह सिद्ध हो जाने पर । 'एकमेवाद्वितीयम्'—इस शास्त्रका प्रमेय है—द्वैत-रहित ब्रह्म । यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यह शास्त्र सत् है ? या असत् ? यदि सत है, तब ब्रह्म अद्वितीय नहीं रहता, सद्वितीय हो जाता है, अतः उक्त शास्त्र बाधितार्थक हो जाता है, प्रमाण नहीं रहता । यदि असत् है, तब तो अप्रमाण है ही । इस चक्रव्यूहसे निकलनेके लिए उक्त शास्त्र ही मार्ग निकालता है और कहता है कि ब्रह्मसे अतिरिक्त सब द्वैत कल्पित है, मैं (शास्त्र) भी कल्पित हूँ, अतः हमारा प्रमेय अद्वितीय तत्त्व ही रहता है । इस प्रकार उक्त वाक्य प्रमाण बनता है । कल्पितका भेद अद्वितीय ब्रह्ममें रहनेपर भी वस्तुपरिच्छेद नहीं आता, क्योंकि अन्यूनसत्ताकप्रतियोगिक भेदको ही वस्तुपरिच्छेद कहा जाता है । ब्रह्ममें वस्तुपरिच्छेद तभी आ सकता है जब उसमें किसी पारमार्थिक वस्तुका ही भेद रहे, यह सम्भव नहीं ।

२. क्योंकि यदि वह अपनी असत्ता सिद्ध न करेगा तो ब्रह्मकी अद्वितीयता सिद्ध नहीं हो सकेगी, इसलिये परमार्थतः वह निखिल प्रपञ्चके साथ अपना भी बाध कर देता है ।

३. यत्र = जिस विषयमें जिज्ञासुको संशय, विपर्यय और व्यतिरेक प्रमा नहीं होती, उस विषयका जिज्ञासुको संशयादि-विरोधी निश्चय होता है । जैसे पुरुष-स्थलपर 'अयं पुरुषो न वा'—यह संशय है, 'अयं पुरुषो न'—यह विपर्यय है, 'अयं स्थाणुः'—यह विपरीत प्रमा है । 'अयं पुरुष एव'—इस प्रकारका निश्चय होनेपर उक्त संशयादि नहीं होते । वैसे ही आत्माके विषयमें 'अत्र शरीरे अहं न

व्यतिरेकप्रमाणानामन्यतममपि नास्ति तत्र तद्विरोधि ज्ञानमिति सर्वत्र द्रष्टव्यम्। अन्यथा त्रितयान्यतमापत्तेः। आत्मनि चाहं वा नाहं वेति न कस्यचित्संशयः, नापि नाहमिति विपर्ययो व्यतिरेकः प्रमा वेति तत्स्वरूपप्रमा सर्वदाऽस्तीति वाच्यं तस्य सर्वसंशयविपर्ययधर्मित्वात्, 'धर्म्यंशे सर्वमभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः'[1] इति न्यायात्। अत एवोक्तम्—

'प्रमाणमप्रमाणं च प्रमाभासस्तथैव च।
कुर्वन्त्येव प्रमां यत्र तदसंभावना कुतः॥' (बृह० वा० १।४।८७४)

प्रमाभासः संशयः। स्वप्रकाशे सद्रूपे धर्मिणि प्रमाणाप्रमाणयोर्विशेषो नास्तीत्यर्थः।[2] आत्मनोऽभासमानत्वे च घटज्ञानं मयि जातं न वेत्यादिसंशयः स्यात्। न चाऽऽन्तरपदार्थे विषयस्यैव संशयादिप्रतिबन्धकत्वस्वभावः कल्प्यः, बाह्यपदार्थे क्लृप्तेन विरोधिज्ञानेनैव संशयादिप्रतिबन्धसम्भावना होती है, आन्तर पदार्थमें स्वभावभेदकी कल्पना तो अनुचित ही है, नहीं तो सभी उलट-पुलट हो जायगा। [तार्किकोंके मतमें] आत्मा और मनका संयोगमात्र ही आत्मसाक्षात्कारमें हेतु है। यह ज्ञानमात्रमें कारण है, अतः घटादिका भान होते समय भी कोई तार्किकश्रेष्ठ समूहालम्बन न्यायसे आत्माके भानका सुगमतासे निराकरण नहीं कर सकता। घटादिके भानमें चाक्षुषत्व और मानसत्वका भी संकर (मेल) नहीं है, क्योंकि लौकिकत्व और अलौकिकत्वके समान अंशभेदसे भी ये दोनों प्रकारके ज्ञान रह सकते हैं। अथवा संकर कोई दोष न होनेके कारण तथा चाक्षुषत्व आदिमें कोई जाति न माननेके कारण भी ये दोनों प्रकारके ज्ञान रह सकते हैं। इससे

वा'—यह संशय, 'अत्राहं न'—यह विपर्यय और 'अत्र स्कन्धमात्रं'—इस प्रकारकी विपरीत प्रमा का न होना यह सिद्ध करता है कि 'अहमेवास्मि'—यह निश्चय सबको होता है। यहाँ संशय और विपर्यय दो ही पदार्थ विवक्षित नहीं, अपितु संशय, विपर्यय और विपरीत प्रमा तीन पदार्थ कहे गये हैं, नहीं तो 'संशयविपर्ययविपरीतप्रमाणामन्यतमम्' 'त्रितयान्यतमापत्तेः' इस प्रकारका लेख संगत न होगा। इसके अनुसार आगे 'व्यतिरेकप्रमा'—ऐसा पाठ चाहिए 'व्यतिरेकः प्रमा'—ऐसा नहीं, किन्तु मुद्रित पुस्तकोंमें 'व्यतिरेकः प्रमा'—ही पाठ मिलता है। श्री वाचस्पतिमिश्र तो 'संशयो विपर्ययो व्यतिरेकप्रमा वोदियात्'—ऐसा ही लिखा करते हैं।

१. धर्मी अंश जो सद्रूप आत्मा है उसके स्वरूपमें किसीको भ्रम नहीं है उसके प्रकार अर्थात् धर्मोंमें ही भ्रम हो रहा है।

२. क्योंकि वह तो प्रमाण और अप्रमाण दोनों का ही अधिष्ठान है।

संभव आन्तरपदार्थे स्वभावभेदकल्पनाया अनौचित्यात्। अन्यथा सर्वविप्लवापत्तेः। आत्ममनोयोगमात्रं चाऽऽत्मसाक्षात्कारे हेतुः। तस्य च ज्ञानमात्रे हेतुत्वाद् घटादिभानेऽप्यात्मभानं समूहालम्बनन्यायेन तार्किकाणां प्रवरेणापि दुर्निवारम्। न च चाक्षुषत्वमानसत्वादिसंकरः, लौकिकत्वालौकिकत्वबदंशभेदेनोपपत्तेः। संकरस्यादोषत्वाच्चाक्षुषत्वादेर्जातित्वानभ्युपगमाद्वा। व्यवसायमात्र एवाऽऽत्मभानसामग्र्यां विद्यमानत्वादनुव्यवसायोऽप्यपास्तः। न च व्यवसायभानार्थं स तस्य दीपवत्स्वव्यवहारे सजातीयानपेक्षत्वात्। न हि घटतज्ज्ञानयोरिव व्यवसायानुव्यवसाययोरपि विषयत्वविषयित्वव्यवस्थापकं वैजात्यमस्ति व्यक्तिभेदातिरिक्तवैधर्म्यानभ्युपगमात्। विषयत्वावच्छेदकरूपेणैव विषयित्वाभ्युपगमे घटतज्ज्ञानयोरपि तज्जातापत्तिरविशेषात्[3]।

व्यवसायमात्रमें ही आत्मभानकी सामग्री विद्यमान रहनेके कारण अनुव्यवसायका भी निराकरण हो जाता है। वह अनुव्यवसाय व्यवसायके भानके लिये नहीं हो सकता, क्योंकि दीपकके समान उसे अपने व्यवहारके लिये किसी दूसरे सजातीयकी अपेक्षा नहीं है। घट और घटज्ञानके समान व्यवसाय और अनुव्यवसायमें भी विषयत्व और विषयित्वकी व्यवस्था करनेवाली विजातीयता नहीं है। क्योंकि इनमें व्यक्तिभेदके अतिरिक्त कोई वैधर्म्य नहीं माना जाता तथा यदि विषयित्वको विषयत्वके अवच्छेकरूपसे ही स्वीकार करेंगे तो दो घटोंको भी, उनमें वैधर्म्यरूप कोई विशेषता न होनेके कारण, विषय-विषयिभावकी प्राप्ति हो सकती है।

---

१. अन्यथा = बाह्य पदार्थोंके स्वभाव (बाह्य पदार्थोंका निश्चय होनेपर संशयादिका न होना) से भिन्न आत्माका स्वभाव माननेपर बाह्य पदार्थोंमें भी स्वभाव-विशेष कल्पना करके सभी धर्मोंकी सर्वत्र आपत्ति होगी। अर्थात् शीतलत्व केवल जलमें ही नहीं, अपितु सर्वत्र अग्नि आदिमें है। अग्नि आदिमें शीतलत्वका प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर कह सकते हैं कि अग्नि आदिगत शीतलत्वका स्वभाव जलगत शीतलत्वसे भिन्न है, अतः उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। इस प्रकार कोई भी व्यवस्था नहीं रहेगी, सर्वथा अव्यवस्था (विप्लव) हो जायगी।

२. आत्मा स्वयंप्रकाश है, सर्वत्र घटादिका ज्ञान होनेपर आत्माका ज्ञान होता ही है, यह मत तार्किकोंको भी मानना पड़ेगा, क्योंकि वे लोग आत्मज्ञानकी सामग्री मानते हैं—आत्मा और मनका संयोग। यह तो समस्त ज्ञानोंका जनक होनेसे सर्वत्र घटादि ज्ञानोंके पूर्व होता ही है, अतः उस सामग्रीसे घटादि विषय और आत्मा—दोनोंका ज्ञान होना चाहिए। यदि कहें कि अनेक विषयोंका ज्ञान एक समय कैसे होगा ? तबके लिए कहा है—'समूहालम्बनन्यायेन'। घट, पट आदि अनेक पदार्थोंको मुख्यतया विषय करनेवाले ज्ञानको 'समूहालम्बनज्ञान' तार्किक मानते हैं। उनका कहना है कि घट, पट आदि अनेक विषयोंके साथ चक्षुका सन्निकर्ष होनेपर एक समय अनेक विषयोंका ज्ञान हो जाता है—'घटपटौ स्तः' 'घटपटदण्डाः सन्ति' आदि-आदि। इसी प्रकार घटादि विषय और आत्मा दोनोंका कारण आत्ममन-संयोग यदि है, तब दोनोंका ज्ञान क्यों न होगा ? इस प्रकार घटादि विषय मात्रके साथ-साथ आत्माके भानका वारण तार्किकोंके गुरुगण भी नहीं कर सकते।

३. आशय यह है कि व्यवसाय और अनुव्यवसाय दोनों ही ज्ञान हैं। व्यवसायको विषय माननेपर व्यवसायगत ज्ञानत्वको विषयितावच्छेदक मानना होगा, एवं अनुव्यवसायको विषयी माननेपर अनुव्यवसायगत ज्ञानत्वको ही विषयितावच्छेदक कहना पड़ेगा, जोकि सम्भव नहीं, क्योंकि विषयितावच्छेदकधर्म ही यदि विषयितावच्छेदक हो जाय, तब घटत्वको विषयितावच्छेदक और जड़ घटको विषयी मानना पड़ेगा।

(१) नन्वं यथा घटव्यवहारार्थं घटज्ञानमभ्युपेयते तथा घटज्ञानव्यवहारार्थं घटज्ञानविषयं ज्ञानमभ्युपेयं व्यवहारस्य व्यवहर्तव्यज्ञानसाध्यत्वादिति चेत्,।

(२) काऽनुपपत्तिरुद्भाविता देवानांप्रियेण स्वप्रकाशवादिनः। न हि व्यवहर्तव्यभिन्नत्वमपि ज्ञानविशेषणं व्यवहारहेतुतावच्छेदकं गौरवात्। तथा चेश्वरज्ञानवद्योगिज्ञानवच्चमेयमितिज्ञानवच्च स्वेनैव स्वव्यवहारोपपत्तौ न ज्ञानान्तरकल्पनावकाशः। अनुव्यवसायस्यापि घटज्ञानव्यवहारहेतुत्वं किं घटज्ञानज्ञानत्वेन किंवा घटज्ञानत्वेनैवेति विवेचनीयम्, उभयस्यापि तत्र सत्त्वात्। तत्र घट-व्यवहारे घटज्ञानत्वेनैव हेतुतायाः कल्पत्वात्तेनैव रूपेण घटज्ञानव्यहारेऽपि हेतुतोपपत्तौ न घटज्ञा-नज्ञानत्वं हेतुतावच्छेदकं गौरवान्मानाभावाच्च। तथा च नानुव्यवसायसिद्धिरेकस्यैव व्यवसायस्य व्यवसातरि व्यवसेये व्यवसाये च व्यवहारजनकत्वोपपत्तेरिति त्रिपुटीप्रत्यक्षवादिनः प्राभाकराः।

(१) शंका—किन्तु जिस प्रकार घटके व्यवहारके लिये घटज्ञान माना जाता है वैसे ही घटज्ञानके व्यवहारके लिये उस ज्ञानको विषय करनेवाला ज्ञान भी स्वीकार करना ही चाहिये।

(२) समाधान—इससे मूर्खवादीने आत्माका स्वप्रकाशत्व प्रतिपादन करनेवालेके लिये कौन अनुपपत्ति खड़ी कर दी? व्यवहर्तव्यसे भिन्न होना—यह ज्ञानका विशेषण भी व्यवहार की कारणता का अवच्छेदक नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा माननेसे गौरवदोष उपस्थित होगा। इसलिये ईश्वरके ज्ञान, योगीके ज्ञान और 'यह प्रमेय है' इस ज्ञानके समान स्वयं अपनेसे ही अपना व्यवहार हो सकनेके कारण किसी दूसरे ज्ञानकी कल्पनाके लिये अवकाश नहीं है। अनुव्यवसायमें भी जो घटज्ञानके व्यवहार की कारणता है उसके विषयमें भी यह विवेचन करना आवश्यक है कि वह घटज्ञानके ज्ञानत्वके कारण है या घटज्ञानत्वके ही कारण? क्योंकि उसमें तो ये दोनों ही रहते हैं। घटव्यवहारमें तो घटज्ञानत्वसे ही उसकी कारणता सिद्ध हो जाती है, उसी प्रकार घटज्ञानके व्यवहार में भी उसकी हेतुता हो ही सकती है। इसलिये गौरव दोष और प्रमाणका अभाव होनेके कारण घटज्ञानका ज्ञानत्व उसकी हेतुताका अवच्छेदक नहीं हो सकता। इस प्रकार एक व्यवसायमें ही व्यवसाता, व्यवसेय (विषय) और व्यवसाय (विषयज्ञान) के व्यवहार की कारणता रह सकनेके कारण अनुव्यवसाय की सिद्धि नहीं हो सकती—यह त्रिपुटीकी प्रत्यक्षता स्वीकार करनेवाले प्रभाकरके अनुयायियों का मत है।

१. व्यवहारका व्यवहर्त्तव्य-ज्ञान हेतु माना जाता है। इस नियमके अनुसार घट-ज्ञानके व्यवहारमें व्यवहर्त्तव्य घट-ज्ञानका ज्ञान चाहिए, अतः घट-ज्ञानविषयक ज्ञानरूप अनुव्यवसाय सिद्ध होता है—इस प्रकारके तार्किक वक्तव्य पर सिद्धान्तीका कहना है कि घट-ज्ञानरूप व्यवसाय जहाँ व्यवहर्त्तव्य है वहाँ यही व्यवहर्त्तव्य-ज्ञान अपने और घटादिके व्यवहारमें हेतु हो जाता है, इससे पृथक् अनुव्यवसायके माननेकी आवश्यकता नहीं। यदि कहा जाय कि व्यवहारका जो ज्ञान हेतु है वह व्यवहर्त्तव्यसे भिन्न चाहिए, तब कार्यकारणभावमें गौरव उपस्थित होगा क्योंकि 'व्यवहारका व्यवहर्त्तव्य-ज्ञान हेतु है, इसकी अपेक्षा व्यवहारमें 'व्यवहर्त्तव्य-ज्ञानसे भिन्न व्यवहर्त्तव्य-ज्ञान हेतु होता है'—ऐसा माननेमें गौरव स्पष्ट है। व्यवहारका हेतु है—व्यवहर्त्तव्य-ज्ञान, व्यवहर्त्तव्य-ज्ञान में रहनेवाली हेतुताका अवच्छेदक इसका विशेषण (व्यवहर्त्तव्य भिन्नत्व) यहाँ अधिक देना पड़ता है।

२. त्रयाणां पुटानां समाहारः त्रिपुटी तद्विषयक प्रत्यक्षवादी प्रभाकर हैं। अर्थात् प्रभाकरके मतमें 'अयं घटः'—इस एक ही ज्ञानमें घट, घट-ज्ञान और आत्मा—तीनोंका प्रत्यक्ष हो जाता है।

(१) औपनिषदास्तु मन्यन्ते स्वप्रकाशज्ञानरूप एवाऽऽत्मा न स्वप्रकाशज्ञानाश्रयः कर्तृ-कर्मविरोधेन[1] तज्ज्ञानानुपपत्तेः। ज्ञानभिन्नत्वे घटादिवज्जडत्वेन कल्पितत्वापत्तेश्च। स्वप्रकाशज्ञानमात्र-स्वरूपोऽप्यात्माऽविद्योपहितः सन्साक्षीत्युच्यते। वृत्तिमदन्तःकरणोपहितः प्रमातेत्युच्यते। तस्य चक्षुरादीनि करणानि। स चक्षुरादिद्वाराऽन्तःकरणपरिणामेन घटादीन्व्याप्य तदाकारो भवति। एकस्मिंश्चान्तःकरणपरिणामे घटावच्छिन्नचैतन्यमन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यं चैकैकलोलीभावापन्नं[2] भवति। ततो घटावच्छिन्नचैतन्यं प्रमात्रभेदात्स्वाज्ञानं नाशयदपरोक्षं भवति। घटं च स्वावच्छेदकं स्वतादा-त्म्याध्यासाद्भासयति। अन्तःकरणपरिणामश्च वृत्त्याख्योऽतिस्वच्छः स्वावच्छिन्नेनैव चैतन्येन भास्यत इत्यन्तःकरणतद्वृत्तिघटानामपरोक्षता। तदेतदाकारत्रयमहं जानामि घटमिति। भासकचैतन्य-

(१) वेदान्ती तो ऐसा मानते हैं कि आत्मा स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप ही है, वह स्वप्रकाश ज्ञानका आश्रय नहीं है, क्योंकि तब तो ज्ञानका कर्ता और ज्ञानका कर्म इस प्रकार विरोधी धर्म रहनेके कारण उसका भान ही नहीं हो सकेगा। ज्ञानसे भिन्न माननेपर तो घटादिके समान जड होनेके कारण उसका कल्पित होना प्राप्त होगा। इस प्रकार यद्यपि आत्मा स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप ही है तो भी अविद्यासे उपहित होनेके कारण वह 'साक्षी' कहा जाता है तथा वृत्तियुक्त अन्तःकरणसे उपहित होनेके कारण 'प्रमाता' कहलाता है। नेत्रादि उसके करण हैं, वह नेत्रादिके द्वारा अन्तःकरणके परिणामसे घटादिको व्याप्त करके तदाकार हो जाता है। एक अन्तःकरणके परिणाममें घटावच्छिन्न चैतन्य अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य दोनों मिलकर एकरूप हो जाते हैं। तब प्रमाताके साथ अभेद होनेसे घटावच्छिन्न चैतन्य अपने अज्ञानका नाश करके अपरोक्ष हो जाता है और अपने अवच्छेदक घटको अपने तादात्म्याध्याससे प्रकाशित कर देता है। अन्तःकरणका जो वृत्तिसंज्ञक अत्यन्त स्वच्छ परिणाम होता है वह तो अपनेसे अवच्छिन्न चैतन्य-द्वारा ही भासित होता है। इस प्रकार अन्तःकरण, उसकी वृत्ति और घटकी अपरोक्षता है। 'मैं घटको जानता हूँ' इस ज्ञानमें उपर्युक्त तीनों आकारोंका समावेश होता है। तथापि भासक चैतन्य एकरूप रहनेपर भी घटको प्रकाशित करनेमें वृत्तिकी अपेक्षा होनेके कारण उसकी प्रमातृता मानी जाती है और अन्तःकरण तथा उसकी वृत्तिके प्रकाशनमें किसी वृत्तिकी अपेक्षा न होनेके कारण उसकी साक्षिता है—इस प्रकार दोनोंका भेद समझ लेना चाहिये। इस विषयका अद्वैतसिद्धि और सिद्धान्तबिन्दुमें विस्तार किया गया है।

१. प्रभाकरके मतमें वही ज्ञान अपना भासक है, अतः भासन क्रियाका वही ज्ञान कर्ता भी होता है और कर्म भी, जो कि विरुद्ध है, क्योंकि किसी क्रियाका कर्ता और कर्म एक पदार्थ नहीं होता। आरोहण क्रियाका कर्ता देवदत्त यदि कर्म भी हो जाय, तब 'देवदत्तो वृक्षमारोहति' के समान 'देवदत्तः स्वमारोहति' भी प्रयोग होने लगेगा। अतः कर्तृकर्मभावका विरोध होनेके कारण प्रभाकरसम्मत आत्माका भान नहीं हो सकता।

२. एकत्र संश्लिष्ट होना या एकरूपतापत्तिका नाम एकलोलीभाव है। उपाधियोंके एकत्र हो जानेपर उपहित वस्तु भी पृथक्-पृथक् नहीं रहती। जैसे गुफामें यदि घट रख दें तो गुफावच्छिन्न आकाश और घटावच्छिन्न आकाश एकलोलीभूत हो जाता है, वैसे ही घट और अन्तःकरण—दोनों उपाधियोंके एकत्र हो जानेपर घटावच्छिन्न और अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन एकलोलीभूत हो जाते हैं।

स्यैकरूपत्वेऽपि [1]घटं प्रति वृत्त्यपेक्षत्वात्प्रमातृता, अन्तःकरणतद्वृत्तीः प्रति तु वृत्त्यनपेक्षत्वात्साक्षि-तेति विवेकः। अद्वैतसिद्धौ सिद्धान्तबिन्दौ च विस्तरः।

(१) यस्मादेवं प्रागुक्तन्यायेन नित्यो विभुरसंसारी सर्वदैकरूपश्चाऽऽत्मा तस्मात्तत्राश-ङ्क्या स्वधर्मे युद्धे प्राक्प्रवृत्तस्य तव तस्मादुपरतिर्न युक्तेति युद्धाभ्यनुज्ञया भगवानाह—तस्माद्यु-ध्यस्व भारतेति। अर्जुनस्य स्वधर्मे युद्धे प्रवृत्तस्य तत उपरतिकारणं शोकमोहौ। तौ च विचार-जनितेन विज्ञानेन बाधितावित्यपवादापवाद उत्सर्गस्य स्थितिरिति न्यायेन युध्यस्वेत्यनुवादो न विधिः। यथा 'कर्तृकर्मणोः कृति' (पा० सू०) इत्युत्सर्गः। 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (पा० सू०) इत्य-

(१) क्योंकि इस प्रकार पूर्वोक्त न्यायसे आत्मा नित्य विभु असंसारी और सर्वदा एकरूप ही है, इसलिये अपने धर्मयुद्धमें पहलेसे प्रवृत्त हुए तुमको उसके नाशकी आशंकासे पीछे नहीं हटना चाहिये—इस प्रकार युद्धकी आज्ञा देनेके लिये भगवान् कहते हैं—इसलिये हे भारत! तुम युद्ध करो। स्वधर्म युद्धमें प्रवृत्त हुए अर्जुनके उससे निवृत्त होनेके कारण शोक और मोह थे। वे विचारजनित विज्ञानसे बाधित हो गये। इसलिये 'अपवादका अपवाद होनेपर उत्सर्ग ही स्थित रहता है' इस न्यायसे[3] 'युद्ध करो' यह अर्जुनकी पूर्वप्रवृत्तिका अनुवाद ही है, विधि नहीं है। जिस प्रकार 'कर्तृकर्मणोः कृति' (कृतके योगमें कर्ता और कर्म अर्थमें षष्ठी होती है) यह उत्सर्ग है। इसमें 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (जहाँ दोनों अर्थ प्राप्त होते हों वहाँ उसे कर्ममें करना चाहिये) यह अपवाद

१. एक ही चेतन घटादि विषय अन्तःकरण एवं अन्तःकरणकी वृत्तियोंका भासक माना जाता है। घटादि विषयोंके साथ अन्तःकरणका सम्बन्ध स्थापित करनेके लिए जैसे वृत्तिकी अपेक्षा होती है, वैसे अन्तःकरण और उसकी वृत्तियोंका भान करनेके लिए वृत्तिकी आवश्यकता नहीं, अतः बाह्य विषयोंकी अपेक्षा वह चेतन प्रमाता और अन्तःकरण आदिका साक्षी माना जाता है।

२. 'भेदिका बिभित्सा रुद्रस्य जगतः'—इस प्रयोगमें रुद्र कर्ता और जगत् कर्म है। दोनोंमें 'कर्तृकर्मणोः कृति' (कृत् प्रत्ययके योग होनेपर कर्ता और कर्म दोनोंमें षष्ठी विभक्ति होती है) इस उत्सर्गसूत्रसे दोनों (रुद्र और जगत्) पदोंमें षष्ठी प्राप्त होती है। 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (उभय-निमित्त कृत् के रहनेपर केवल कर्ममें षष्ठी होती है)—इस अपवादक सूत्रसे केवल जगत् पदमें षष्ठी प्राप्त होती है। 'अकाकारयोः स्त्रीप्रत्ययोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्' (स्त्रीत्व बोधक 'अक' और 'अ' प्रत्ययके योगमें 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' यह नियम नहीं) इस वार्तिक वचनके आधारपर उक्त अपवादका अपवाद हो जाता है और 'कर्तृकर्मणोः'—यह उत्सर्गसूत्र प्रवृत्त होकर दोनोंमें षष्ठी कर देता है—भेदिका बिभित्सा रुद्रस्य जगतः।

३. आगे जो व्याकरणके सूत्रोंद्वारा इस न्यायका स्पष्टीकरण किया है वह सर्वसाधारणके लिये सुबोध नहीं है, इसलिये यहाँ दूसरे प्रकारसे इसका विवरण किया जाता है। भूख लगनेपर जो भोजनके लिये प्रवृत्ति होती है वह उत्सर्ग है। परन्तु यदि किसी व्यक्तिको यह मालूम हो जाय कि उसके पास जो भोजन है उसमें विष मिला हुआ है तो वह भोजन करनेसे रुक जायगा—यह उसका अपवाद हुआ। किन्तु फिर किसी अत्यन्त विश्वसनीय पुरुषके कथनसे अथवा कुत्ते आदि किसी प्राणीको खिलानेसे यह निश्चय हो जाय कि उसे जो सूचना मिली थी वह भ्रमपूर्ण थी तो यह उस अपवाद का अपवाद हुआ। ऐसा होनेपर फिर वह भोजन कर ही सकता है—यह पुनः उत्सर्ग की स्थिति हुई। प्रस्तुत प्रसंगमें अर्जुन की स्वधर्मयुद्धमें प्रवृत्ति उत्सर्ग थी। उसका उसके शोक-मोह अपवाद हुए। उनका भगवान्‌ने उपेक्षा करके अपवाद कर दिया। इसलिये तब फिर युद्धरूप उत्सर्ग की स्थिति हो गयी।

पवादः। 'अकाकारयोः स्त्रीप्रत्ययोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्' इति तदपवादः। तथाच मुमुक्षोर्ब्रह्मणो जिज्ञासेत्यत्रापवादापवादे पुनरुत्सर्गस्थितेः कर्तृकर्मणोः कृतीत्यनेनैव षष्ठी। तथा च कर्मणि चेति निषेधाप्रसराद् ब्रह्मजिज्ञासेति कर्मषष्ठीसमासः सिद्धो भवति। कश्चित्वेतस्मादेव विधेर्मोक्षे ज्ञान-कर्मणोः समुच्चय इति प्रलपति। तन्न, युध्यस्वेत्यतो मोक्षस्य ज्ञानकर्मसमुच्चयसाध्यत्वाप्रतीतेः। विस्तरेण चैतद्ग्रे भगवद्गीतावचनविरोधेनैव निराकरिष्यामः॥ १८॥

(१) नन्वेवमशोच्यानन्वशोचस्त्वमित्यादिना भीष्मादिबन्धुविच्छेदनिबन्धने शोकेऽपनीतेऽपि तद्वधकर्तृत्वनिबन्धनस्य पापस्य नास्ति प्रतीकारः। नहि यत्र शोको नास्ति तत्र पापं नास्तीति नियमः, द्वेष्यब्राह्मणवधे शोकाविषये पापाभावप्रसङ्गात्। अतोऽहं कर्ता त्वं प्रेरक इति द्वयोरपि

है। इसका 'अकाकारयोः स्त्रीप्रत्ययोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्' (किन्तु जहाँ अक और अकार ये स्त्रीप्रत्यय हों वहाँ यह 'उभय प्राप्तौ कर्मणि' नियम लागू नहीं होता) यह अपवाद है। इसीसे 'मुमुक्षोः ब्रह्मणो जिज्ञासा' (मुमुक्षुकी ब्रह्मको जाननेकी इच्छा) इसमें पूर्वोक्त अपवादका अपवाद होनेके कारण उत्सर्गकी स्थिति रहनेसे 'कर्तृकर्मणोः कृति' इस नियमसे ही षष्ठी होती है तथा 'कर्मणि च' इस सूत्रसे समासके निषेधका अवसर न होनेके कारण 'ब्रह्मजिज्ञासा' यह कर्मषष्ठी समास सिद्ध होता है। कोई वादी तो 'इसी विधिसे मोक्षमें ज्ञान और कर्मके समुच्चयकी आवश्यकता सिद्ध होती है' ऐसा प्रलाप करते हैं। यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'युद्ध करो' इस कथनसे प्रतीत नहीं हो सकता कि मोक्ष ज्ञान और कर्मके समुच्चयसे साध्य है। आगे भगवद्गीताके वाक्योंके विरोध द्वारा ही हम इस मतका विस्तारसे खण्डन करेंगे॥ १८॥

(१) किन्तु इस प्रकार 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' इत्यादि श्लोकोंसे भीष्मादि बन्धुजनों के वियोगजनित शोककी निवृत्ति हो जानेपर भी उनका वध करनेसे जो पाप लगेगा उसका तो प्रतीकार नहीं होता। ऐसा विषय तो है नहीं कि जहाँ शोक नहीं होता वहाँ पाप भी नहीं होता। ऐसा होनेपर तो जिस ब्राह्मणसे द्वेष हो उसका वध शोकका विषय न होनेसे वैसा करनेमें पाप न होनेका भी प्रसंग उपस्थित होता। इसलिए 'मैं कर्ता होऊँगा और आप प्रेरक हैं' अतः हम दोनों हीको हिंसाजनित पापकी प्राप्ति होने-के कारण 'तस्माद्युध्यस्व भारत' आपका यह वचन उचित नहीं है ऐसी अर्जुनकी ओर-

१. कुछ लोग 'युध्यस्व'को विधि मानकर कहते थे कि विधीयमान युद्धका फल क्या? इस जिज्ञासाकी शान्ति करनेके लिए प्राकरणिक मोक्ष फलका ही अन्वय करना होगा—'युद्धादिकर्मभिर्मोक्षं भावयेत्'। मोक्षका साधन ज्ञान भी प्रतिपादित है, अतः कर्म और ज्ञानका समुच्चय मोक्षका साधन सिद्ध होता है। श्री मधुसूदन सरस्वती उक्त मतका खण्डन करते हुए कहते हैं कि प्रथम तो 'युध्यस्व' यह विधि ही नहीं, अनुवाद मात्र है और यदि विधि मान भी लें, फिर अनुषङ्गरूपसे चर्चित विजय फलका ही सम्बन्ध युद्धके साथ होता है, मोक्षका नहीं। इसीलिए भगवान् शंकराचार्यने कहा है—'तस्माद् गीताशास्त्रे ईषन्मात्रेणापि श्रौतेन स्मार्तेन कर्मणा आत्मज्ञानस्य समुच्चयो न केनचिद् दर्शयितुं शक्यः।'

२. शोकाभावमें पापाभावकी व्याप्यता भंग करनेके लिए द्वेष्य ब्राह्मणका दृष्टान्त दिया गया है। अर्थात् जो ब्राह्मण शत्रु है, मित्र नहीं, उसका वध करके शोक नहीं होता, किन्तु पाप अवश्य होता है, अतः शोकाभावका पापाभाव व्यभिचारी है, व्याप्य नहीं। यहाँ द्वेष्यत्व हेतुसे पाप नहीं सिद्ध किया जाता, अपितु शोकाभाव सिद्ध किया गया है।

हिंसानिमित्तपातकापत्तेरयुक्तमिदं वचनं तस्माद्युध्यस्व भारतेत्याशङ्क्य काठकपठितयर्चा परिहरति भगवान्—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

(१) एनं प्रकृतं देहिनमदृश्यत्वादिगुणकं यो हन्तारं हननक्रियायाः कर्तारं वेत्ति अहमस्य हन्तेति विजानाति । यश्चान्य एनं मन्यते हतं हननक्रियायाः कर्मभूतं देहहननेन हतोऽहमिति विजानाति । तावुभौ देहाभिमानित्वादेनमविकारिणमकारकस्वभावमात्मानं न विजानीतो न विवेकेन जानीतः शास्त्रात् । कस्मात्, यस्मान्नायं हन्ति न हन्यते कर्ता कर्म च न भवतीत्यर्थः ।

(२) अत्र य एनं वेत्ति हन्तारं हतं चेत्येतावति वक्तव्ये पदानामावृत्तिर्वाक्यालंकारार्था । अथवा य एनं वेत्ति हन्तारं तार्किकादिरात्मनः कर्तृत्वाभ्युपगमात् । तथा यश्चैनं मन्यते हतं चार्वाकादिरात्मनो विनाशित्वाभ्युपगमात् । तावुभौ न विजानीत इति योज्यम् । वादिभेदख्यापनाय पृथगुपन्यासः । अतिशूरातिकातरविषयतया वा पृथगुपदेशः । 'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्' (कठ० २।१९) इति पूर्वार्धे श्रौतः पाठः ॥ १९ ॥

(३) कस्मादयमात्मा हननक्रियायाः कर्ता कर्म च न भवति ? अविक्रियत्वादित्याह द्वितीयेन मन्त्रेण—

से आशंका करके भगवान् कठोपनिषद्में आयी हुई ऋचाके द्वारा इसका परिहार करते हैं—

[श्लोकार्धः—जो इसे मारनेवाला समझता है और जो इसे मरनेवाला मानता है वे दोनों ही नहीं जानते, क्योंकि यह तो न मारता है, न मरता है ॥ १९ ॥]

(१) अदृश्यत्वादि गुणोंसे युक्त इस प्रकृत देहीको जो हन्ता हनन क्रियाका कर्ता समझता है अर्थात् ऐसा जानता है कि मैं इसे मारनेवाला हूँ और जो दूसरा व्यक्ति इसे हत=हनन क्रियाका कर्म अर्थात् देहके मारे जानेसे मैं मारा गया हूँ ऐसा जानता है, वे दोनों ही देहाभिमानी होनेके कारण इस अविकारी और अकारक स्वभाव आत्माको नहीं जानते; शास्त्रद्वारा इसे अनात्मासे अलग करके अनुभव नहीं करते। क्यों नहीं जानते ? क्योंकि यह न तो मारता है और न मरता है। अर्थात् यह हनन क्रियाका कर्ता या कर्म नहीं बनता।

(२) यहाँ 'य एवं वेत्ति हन्तारं हतं च' (जो इसे मारने और मरनेवाला समझता है) इतना ही कहना चाहिये था, फिर भी जो 'यः' 'एवम्' आदि पदोंकी आवृत्ति की है वह वाक्यालङ्कारके लिये है। अथवा इसे इस प्रकार लगाना चाहिये कि 'जो इसे मारनेवाला समझता है' वह नैयायिक आदि क्योंकि ये आत्माका कर्तृत्व स्वीकार करते हैं और 'जो इसे मरा हुआ मानता है' वह चार्वाकादि, क्योंकि उनके मतमें आत्मा नाशवान् है—दोनों ही उसे नहीं जानते। वादियोंका भेद प्रकट करनेके लिये ही यह अलग-अलग उल्लेख किया गया है। अथवा इन दो बातोंका क्रमशः अत्यन्त शूरवीर और अत्यन्त कायरोंसे सम्बन्ध होनेके कारण पृथक् पृथक् उपदेश किया है। श्लोकके पूर्वार्ध में 'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्' यह श्रौत पाठ ही आया है ॥ १९ ॥

(३) 'यह आत्मा हनन क्रियाका कर्ता और कर्म क्यों नहीं होता ?—कारण कि यह अविकारी है' यह बात भगवान् दूसरे मन्त्रसे कहते हैं—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

(१) 'जायतेऽस्ति वर्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते विनश्यतीति षड्भावविकारा इति वार्ष्यायणिः' इति नैरुक्ताः । तत्राऽऽद्यन्तयोर्निषेधः क्रियते—न जायते म्रियते वेति । वाशब्दः समुच्चयार्थः । न जायते न म्रियते चेत्यर्थः । कस्मादयमात्मा नोत्पद्यते ? यस्मादयमात्मा कदाचित्कस्मिन्नपि काले न भूत्वाऽभूत्वा प्राग्भूयः पुनरपि भविता न । यो ह्यभूत्वा भवति स उत्पत्तिलक्षणां विक्रियामनुभवति । अयं तु प्रागपि सत्त्वाद्यतो नोत्पद्यतेऽतोऽजः । तथाऽयमात्मा भूत्वा प्राक्कदाचिद् भूयः पुनर्न भविता । नवाशब्दाद्वाक्यविपरिवृत्तिः । यो हि प्राग्भूत्वोत्तरकाले न भवति स मृतिलक्षणां विक्रियामनुभवति । अयं तूत्तरकालेऽपि सत्त्वाद्यतो न म्रियतेऽतो नित्यो[2] विनाशायोग्य इत्यर्थः । अत्र न भूत्वेत्यत्र समासाभावेऽपि नानुपपत्तिर्नानुयाजेष्वितिवत्[3], भगवता पाणिनिना

[श्लोकार्धः—यह आत्मा कभी जन्म या मृत्युको प्राप्त नहीं होता। यह पहले कभी न होकर फिर होगा—ऐसा भी नहीं है। यह तो अजन्मा, नित्य, शाश्वत (अपक्षयहीन) और पुराण (वृद्धिहीन) है। शरीरके मारे जाने पर भी यह मारा नहीं जाता ॥ २० ॥]

(१) निरुक्त के अनुसार व्युत्पत्ति करने वालों का कथन है कि 'जायते (उत्पन्न होता है), अस्ति (विद्यमान है), वर्धते (बढ़ता है), विपरिणमते (परिणामको प्राप्त होता है), अपक्षीयते (क्षीण होता है) और विनश्यति (नष्ट हो जाता है)—ये छः भाव विकार हैं—ऐसा वार्ष्यायणि आचार्यका मत है।' इनमें से 'न जायते म्रियते वा' ऐसा कहकर आदि और अन्त के विकारों का निषेध किया है। यहाँ 'वा' शब्द समुच्चय के लिये है। अर्थात् उसके जन्म और मरण नहीं होते। यह आत्मा उत्पन्न क्यों नहीं होता ? क्योंकि यह कदाचित्=किसी भी समय पहले न होकर फिर होगा—ऐसी बात नहीं है। जो किसी समय न होकर फिर होता है वही उत्पत्तिरूप विकार का अनुभव करता है। यह तो पहले भी विद्यमान रहने के कारण चूंकि उत्पन्न नहीं होता, इसलिये अज है। तथा यह आत्मा पहले होकर कदाचित् फिर नहीं रहेगा—ऐसा भी नहीं है—इस प्रकार 'न' और 'वा' शब्द रहने से वाक्य का परिवर्तन हो जाता है। जो भी पहले होकर पीछे किसी समय नहीं रहता वही मरणरूप विकार का अनुभव करता है। यह तो उत्तरकाल में भी रहने के कारण चूंकि नहीं मरता, इसलिये नित्य अर्थात् विनाशके अयोग्य है। यहाँ 'न भूत्वा' इनमें समास न होने पर भी 'नानुयाजेषु' इत्यादि प्रयोगके समान कोई अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि महाविभाषा के अधिकार में भगवान् पाणिनि ने नञ्समास

१. इस श्लोकमें 'न जायते' प्रतिज्ञाका हेतु 'प्राक् अभूत्वा न भविता' एवं 'न म्रियते' प्रतिज्ञाका साधक 'भूयो न भविता' है। यह स्पष्ट करनेके लिए मधुसूदन सरस्वतीने यहाँ 'प्राक्' पद जोड़कर हेतु पदोंको रखा है।

२. केवल वर्तमानकालकी सत्तासे विनाशायोग्यत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता, अतः यहाँ 'भूयः' पदसे विवक्षित उत्तरकालमें भी सत्ता दिखाकर विनाशायोग्यता सिद्धकी है।

३. इस श्लोकके 'नायं भूत्वा भविता वा न भूयः' वाक्यमें प्रथम नकारका 'भूत्वा' के साथ अन्वय है ? या 'भविता' के साथ ? 'भविता' के साथ अन्वय करनेपर दो वाक्य हो जायेंगे—'भूत्वा न भविता' और 'भूयो न भविता'। किन्तु स्वरसतः यहाँ एक ही वाक्य होना चाहिए, 'न'

महाविभाषाधिकारे नञ्समासपठात्। यत्तु कात्यायनेनोक्तं समासनित्यताभिप्रायेण 'वावचनानर्थक्यं[1] तु स्वभावसिद्धत्वात्' इति, तद्भगवत्पाणिनिवचनविरोधादनादेयम्। तदुक्तमाचार्यशबरस्वामिना—'असंद्धादी हि कात्यायनः' इति।

(१) अत्र न जायते म्रियते वेति प्रतिज्ञा। कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूय इति तदुपपादनम्। अजो नित्य इति तदुपसंहार इति विभागः। आद्यन्तयोर्विकारयोर्निषेधेन मध्यवर्तिविकाराणां तद्व्याप्यानां निषेधे जातेऽपि गमनादिविकाराणामनुक्तानामप्युपलक्षणायापक्षयश्च वृद्धिश्च स्वशब्देनैव निराक्रियेते। तत्र कूटस्थनित्यत्वादात्मनो निर्गुणत्वाच्च न स्वरूपतो गुणतो

का उल्लेख किया है। कात्यायन ने जो समास की नित्यता के अभिप्रायसे 'वावचनानर्थक्यं तु स्वभावसिद्धत्वात्' ऐसा कहा है वह भगवान् पाणिनिके वचन से विरोध होने के कारण ग्रहण करने योग्य नहीं है। इस विषयमें आचार्य शबरस्वामी ने भी कहा है कि 'कात्यायन तो मिथ्यावादी है।'

(१) यहाँ 'न जायते म्रियते वा' यह प्रतिज्ञा है, 'कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः' ऐसा कहकर इस प्रतिज्ञा की उपपत्ति की है तथा 'अजो नित्यः' इस प्रकार इसका उपसंहार किया है—इस तरह इनका विभाग है। आदि और अन्त के विकारों का निषेध करने से यद्यपि उनसे व्याप्य बीच के विकारों का भी निषेध हो जाता है तो भी जिनका उल्लेख नहीं हुआ है उन गमनादि विकारों को भी उपलक्षित कराने के लिये अपक्षय और वृद्धि—इन दो विकारों का भी अपने शब्दों से ही निराकरण किया जाता है। आत्मा कूटस्थ नित्य और निर्गुण है, इसलिए स्वरूप या गुणों को दृष्टि से भी उसका अपक्षय

का भूत्वाके साथ समास कर देनेपर ही एकवाक्यता सुरक्षित रह सकती है—इसपर मधुसूदन सरस्वतीजीका कहना है कि 'न' का 'भूत्वा' के साथ समास न होनेपर भी वाक्यभेदकी आपत्ति नहीं होती, क्योंकि असमस्त 'न' का भी भूत्वा के साथ वैसे ही अन्वय हो सकता है, जैसे कि 'नानुयाजेषु' में। होता सभी यागों में याज्या मन्त्रों का उच्चारण करनेसे पूर्व 'ये यजामहे' (ये वयमध्वर्युणा नियुक्ताः ते यजामहे=याज्यां पठामः) का उच्चारण करता है—इसका विधायक वाक्य है—'यजतिषु ये यजामहं करोति (यज धातु-गर्भित विधि वाक्यों से विहित कर्मों में 'ये यजामहे' बोलना चाहिये)। 'नानुयाजेषु'—यह वाक्य उसका अनुयाज कर्मों में निषेध करता है। यहाँ 'न' का अन्वय यदि 'करोति' क्रिया के साथ किया जाता है, तब एक श्रुति से विहित अर्थ का श्रुत्यन्तर से निषेध हो जाने पर विकल्प माना जाता है—इस नियम के अनुसार यहाँ विकल्प की आपत्ति होती है। विकल्प पक्ष में आठ दोष (तं. वा. १।३।२ पृ. १७४-७५) होते हैं। अतः 'न' का 'अनुयाज' के साथ अन्वय करके पर्युदास वृत्ति का सहारा लिया जाता है। नानुयाज का अनुयाज-भिन्न अर्थ (अनुयाजभिन्नेषु यजतिषु ये यजामहं करोति) करके उक्त दोषों से जैसे बचा जाता है—वैसे ही 'न भूत्वा (अभूत्वा) भूयो न भविता'—इस प्रकार 'न' का 'भूत्वा' के साथ अन्वय करके वाक्य भेद आदि की आपत्ति से बचा जा सकता है।

१. समास की नित्यता स्वभाव सिद्ध होने के कारण नञ्समास के विषय में पाणिनि जी का 'वा' इस उक्ति से विकल्प करना व्यर्थ है।

२. जैसे कि घटादि शब्दों की अपने (कम्बुग्रीवादि-युक्त अर्थ में) साधुता स्वभाव सिद्ध है, इसके लिए किसी वचन की आवश्यकता नहीं, क्योंकि अनादि व्यवहारके आधार पर घटादिशब्दोंका स्वभाव स्थिर हो गया है। वैसे ही अभूत्वा, अपक्त्वा, अघट आदि शब्द भी स्वभावतः अभवन आदि अर्थोंको कहते हैं, इसके लिए नञ्समास वचन अनर्थक है। कात्यायनकी ऐसी उक्तियाँ सर्वथा विश्वसनीय नहीं,—यह शबर स्वामीका कहना है।

वाऽपक्षयः संभवतीत्युक्तं—शाश्वत इति। शश्वत्सर्वदा भवति नापचीयते नापचीयत इत्यर्थः। यदि नापचीयते तर्हि वर्धतामिति नेत्याह—पुराण इति। पुराऽपि नव एकरूपो न त्वधुना नूतनां काञ्चिदवस्थामनुभवति। यो हि नूतनां काञ्चिदुपचयावस्थामनुभवति स वर्धत इत्युच्यते लोके। अयं तु सर्वदैकरूपत्वान्नापचीयते नोपचीयते चेत्यर्थः। अस्तित्वविपरिणामौ तु जन्मविनाशान्तर्भूतत्वात्पृथङ्न निषिद्धौ। यस्मादेवं सर्वविकारशून्य आत्मा तस्माच्छरीरे हन्यमाने तत्संबद्धोऽपि केनाप्युपायेन न हन्यते न हन्तुं शक्यत इत्युपसंहारः॥ २०॥

(१) नायं हन्ति न हन्यत इति प्रतिज्ञाय न हन्यत इत्युपपादितमिदानीं न हन्तीत्युपपादयन्नुपसंहरति—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ २१॥

(२) न विनष्टुं शीलं यस्य तमविनाशिनमन्त्यविकाररहितम्। तत्र हेतुः—अव्ययं न

नहीं हो सकता—यह बात 'शाश्वतः' शब्द से कही गयी है। शाश्वत अर्थात् सदा रहता है, तात्पर्य यह कि न इसका क्षय होता है न वृद्धि। यदि क्षीण नहीं होता तो बढ़ता ही होगा, इसलिये कहते हैं नहीं, यह पुराण है, पहले भी यह नव = एकरूप ही था और अब भी यह किसी नवीन अवस्था का अनुभव नहीं करता। जो किसी नवीन उपचय अवस्था का अनुभव करता है लोक में वही 'वृद्धि को प्राप्त होता है' ऐसा कहा जाता है। अतः तात्पर्य यह है कि सर्वदा एकरूप होने के कारण यह आत्मा तो न क्षय को प्राप्त होता है और न वृद्धि को। अस्तित्व और विपरिणाम तो जन्म और विनाशके ही अन्तर्गत हैं, इसलिए उनका अलग निषेध नहीं किया। इस प्रकार चूंकि आत्मा सभी विकारों से रहित है, इसलिये शरीर के मारे जाने पर, उससे सम्बद्ध होने पर भी, किसी उपाय से उसका हनन नहीं किया जा सकता—यह इसका उपसंहार है॥ २०॥

(१) 'यह न मरता है, न मारा जाता है' ऐसी प्रतिज्ञा करके 'नहीं मारा जाता' इसका उपपादन तो कर दिया, अब 'मारता नहीं है' इसका उपपादन करते हुए उपसंहार करते हैं—

[श्लोकार्थः—जो पुरुष इस आत्माको अव्यय होनेके कारण अविनाशी और नित्य होनेके कारण अजन्मा जानता है, हे अर्जुन! वह किस प्रकार किसे मरवावेगा और किसे मारेगा?॥ २१॥]

(२) जिसका नष्ट होनेका स्वभाव नहीं है ऐसा अविनाशी अर्थात् नाशरूप अन्तिम विकारसे रहित। इसमें हेतु है—'अव्ययम्'। जिसका व्यय अर्थात् अवयवोंकी न्यूनता अथवा गुणोंकी न्यूनता नहीं होती उसे 'अव्यय' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि

१. 'जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति' इन निरुक्त-कथित जन्म, सत्ता, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय और नाशरूप छः भावविकारों में सत्ता और विपरिणाम को छोड़कर चार विकारों का ही यहाँ निरास इसलिए किया गया है कि सत्ता जन्म के अन्तर्गत आ जाती है और विपरिणाम विनाश में अन्तर्भुक्त है, अतः जन्म विनाश का निराकरण कर देने से ही उनका भी निराकरण हो जाता है।

विद्यते व्ययोऽवयवापचयो गुणापचयो वा यस्य तमव्ययमवयवापचयेन गुणापचयेन वा विनाशदर्शनात्तदुभयरहितस्य न विनाशः संभवतीत्यर्थः ।

(१) ननु जन्यत्वेन विनाशित्वमनुमास्यामहे नेत्याह—अजमिति । न जायत इत्यजमाद्यविकाररहितम् । तत्र हेतुः—नित्यं सर्वदा विद्यमानं, प्रागविद्यमानस्य हि जन्म दृष्टं न तु सर्वदा सत इत्यभिप्रायः ।

(२) अथवाऽविनाशिनमबाध्यं सत्यमिति यावत् । नित्यं सर्वव्यापकम् । तत्र हेतुः—अजमव्ययं जन्मविनाशशून्यं जायमानस्य विनश्यतश्च सर्वव्यापकत्वसत्यत्वयोरयोगात् ।

(३) एवं सर्वविक्रियाशून्यं प्रकृतमेनं देहिनं स्वमात्मानं यो वेद विजानाति शास्त्राचार्योपदेशाभ्यां साक्षात्करोति अहं सर्वविक्रियाशून्यः सर्वभासकः सर्वद्वैतरहितः परमानन्दबोधरूप इति स एवं विद्वान्पुरुषः पूर्णरूपः कं हन्ति कथं हन्ति । किंशब्द आक्षेपे । न कमपि हन्ति न कथमपि हन्तीत्यर्थः । तथा कं घातयति कथं घातयति कमपि न घातयति कथमपि न घातयतीत्यर्थः । नहि सर्वविकारशून्यस्याकर्तुर्हननक्रियायां कर्तृत्वं संभवति । तथा च श्रुतिः—

'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्' ॥ (बृह० ४।४।१२)

इति शुद्धमात्मानं विदुषस्तदज्ञाननिबन्धनाध्यासनिवृत्तौ तन्मूलरागद्वेषाद्यभावात्कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यभावं दर्शयति ।

अवयव और गुणोंके क्षयसे ही विनाश होता देखा गया है, इन दोनों क्षयोंसे रहित होनेके कारण इसका विनाश होना सम्भव नहीं है ।

(१) 'किन्तु जन्य होनेके कारण तो हम इसके विनाशका अनुभव कर ही लेंगे' ? ऐसी आशंका करके भगवान् कहते हैं—'अजम्' । यह उत्पन्न नहीं होता इसलिये अज अर्थात् जन्मरूप आदिम विकारसे रहित है । इसमें कारण है—नित्य अर्थात् सर्वदा विद्यमान होना । अभिप्राय यह है कि जो वस्तु पहले नहीं होती उसीका जन्म होता देखा जाता है, जो सर्वदा रहती है उसका नहीं ।

(२) अथवा यों समझना चाहिये कि अविनाशी—अबाध्य अर्थात् सत्य और नित्य—सर्वव्यापक । इसमें हेतु है—'अजमव्ययम्' अर्थात् जन्म एवं विनाशसे रहित होना, क्योंकि उत्पन्न और नष्ट होनेवाले पदार्थोंसे सर्वव्यापकत्व और सत्यत्वका सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है ।

(३) इस प्रकार सम्पूर्ण विकारोंसे रहित इस प्रकृत देही अर्थात् अपने आत्माको जो जानता है, अर्थात् शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे 'मैं सम्पूर्ण विकारोंसे रहित, सबका प्रकाशक और सब प्रकारके द्वैतसे शून्य परमानन्द बोधस्वरूप हूँ' ऐसा साक्षात् अनुभव करता है, वह इस प्रकार जाननेवाला पूर्णस्वरूप पुरुष किसको मारता है और कैसे मारता है ? यहाँ 'किम्' शब्द आक्षेप अर्थमें है । अर्थात् किसीको नहीं मारता और किसी प्रकार भी नहीं मारता । तथा किसे मरवाता है और किस प्रकार मरवाता है ? अर्थात् किसीको नहीं मरवाता और किसी प्रकार नहीं मरवाता ? क्योंकि सब प्रकारके विकारोंसे शून्य अकर्ता आत्माका हननक्रियामें कर्तृत्व होना सम्भव नहीं है । इसी प्रकार 'यदि पुरुष आत्माको 'यह मैं हूँ' इस प्रकार जान जाये तो किस सुख और किस इच्छाके लिये

(१) अयमत्राभिप्रायो भगवतः—वस्तुगत्या कोऽपि न करोति न कारयति च किंचित्सर्वविक्रियाशून्यस्वभावत्वात्परं तु स्वप्न इवाविद्यया कर्तृत्वादिकमात्मन्यभिमन्यते मूढः । तदुक्तम्—'उभौ तौ न विजानीतः' इति । श्रुतिश्च 'ध्यायतीव[1] लेलायतीव' (बृह० ४।३।७) इत्यादिः । अत एव सर्वाणि शास्त्राण्यविद्वदधिकारिकाणि । विद्वांस्तु समूलाध्यासबाधान्नाऽऽत्मनि कर्तृत्वादिकमभिमन्यते स्थाणुस्वरूपं विद्वानिव चोरत्वम् । अतो विक्रियारहितत्वाद्द्वितीयत्वाच्च विद्वान्न करोति कारयति चेत्युच्यते । तथा च श्रुतिः—'विद्वान्न बिभेति कुतश्चन' (तै० २।९।१) इति । अर्जुनो हि स्वस्मिन्कर्तृत्वं भगवति च कारयितृत्वमध्यस्य हिंसानिमित्तं दोषमुभयत्राप्याशशङ्के । भगवानपि विदिताभिप्रायो हन्ति घातयतीति तदुभयमाचिक्षेप । आत्मनि कर्तृत्वं मयि च कारयितृत्वमारोप्य प्रत्यवायशङ्कां मा कार्षीरित्यभिप्रायः ।

(२) अविक्रियत्वप्रदर्शनेनाऽऽत्मनः कर्तृत्वप्रतिषेधात्सर्वकर्माक्षेपे भगवदभिप्रेते हन्तिरुपलक्षणार्थः पुरःस्फूर्तिकत्वात् । प्रतिषेधहेतोस्तुल्यत्वात्कर्मान्तराभ्यनुज्ञानुपपत्तेः । तथा च वक्ष्यति—तस्य कार्यं न विद्यत इति । अतोऽत्र हननमात्राक्षेपेण कर्मान्तरं भगवताऽभ्यनुज्ञायत इति मूढजन-

शरीरके पीछे सन्तप्त हो ?' यह श्रुति भी शुद्ध आत्माको जाननेवाले पुरुषको उसके अज्ञानजनित अध्यासकी निवृत्ति हो जाने पर तन्मूलक राग द्वेषादिका अभाव हो जानेके कारण कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिका अभाव दिखाती है ।

(१) यहाँ भगवान्का अभिप्राय यह है—सब प्रकारके विकारोंसे शून्य स्वभाववाला होनेके कारण वस्तुतः कोई भी न तो कुछ करता है और न कराता है, किन्तु मूढ पुरुष अविद्यावश स्वप्नके समान कर्तृत्वादिका अपनेमें अभिमान कर लेता है । इसीसे भगवान् कहते हैं कि 'वे दोनों ही नहीं जानते' 'ध्यायतीव लेलायतीव' इत्यादि श्रुति भी ऐसा ही कहती है । अतः समस्त शास्त्रोंका अधिकारी अविद्वान् ही है । जिस प्रकार स्थाणुके स्वरूपको जाननेवाले पुरुषको उसमें चोर होनेका भ्रम नहीं होता उसी प्रकार विद्वान्के अध्यासका उसके मूल अज्ञानके सहित बाध हो जानेके कारण वह आत्मामें कर्तृत्वादिका अभिमान नहीं करता । वह विकाररहित और अद्वितीय होता है, इसीसे यह कहा जाता है कि विद्वान् न कुछ करता है न कराता है । इसी प्रकार 'विद्वान् कहीं भय नहीं मानता' यह श्रुति भी कहती है । अर्जुनने अपनेमें कर्तृत्व और भगवान्में कारयितृत्वका अध्यास करके दोनों ही में हिंसाजनित दोषकी आशंका की थी । भगवान्ने भी उसका अभिप्राय समझकर 'न मारता है न मरवाता है' ऐसा कहकर उन दोनों दोषोंका निराकरण कर दिया । तात्पर्य यह है कि तुम अपनेमें कर्तृत्व और मेरेमें कारयितृत्वका आरोप करके किसी प्रत्यवायकी आशंका मत करो ।

(२) आत्माका अविक्रियत्व प्रदर्शित करते हुए उसके कर्तृत्वका प्रतिषेध करनेसे भगवान्को सभी कर्मोंका आक्षेप इष्ट है, हननक्रिया तो केवल उपलक्षण करानेके लिये है, क्योंकि वही सामने स्फुरित हो रही है । प्रतिषेधका हेतु समान होनेके कारण भगवान्का किसी अन्य कर्मके लिये आज्ञा देना सम्भव नहीं है । ऐसा ही 'उसके लिये कोई कार्य नहीं रहता' इस वाक्यसे भगवान् कहेंगे भी । अतः मूर्खलोग जो ऐसा कहते हैं कि यहाँ हननमात्रका आक्षेप करनेसे भगवान्ने दूसरे कर्मोंके लिये आज्ञा दी है, उसका

1. बुद्धिके ध्यान करनेपर चिदाभास ध्यान करता सा तथा विषयदेशमें जानेपर वहाँ जाता-सा जान पड़ता है ।

जल्पितमपास्तम्। तस्माद्युध्यस्वेत्यत्र हननस्य भगवताऽभ्यनुज्ञानाद्वास्तवकर्तृत्वाद्यभावस्य कर्ममात्रे समत्वादिति दिक्॥ २१॥

(१) नन्वेवमात्मनो विनाशित्वाभावेऽपि देहानां विनाशित्वाद्युद्धस्य च तन्नाशकत्वात्कथं भीष्मादिदेहानामनेकसुकृतसाधनानां मया युद्धेन विनाशः कार्य इत्याशङ्क्याह उत्तरम्—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(२) जीर्णानि विहाय वस्त्राणि नवानि गृह्णाति विक्रियाशून्य एव नरो यथेत्येतावतैव निर्वाहेऽपराणीति विशेषणमुत्कर्षांतिशयख्यापनार्थम्। तेन यथा निकृष्टानि वस्त्राणि विहायोत्कृष्टानि जनो गृह्णातीत्यौचित्यायातम्। तथा जीर्णानि वयसा तपसा च कृशानि भीष्मादिशरीराणि विहायान्यानि देवादिशरीराणि सर्वोत्कृष्टानि चिरोपार्जितधर्मफलभोगाय संयाति सम्यग्गर्भवासादिक्लेशव्यतिरेकेण प्राप्नोति देही प्रकृष्टधर्मानुष्ठातृदेहवान्भीष्मादिरित्यर्थः। 'अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गन्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वा' इत्यादिश्रुतेः।

(३) एतदुक्तं भवति—भीष्मादयो हि यावज्जीवं धर्मानुष्ठानक्लेशेनैव जर्जरशरीरा वर्तमान-

निराकरण हो गया। क्योंकि 'तस्माद्युध्यस्व' इस वाक्यसे तो भगवान्‌ने युद्ध करनेकी भी आज्ञा दी है। वास्तविक कर्तृत्वादिका अभाव तो कर्ममात्रमें समान है, इसलिये वह तो केवल दिग्दर्शनमात्र है॥ २१॥

(१) 'इस प्रकार आत्माके विनाशित्वका अभाव होनेपर भी देह तो नाशवान् हैं ही तथा युद्ध उनका नाश करनेवाला है, अतः अनेकों सुकृतोंके साधक इन भीष्मादिके शरीरोंका मुझे युद्धके द्वारा कैसे नाश करना उचित है? ऐसी अर्जुनकी आशंकाका भगवान् उत्तर देते हैं—

[श्लोकार्थः—जिस प्रकार पुरुष पुराने वस्त्रोंको छोड़कर दूसरे नये वस्त्र ग्रहण करता है उसी प्रकार [उत्तम धर्मका अनुष्ठान करनेवाला भीष्मादि] देही भी [आयु और तपके कारण कृश हुए] इन जीर्ण शरीरोंको छोड़कर [गर्भवासादि क्लेशके विना ही] नवीन दिव्य शरीर धारणकर लेता है॥ २२॥]

(२) 'जिस प्रकार पुरुष पुराने वस्त्रोंको त्यागकर निर्विकार रहते हुए ही नये कपड़े पहन लेता है' इतना कहनेसे भी यहाँ निर्वाह हो सकता था, तो भी 'अपराणि' ऐसा जो विशेषण दिया गया है वह उन नवीन वस्त्रोंका अतिशय उत्कर्ष प्रकट करनेके लिये है। अतः 'जिस प्रकार निकृष्ट वस्त्रोंको त्यागकर पुरुष उत्कृष्ट वस्त्र धारण कर लेता है' ऐसा कहनेसे इस कथनमें औचित्य आ जाता है। इसी प्रकार देही अर्थात् प्रकृष्ट धर्मका अनुष्ठान करनेवाले देहसे युक्त भीष्मादि अपने चिरकालसे उपार्जित धर्मफलके भोगके लिये जीर्ण-आयु और तपके कारण कृश हुए इन भीष्मादि शरीरोंको त्यागकर दूसरे सर्वोत्कृष्ट देवादि शरीरोंको सम्यक् रूपसे प्राप्त हो जाता है, अर्थात् उन्हें गर्भवासादि क्लेशके विना ही प्राप्त कर लेता है। 'पितर, गन्धर्व, देवता, प्रजापति या ब्रह्मासे सम्बन्ध रखनेवाला दूसरा विशेष नवीन और विशेष सुन्दर रूप धारणकर लेता है' यह श्रुति भी ऐसा ही कहती है।

(३) यहाँ कहा यह गया है कि भीष्मादि आजीवन धर्मानुष्ठानके क्लेशसे ही

शरीरपातमन्तरेण तत्फलभोगायासमर्था यदि धर्मयुद्धेन स्वर्गप्रतिबन्धकानि जर्जराणि शरीराणि पातयित्वा दिव्यदेहसंपादनेन स्वर्गभोगयोग्याः क्रियन्ते त्वया तदाऽत्यन्तमुपकृता एव ते। दुर्योधनादीनामपि स्वर्गभोगयोग्यदेहसंपादनान्महानुपकार एव। तथा चात्यन्तमुपकारके युद्धेऽपकारकत्वभ्रमं मा कार्षीरिति। अपराणि अन्यानि संयातीतिपदत्रयवशाद्भगवदभिप्राय एवमभ्यूहितः। अनेन दृष्टान्तेनाविकृतत्वप्रतिपादनमात्मनः क्रियत इति तु प्राचां व्याख्यानमतिस्पष्टम्[1]॥ २२॥

(१) ननु देहनाशे तदभ्यन्तरवर्तिन आत्मनः कुतो न विनाशो गृहदाहे तदन्तर्वर्तिपुरुषवदित्यत आह—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥

जर्जर शरीर हो रहे हैं और वर्तमान शरीरका पात हुए विना वे अपने धर्मानुष्ठानका फल भोगनेमें भी असमर्थ हैं। यदि धर्मयुद्धके द्वारा उनके स्वर्गके प्रतिबन्धक जर्जर शरीरोंको गिराकर दिव्य देहकी प्राप्ति करानेसे उन्हें स्वर्गसुख भोगनेके योग्य कर दिया जायगा तो यह तो तुमसे उनका बड़ा उपकार ही होगा। दुर्योधनादिको भी स्वर्ग भोगने योग्य देहकी प्राप्ति करानेसे तुम्हारा बड़ा उपकार ही होगा। इस प्रकार जो अत्यन्त उपकार करनेवाला है उस युद्धमें तुम अपकारकत्वका भ्रम मत करो। इस तरह 'अपराणि अन्यानि संयाति' इन तीन पादोंके कारण भगवान्‌का ऐसा ही अभिप्राय समझमें आता है। इस दृष्टान्तके द्वारा आत्माका अविकारित्व प्रतिपादन किया गया है—यह प्राचीन आचार्योंकी व्याख्या तो बहुत स्पष्ट ही है॥ २२॥

(१) जिस तरह घर जलनेसे उसके भीतर रहनेवाला पुरुष भी जल जाता है वैसे ही देहका नाश होनेसे उसके भीतर रहनेवाले आत्माका नाश क्यों नहीं होता?' ऐसा कोई कहे, तो भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थः—इस आत्माको शस्त्र काटते नहीं हैं, अग्नि जलाती नहीं है, जल भिगोता नहीं है और वायु सुखाती नहीं है॥ २३॥]

---

१. कुछ आलोचक विद्वानोंने कहा है कि इस श्लोकका मधुसूदन सरस्वतीकृत अवतरण और अर्थ दोनों प्रकरण-विरुद्ध और प्राचीन आचार्योंपर किया गया कटाक्ष भी असंगत है। इस श्लोकसे पूर्व 'कं घातयति हन्ति कं', 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे', 'नायं हन्ति न हन्यते' आदि-आदि वाक्य तो यही सिद्ध कर रहे हैं कि जैसे भी हो, अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करना है। इस समय भगवान् कृष्ण अर्जुनके सभी सन्देहोंको मिटाते जाते हैं। अर्जुनको यह सन्देह क्यों नहीं हो सकता कि 'मैं जानता हूँ—भीष्मादिके शरीरोंमें विराजमान आत्मा अनश्वर और अविकारी है, किन्तु मैं इनके तपःपूत आदर्श कलेवरोंको कैसे नष्ट करूँ? यदि यह सन्देह हो सकता है, तब इसका निराकरण भी आवश्यक है। इस श्लोकसे उसका निराकरण अप्रासंगिक क्यों? यह तथ्य है कि कोई भी वस्त्र अपनी जीर्णावस्थाकी अपेक्षा नूतनावस्थामें अच्छा ही माना जाता है। यहाँ चावलोंकी चर्चा नहीं चल रही है, किन्तु पुरातन वस्त्रोंको पुरातन शरीरों और नूतन वस्त्रोंको नूतन शरीरोंका स्थान दिया जा रहा है। मधुसूदन सरस्वतीने इसे गहरी दृष्टिसे देखा, उन्हें नया प्रकाश मिला, वह सर्वथा स्तुत्य है। प्राचीन विद्वानोंपर सरस्वतीजीने कटाक्ष नहीं किया, केवल इतना ही कहा है कि उनकी व्याख्या बहुत स्पष्ट है।

(१) शस्त्राण्यस्यादीनि अतितीक्ष्णान्यपि एनं प्रकृतमात्मानं न छिन्दन्ति अवयवविभागेन द्विधा कर्तुं न शक्नुवन्ति । तथा पावकोऽग्निरतिप्रज्वलितोऽपि नैनं भस्मीकर्तुं शक्नोति । न चैनमाप्योऽत्यन्तं वेगवत्योऽपि आर्द्रीकरणेन विश्लिष्टावयवं कर्तुं शक्नुवन्ति । मारुतो वायुरतिप्रबलोऽपि नैनं नीरसं कर्तुं शक्नोति । सर्वनाशकाङ्क्षेपे प्रकृते युद्धसमये शस्त्रादीनां प्रकृतत्वादवयुत्यानुवादेनोपन्यासः । पृथिव्यप्तेजोवायूनामेव नाशकत्वप्रसिद्धेस्तेषामेवोपन्यासो नाऽऽकाशस्य ॥ २३ ॥

(२) शस्त्रादीनां तन्नाशकत्वासामर्थ्ये तस्य तज्जनितनाशानर्हत्वे हेतुमाह—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

(३) यतोऽच्छेद्योऽयमतो नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि । अदाह्योऽयं यतोऽतो नैनं दहति पावकः । यतोऽक्लेद्योऽयमतो नैनं क्लेदयन्त्यापः । यतोऽशोष्योऽयमतो नैनं शोषयति मारुत इति क्रमेण योजनीयम् । एवकारः प्रत्येकं संबध्यमानोऽच्छेद्यत्वाद्यवधारणार्थः । चः समुच्चये हेतौ वा । छेद्याद्यनर्हत्वे हेतुमाहोत्तरार्धेन—

(१) इस प्रकृत आत्माको शस्त्र = अत्यन्त तीक्ष्ण खड्गादि छेदन = अवयव-विभागके द्वारा अलग-अलग नहीं कर सकते । तथा पावक = अग्नि अत्यन्त प्रज्वलित होनेपर भी इसे भस्म नहीं कर सकती । इसी प्रकार जल अत्यन्त वेगवान् होनेपर भी गीला करके इसके अवयवोंकी गठनको ढीला नहीं कर सकता तथा मारुत = वायु अत्यन्त प्रबल होनेपर भी इसे नीरस नहीं कर सकती । यहाँ नाशके सभी साधनोंके आक्षेपका प्रसंग था, किन्तु युद्धके समय शस्त्रादिका ही प्रसंग होनेके कारण उनका अलग-अलग अनुवाद करके इन्हींसे उपलक्षितकर लेना चाहिये । पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—ये चार भूत ही नाश करनेवाले प्रसिद्ध हैं, इसलिये उन्हींका उपन्यास किया गया है, आकाशका उल्लेख नहीं किया गया ॥ २३ ॥

(२) शस्त्रादिमें उसके नाशक होनेका सामर्थ्य नहीं है—यह सिद्ध होनेपर उसके शस्त्रादि द्वारा नाशकी अयोग्यतामें कारण बताते हैं—

[श्लोकार्थः—यह आत्मा काटे जानेके अयोग्य, जलाये जानेके अयोग्य, भिगोये जानेके अयोग्य और सुखाये जानेके भी अयोग्य है, क्योंकि यह नित्य, व्यापक, अविकारी, निष्क्रिय और सर्वदा एकरूप रहनेवाला है ॥ २४ ॥]

(३) चूंकि यह काटे जानेके अयोग्य है इसलिये शस्त्र इसे काट नहीं सकते, चूंकि जलाये जानेके अयोग्य है इसलिये अग्नि इसे जला नहीं सकती, चूंकि भिगोये जानेके अयोग्य है इसलिये जल इसे भिगो नहीं सकता और चूंकि सुखाये जानेके अयोग्य है इसलिये वायु इसे सुखा नहीं सकती—इस प्रकार क्रमशः इन्हें लगा लेना चाहिये । एवकारका प्रत्येकसे सम्बन्ध है तथा यह आत्माके अच्छेद्यत्वादिको निश्चित करनेके लिये है । 'च' का प्रयोग समुच्चय अथवा हेतु अर्थमें हुआ है । अब उत्तरार्धसे छेदनादिकी अयोग्यतामें हेतु बताते हैं ।

१. इस (२३ वें) श्लोकमें जल, तेज और वायुका निर्देश पावकः, आपः और मारुतः पदोंसे किया गया है, किन्तु पृथिवीका किस पदसे ? इस प्रश्नके उत्तरमें आदरणीय बच्चा झा ने कहा है कि 'शस्त्र' पदसे पृथ्वी का निर्देश किया गया है ।

(१) नित्योऽयं पूर्वापरकोटिरहितोऽतोऽनुत्पाद्यः । असर्वगतत्वे ह्यनित्यत्वं स्यात्, 'यावद्विकारं तु विभागः'[2] इति न्यायात्पराभ्युपगतपरमाण्वादीनामनभ्युपगमात् । अयं तु सर्वगतो विभुरतो नित्य एव । एतेन प्राप्यत्वं पराकृतम् । यदि चायं विकारी स्यात्तदा सर्वगतो न स्यात् । अयं तु स्थाणुरविकारी । अतः सर्वगत एव । एतेन विकार्यत्वमपाकृतम् । यदि चायं चलः क्रियावान्स्यात्तदा विकारी स्याद्घटादिवत् । अयं त्वचलोऽतो न विकारी । एतेन संस्कार्यत्वं निराकृतम् । पूर्वावस्थापरित्यागेनावस्थान्तरापत्तिर्विक्रिया । अवस्थैक्येऽपि चलनमात्रं क्रियेति विशेषः । यस्मादेवं तस्मात्सनातनोऽयं सर्वदैकरूपो न कस्या अपि क्रियायाः कर्मेत्यर्थः । उत्पत्त्याप्तिविकृतिसंस्कृत्यन्यतरक्रियाफलयोगे हि कर्मत्वं स्यात्[3] । अयं तु नित्यत्वान्नोत्पाद्यः, अनित्यस्यैव घटादेरुत्पाद्यत्वात् । सर्वगतत्वान्न प्राप्यः

(१) यह नित्य अर्थात् पूर्वापरकोटियोंसे रहित है, इसलिये उत्पाद्य नहीं है । किन्तु यदि यह सर्वगत नहीं होगा तो 'यावद्विकारं तु विभागः' इस न्यायसे इसकी अनित्यता सिद्ध होगी, क्योंकि नैयायिकोंके माने हुए परमाणु आदिको भी आचार्योंने नित्य नहीं माना है । यह आत्मा तो सर्वगत है अर्थात् विभु है, इसलिये नित्य ही है । इससे आत्माके प्राप्यत्वका निराकरण हो जाता है । यदि यह विकारी होता तो सर्वगत नहीं हो सकता था, किन्तु यह स्थाणु अर्थात् अविकारी है इसलिये सर्वगत ही है । इससे आत्माके विकार्यत्वका निषेध किया गया । और यदि यह चल = क्रियावान् होता तो घटादिके समान विकारी होता, यह तो अचल है इसलिये विकारी नहीं है । इससे आत्माके संस्कार्यत्वका निराकरण हो गया । पूर्व अवस्थाको बिना छोड़े किसी दूसरी अवस्थाको प्राप्त होना ही विक्रिया कहलाता है; तथा अवस्थाकी एकता रहनेपर भी चलनमात्रका नाम क्रिया है—यह विक्रिया और क्रियाका अन्तर है । चूँकि यह ऐसा है इसलिये सनातन = सर्वदा एकरूप है । अर्थात् यह किसी भी क्रियाका कर्म नहीं है ।

१. सब चार प्रकारकी क्रियाएँ होती हैं—उत्पत्ति, प्राप्ति, संस्कृति और विकृति । ('अग्नीनाद धीत' वाक्यसे विहित) आधान कर्मके द्वारा श्रौत अग्निकी उत्पत्तिकी जाती है, ('स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' वाक्यसे विहित) अध्ययन कर्मके द्वारा स्वाध्याय (वेदकी अपनी शाखा) की प्राप्ति की जाती है । ('व्रीहीन् प्रोक्षति' आदि वाक्योंसे विहित) प्रोक्षण आदि संस्कारोंसे व्रीहि आदिका संस्कार किया जाता है एवं ('व्रीहीनवहन्ति' आदि वाक्योंसे विहित) अवघात आदि कर्मोंसे व्रीहि आदि का विकार (छिलके उतारकर चावल बनाना) किया जाता है । इस आत्माकी उत्पत्ति नहीं की जा सकती क्योंकि उत्पत्ति उसी वस्तुकी हो सकती है, जिसकी पूर्वकोटि या अपरकोटि प्रसिद्ध हो । प्रत्येक अनित्य वस्तुकी दो कोटियाँ होती हैं—भाव और अभाव । अभाव दो प्रकारका होता है—वस्तुकी उत्पत्तिसे पूर्व अभाव (नैयायिकगण इसे प्रागभाव कहते हैं) और वस्तुके नष्ट हो जानेपर अभाव (जिसे नैयायिक ध्वंस या ध्वंसाभाव कहा करते हैं) । प्रागभावकी पूर्वकोटि तथा ध्वंसकी अपरकोटि कहा जाता है । आत्मा नित्य है, अतः इसकी पूर्वकोटि और अपरकोटि न होनेसे उत्पत्ति नहीं की जा सकती । इसी प्रकार आत्माकी प्राप्ति, संस्कृति और विकृति भी नहीं हो सकती ।

२. जो-जो विकार या कार्यरूप पदार्थ हैं उन सभीमें विभाग (विभक्तत्व या परिच्छिन्नत्व) रहता है ।

३. यदि आत्माकी उत्पत्ति होती, तब आत्मा उस उत्पत्तिरूप क्रियाका कर्म कारक (उत्पाद्य) होता । इसी प्रकार प्राप्ति होनेपर आत्मा प्राप्य, संस्कृति होनेपर संस्कार्य और विकृति होनेपर विकार्य होता ।

परिच्छिन्नस्यैव पयआदेः प्राप्यत्वात्। स्थाणुत्वादविकार्यः, विक्रियावतो घृतादेरेव विकार्यत्वात्। अचलत्वादसंस्कार्यः सक्रियस्यैव दर्पणादेः संस्कार्यत्वात्। तथा च श्रुतयः—'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' (छां० ३।१४।३) 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः', (श्वेश० ३।७९) 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' (श्वेता० ६।१९) इत्यादयः। 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यस्तेजसि तिष्ठंस्तेजसोऽन्तरो यो वायौ तिष्ठन्वायोरन्तरः' (बृह० ३।७।३) इत्याद्या च श्रुतिः सर्वगतस्य सर्वान्तर्यामितया तदविषयत्वं दर्शयति। यो हि शस्त्रादौ न तिष्ठति तं शस्त्रादयश्छिन्दन्ति। अयं तु शस्त्रादीनां सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन तत्प्रेरकस्तदन्तर्यामी। अतः कथमेनं शस्त्रादीनि स्वव्यापारविषयी कुर्युरित्यभिप्रायः। अत्र 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै० ब्रा० ३।१२।९७) इत्यादिश्रुतयोऽनुसंधेयाः। सप्तमाध्याये च प्रकटी करिष्यति श्रीभगवानिति दिक् ॥ २४ ॥

उत्पत्ति, आप्ति, विकृति और संस्कृति इनमेंसे किसी भी क्रियाका फल होनेपर ही कर्मत्व हो सकता है। यह आत्मा तो नित्य होनेके कारण उत्पाद्य नहीं है, क्योंकि अनित्य घटादि ही उत्पाद्य हुआ करते हैं; सर्वगत होनेके कारण प्राप्य नहीं है, क्योंकि परिच्छिन्न घटादि ही प्राप्य होते हैं; स्थाणु होनेके कारण विकार्य नहीं है, क्योंकि विकारी घृतादि ही विकार्य होते हैं तथा अचल होनेके कारण असंस्कार्य है, क्योंकि सक्रिय दर्पणादि ही संस्कार्य होते हैं। इसी प्रकार 'आकाशके समान सर्वगत और नित्य है' 'अपने स्वप्रकाश रूपमें यह वृक्षके समान निश्चल भावसे अकेला ही स्थित है' 'निरवयव निष्क्रिय और शान्त है' इत्यादि श्रुतियाँ तथा 'जो पृथ्वीमें रहनेके कारण पृथ्वीके भीतर है, जलमें रहनेके कारण जलके भीतर है, तेजमें रहनेके कारण तेजके भीतर है और वायुमें रहनेके कारण वायुके भीतर है' इत्यादि श्रुति सर्वगत आत्माको सबका अन्तर्यामी होनेके कारण उन विकारोंका अविषय दिखाती है। शस्त्रादि तो उसीको काटते हैं जो शस्त्रादिके भीतर नहीं रहता। यह आत्मा तो शस्त्रादिको सत्ता और स्फूर्ति देनेवाला होनेसे उनका प्रेरक और अन्तर्यामी है। अतः अभिप्राय यह है कि शस्त्रादि इसे अपने व्यापारका विषय किस प्रकार कर सकते हैं? यहाँ 'जिससे प्रदीप्त होकर सूर्य तपता है' इत्यादि श्रुतियोंपर ध्यान देना चाहिये। इस विषयको भगवान् सातवें अध्यायमें प्रकट करेंगे, इसलिये यहाँ केवल दिग्दर्शनमात्र कराया है ॥ २४ ॥

१. कुछ लोगोंका कहना है कि यहाँ मधुसूदन सरस्वतीका 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' आदि श्रुतियोंका प्रदर्शन करना अनुचित है, क्योंकि गीताके प्रथम छः अध्यायोंमें त्वंपदार्थका निरूपण किया गया है, यहाँ तत्पदार्थपरक श्रुतियोंकी चर्चा नहीं की जा सकती। इसी प्रकार मधुसूदन सरस्वती का 'यो हि शस्त्रादौ न तिष्ठति तं शस्त्रादयः छिन्दन्ति, अयं तु शस्त्रादीनां सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन तत्प्रेरकस्तदन्तर्यामी; अतः कथमेनं शस्त्रादीनि स्वव्यापारविषयीकुर्युः?—यह कथन भी असंगत है, क्योंकि शस्त्रमें स्थित लोहा भी शस्त्रसे काटा जाता है। यहाँ विचारणीय यह है कि उस श्लोकमें आत्माको नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल और सनातन कहा गया है। इसमें प्रमाण क्या है? ऐसे प्रश्नके उत्तरमें उचित श्रुतियोंका प्रदर्शन अनुचित क्यों? सब व्याख्याताओंका दृष्टिकोण एक ही रहे—यह आवश्यक नहीं। 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि वाक्योंमें त्वंपदार्थका निर्देश पहले है, किन्तु 'तत्त्वमसि' में तत्पदार्थका प्रथम उल्लेख है, इसके अनुसार गीताके प्रथम षट्कमें तत्पदार्थका निरूपण क्यों न मान लिया जाय?

यहाँ यह भी ध्यानमें रखना है कि इस श्लोकके 'स्थाणु' आदि की व्याख्यामें भेदवादियोंने (तिष्ठतीति स्थः, स्थथ्वासावणुश्चेति स्थाणुः—इस व्युत्पत्तिसे) आत्माको अणु और नाना सिद्ध करके शांकर

(१) छेद्यत्वादिग्राहकप्रमाणाभावादपि तद्भाव इत्याह—अव्यक्तोऽयमित्याद्यर्धेन—

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

यो हीन्द्रियगोचरो भवति स प्रत्यक्षत्वाद्व्यक्त इत्युच्यते। अयं तु रूपादिहीनत्वान्न तथा। अतो न प्रत्यक्षं तत्र च्छेद्यत्वादिग्राहकमित्यर्थः।

(२) प्रत्यक्षाभावेऽप्यनुमानं स्यादित्यत आह—अचिन्त्योऽयं चिन्त्योऽनुमेयस्तद्विलक्षणोऽयम्। क्वचित्प्रत्यक्षो हि वह्न्यादिर्गृहीतव्याप्तिकस्य धूमादेर्दर्शनात्क्वचिदनुमेयो भवति। अप्रत्यक्षे तु व्याप्तिग्रहणासंभवान्नानुमेयत्वमिति भावः। अप्रत्यक्षस्यापीन्द्रियादेः सामान्यतोदृष्टानुमानविषयत्वं

[श्लोकार्थः—यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य कहा जाता है। अतः इसे इस प्रकारका जानकर तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये ॥ २५ ॥]

(१) छेद्यत्व आदिको ग्रहण करनेवाले प्रमाणका अभाव होनेके कारण भी इस आत्मामें उन (छेद्यत्व आदि) का अभाव है—यह बात 'अव्यक्तोऽयम्' इत्यादि आधे श्लोकसे कहते हैं। जो पदार्थ इन्द्रियोंका विषय होता है वही प्रत्यक्ष होनेके कारण 'व्यक्त' कहा जाता है। यह तो रूपादि-हीन होनेके कारण वैसा है नहीं; अतः तात्पर्य यह है कि इसमें छेद्यत्वादिको ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्ष प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

(२) प्रत्यक्ष न होनेपर भी इसकी छेद्यता आदिका अनुमान तो हो ही सकता है—ऐसा यदि कहो तो भगवान् कहते हैं 'यह अचिन्त्य है'। चिन्त्य अनुमेयको कहते हैं, उससे यह विलक्षण है। जिनकी व्याप्तिका ग्रहण किया हुआ है, उन धूमादिके देखनेसे ही किसी स्थानपर प्रत्यक्ष किये हुए अग्नि आदिका अनुमान किया जा सकता है। जिस पदार्थका प्रत्यक्ष नहीं हुआ, उसमें व्याप्तिका ग्रहण असम्भव होनेके कारण वह अनुमानका भी विषय नहीं हो सकता—ऐसा इसका भाव है। किन्तु इन्द्रिय आदि अप्रत्यक्ष पदार्थोंको भी सामान्यतोदृष्ट अनुमानका विषय देखा है, इसलिये कहते हैं—'यह अविकार्य है'। नेत्रादि इन्द्रियाँ जो विकारी पदार्थ हैं, वे ही अपने कार्यकी अन्य प्रकारसे उपपत्ति न हो

मतका निराकरण किया था। उनका खण्डन और शांकर मतका व्यवस्थापन करनेके लिए अत्यन्त उपयुक्त 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः' श्रुतिका उल्लेख करके भेदवादियोंका मुख बन्द किया गया है। दूसरे आक्षेपमें जो किया गया था कि शस्त्रमें स्थित लोहा भी शस्त्रसे कट जाता है। अवश्य कट जाता है, किन्तु उसी शस्त्रसे नहीं, दूसरेसे कट सकता है। छेनीकी धार कितनी तेज क्यों न हो, उससे उसकी ही धारका लोहा कैसे कटेगा? आत्मा तो सब शस्त्रोंकी धार है, उससे उसे काटनेका सामर्थ्य किसमें है?

१. न्यायदर्शनमें अनुमानके तीन भेद किये गये हैं—पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतो दृष्ट (न्या० सू० १।१।५)। जहाँ अन्यजातीय व्यापककी व्याप्तिसे अन्यजातीय साध्य सिद्ध किया जाता है, उसे 'सामान्यतो दृष्ट' अनुमान कहते हैं, जैसे इन्द्रियविषयक अनुमान—'रूपादिज्ञानं सकरणकं क्रियात्वात् छिदादिवत्'। यहाँ क्रियात्व हेतुसे इन्द्रियजातीय साध्यकी सिद्धि करनी है, किन्तु इन्द्रियजातीयकी व्याप्तिका क्रियात्वमें दर्शन नहीं हुआ, अपितु वास्यजातीयकी व्याप्ति छेदन क्रियामें देखी गई है। उसके बलपर इन्द्रियजातीय करणका अनुमान किया जाता है। इस प्रकार इन्द्रियमें अनुमान-विषयत्व होता है।

दृष्टमत आह—अविकार्योऽयं यद्विक्रियावच्चुरादिकं तत्स्वकार्यान्यथानुपपत्त्या कल्प्यमानमर्थापत्तेः सामान्यतोदृष्टानुमानस्य च विषयो भवति। अयं तु न विकार्यो न विक्रियावानतो नार्थापत्तेः सामान्यतोदृष्टस्य वा विषय इत्यर्थः। लौकिकशब्दस्यापि प्रत्यक्षादिपूर्वकत्वात्तन्निषेधेनैव निषेधः।

(१) ननु वेदेनैव तत्र च्छेद्यत्वादि[1]ग्रहीष्यत इत्यत आह—उच्यते = वेदेन,[2] सोपकरणेनाच्छेद्या-व्यक्तादिरूप एवात्रमुच्यते तात्पर्येण प्रतिपाद्यते। अतो न वेदस्य तत्प्रतिपादकस्यापि च्छेद्यत्वादि-प्रतिपादकत्वमित्यर्थः।

(२) अत्र 'नैनं छिन्दन्ति' (गी० २।२३) इत्यत्र शस्त्रादीनां तन्नाशकसामर्थ्याभाव उक्तः। अच्छेद्योऽयमित्यादौ तस्य च्छेदादिकर्मत्वायोग्यत्वमुक्तम्। अव्यक्तोऽयमित्यत्र तच्छेदादिग्राहकमाना-भाव उक्त इत्यपौनरुक्त्यं द्रष्टव्यम्। वेदाविनाशिनमित्यादीनां तु श्लोकानामर्थतः शब्दतश्च पौन-रुक्त्यं भाष्यकृद्भिः परिहृतम्—'दुर्बोधत्वादात्मवस्तुनः पुनः पुनः प्रसङ्गमापाद्य शब्दान्तरेण तदेव

सकनेके कारण कल्पना किये हुए अर्थापत्ति और सामान्यतोदृष्ट अनुमानके विषय देखे गये हैं। यह आत्मा तो विकार्य अर्थात् विक्रियायुक्त नहीं है, इसलिये यह न तो अर्था पत्ति प्रमाणका विषय है और न सामान्यतोदृष्ट अनुमानका—ऐसा इसका तात्पर्य है। लौकिक शब्द भी प्रत्यक्षादिपूर्वक ही प्रमाणरूपसे ग्रहण किया जाता है, अतः उनका निषेध होनेसे उसका भी निषेध हो जाता है।

(१) यदि कहो कि वेद ही से उसके छेद्यत्वादिका ग्रहण हो जायगा तो भगवान् कहते हैं—'कहा जाता है' अर्थात् सामग्री सहित वेदद्वारा भी यह आत्मा अच्छेद्य और अव्यक्तादिरूप ही कहा जाता—तात्पर्यसे प्रतिपादन किया जाता है। अतः तात्पर्य यह है कि इसके प्रतिपादक वेदमें भी इसके छेद्यत्वादिकी प्रतिपादकता नहीं है।

(२) यहाँ 'नैनं छिन्दन्ति' इत्यादि श्लोकसे शस्त्रादिमें उसका नाश करनेकी शक्तिका अभाव बताया गया है, 'अच्छेद्योऽयम्' इत्यादि श्लोकसे उसमें छेदनादिका कर्म होनेकी अयोग्यता बतायी है तथा 'अव्यक्तोऽयम्' इत्यादि श्लोकसे उसके छेदादिका ग्रहण करानेवाले प्रमाणका अभाव बताया है—इस प्रकार इनकी अपुनरुक्ति ही समझनी चाहिये। भगवान् भाष्यकारने भी 'आत्मतत्त्व बड़ा दुर्बोध है, इसलिये भगवान् वासुदेव बार-बार प्रसंग उठाकर शब्दान्तरसे उसी वस्तुका निरूपण करते हैं, जिससे किसी प्रकार यह तत्त्व संसारी पुरुषोंकी बुद्धिमें बैठकर उनकी संसारनिवृत्तिका कारण हो सके' ऐसा

---

१. 'स्व' पदसे चक्षुरादिका ग्रहण करना चाहिए। चक्षुरादिका कार्य होता है—रूप-दर्शन आदि। रूप-दर्शनकी अन्यथा (चक्षुरादिके बिना) उपपत्ति नहीं हो सकती, इस अनुपपत्तिसे चक्षुरादि की कल्पना की जाती है। इसीका नाम अर्थापत्ति है।

२. लौकिक शब्द प्रत्यक्षादिमूलक होता है, क्योंकि शब्दकी शक्ति (अपने अर्थके बोधन का सामर्थ्य) का ज्ञान तभी होता है, जबकि उसके अर्थको प्रत्यक्षतः देखा जाय। नयन-आनयन आदि क्रिया-समन्वयरूप व्यवहारके द्वारा जिस शब्दकी शक्तिका ग्रह (ज्ञान) होता है, उसी शब्दसे उसके अर्थका बोध होता है। अतः शब्दकी गति भी वहींतक है, जहाँ प्रत्यक्ष प्रवृत्त हो सकता है।

३. सहायक सामग्रीको 'उपकरण' कहा जाता है। वेदकी सहायक सामग्री होती है—निगम, निरुक्त, मीमांसा, तात्पर्य-ग्राहक षड्लिङ्ग आदि। इनकी सहायतासे वेद आत्माको अच्छेद्य, अव्यक्त ही बताता है।

वस्तु निरूपयति भगवान्वासुदेवः कथं नु नाम संसारिणां बुद्धिगोचरमापन्नं तत्त्वं संसारनिवृत्तये स्यात्' (गी० शां० भा० २।२४) इति वदद्भिः।

(१) एवं पूर्वोक्तयुक्तिभिरात्मनो नित्यत्वे निर्विकारत्वे च सिद्धे तव शोको नोपपन्न इत्युपसं-हरति—तस्मादित्यर्धेन। एतादृशात्मस्वरूपवेदनस्य शोककारणनिवर्तकत्वात्तस्मिन्सति शोको नोचितः कारणभावे कार्याभावस्याऽऽवश्यकत्वात्। तेनाऽऽत्मानमविदित्वा यदन्वशोचस्तद्युक्तमेव। आत्मानं विदित्वा तु नानुशोचितुमर्हसीत्यभिप्रायः॥ २५॥

(२) एवमात्मनो निर्विकारत्वेनाशोच्यत्वमुक्तमिदानीं विकारवत्त्वमभ्युपेत्यापि श्लोकद्वयेनाशो-च्यत्वं प्रतिपादयति भगवान्। तत्राऽऽत्मा ज्ञानस्वरूपः प्रतिक्षणविनाशीति सौगताः। देह एवा-ऽऽत्मा स च स्थिरोऽप्यनुक्षणपरिणामी जायते नश्यति चेति प्रत्यक्षसिद्धमेवैतदिति लोकायतिकाः। देहातिरिक्तोऽपि देहेन सहैव जायते नश्यति चेत्यन्ये। सर्गाद्यकाल एवाऽऽकाशवज्जायते देहभेदेऽप्य-

---

कहते हुए 'वेदाविनाशिनम्' इत्यादि श्लोकोंकी अर्थतः और शब्दतः पुनरुक्तिका परिहार किया है।

(१) इस प्रकार पूर्वोक्त युक्तियोंसे आत्माकी नित्यता और निर्विकारिता सिद्ध होनेके कारण तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है—इस प्रकार 'तस्मादेवं विदित्वैनम्' इत्यादि आधे श्लोकसे भगवान् उपसंहार करते हैं। इस प्रकारके आत्मस्वरूपका ज्ञान शोकके कारणकी निवृत्ति करनेवाला है, अतः वह ज्ञान प्राप्त हो जानेसे तुम्हें शोक करना उचित नहीं है ; क्योंकि कारणका अभाव होनेपर तो कार्यका अभाव होना अनिवार्य ही है। अतः आत्माको न जाननेपर जो तुम शोक करते थे वह तो ठीक ही था, किन्तु आत्माको जानकर अब तुम्हें शोक करना योग्य नहीं है—ऐसा इसका अभिप्राय है॥२५॥

(२) इस प्रकार आत्माकी निर्विकारताकी दृष्टिसे उसकी अशोच्यता बतायी, अब दो श्लोकोंसे भगवान् उसकी विकारवत्ता मानकर भी अशोच्यताका प्रतिपादन करते हैं। इस पक्षमें बौद्धोंका मत है कि 'आत्मा ज्ञानस्वरूप और प्रत्येक क्षणमें नष्ट होनेवाला है। लोकायतिक कहते हैं कि 'देह ही आत्मा है, वह स्थिर होनेपर भी क्षण-क्षणमें परिणामको प्राप्त होनेवाला है तथा उत्पन्न और नष्ट भी होता है—यह प्रत्यक्षसिद्ध ही है।' दूसरे लोगोंका कहना है कि 'देहसे पृथक् होनेपर भी यह देहके साथ ही उत्पन्न होता और नष्ट हो जाता है।' अन्य मतवादियोंका कथन है कि 'आत्मा सर्गके आरम्भमें आकाशके समान उत्पन्न हुआ है, देहोंके बदलते रहनेपर भी यह उनका अनुवर्तन करते हुए कल्पान्तपर्यन्त रहता है तथा प्रलयमें नष्ट हो जाता है।' नैयायिक कहते हैं कि 'आत्मा नित्य ही है, तो भी उत्पन्न होता और मरता रहता है।' इसी प्रकार अन्य मतावलम्बियोंका कहना है कि 'मरकर पैदा होना जन्म कहलाता है, यह जन्म नवीन देह और इन्द्रियोंसे सम्बन्ध होना है। इसी प्रकार मरण भी पूर्व देह और इन्द्रिय आदिसे विच्छेद होना

---

१. विज्ञानवादी बौद्धोंका कहना है कि आत्मा भी घट आदिके समान विज्ञानका परिणाम है—

आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते।
विज्ञानपरिणामोऽसौ परिणामः स च त्रिधा॥ (त्रिंशिका १)

विज्ञान क्षणिक है, क्योंकि अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्त्वकी व्यवस्था स्थिर पक्षमें सम्भव नहीं। दूसरी बात यह भी है कि प्रत्येक पदार्थ अपने नाशमें हेत्वन्तर की अपेक्षा नहीं करता, अतः स्वभावतः नाश प्रतिक्षण होता रहता है।

नुवर्तमान एवाऽऽकल्पस्थायी नश्यति प्रलय इत्यपरे। नित्य एवाऽऽत्मा जायते म्रियते चेति तार्किकाः। तथाहि—प्रेत्यभावो जन्म। स चापूर्वदेहेन्द्रियादिसंबन्धः। एवं मरणमपि पूर्वदेहेन्द्रियादिविच्छेदः। इदं चोभयं धर्माधर्मनिमित्तत्वात्तदाधारस्य नित्यस्यैव मुख्यम्। अनित्यस्य तु कृतहान्यकृताभ्यागमप्रसङ्गेन धर्माधर्माधारत्वानुपपत्तेर्न जन्ममरणे मुख्ये इति वदन्ति। नित्यस्यात्मनः कर्णशष्कुलीजन्मनाऽऽकाशस्येव देहजन्मना जन्म तन्नाशाच्च मरणं तदुभयमौपाधिकममुख्यमेवेत्यन्ये। तत्रानित्यत्वपक्षेऽपि शोच्यत्वमाह्नो निषेधति—

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथाऽपि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

(१) अथेति पक्षान्तरे। चोऽप्यर्थे। यदि दुर्बोधत्वादात्मवस्तुनोऽसकृच्छ्रवणेऽप्यवधारणासामर्थ्यान्ममदुक्तपक्षानङ्गीकारेण पक्षान्तरमभ्युपैषि। तत्राप्यनित्यत्वपक्षमेवाऽऽश्रित्य यद्येनमात्मानं नित्यं जातं नित्यं मृतं वा मन्यसे। वाशब्दश्चार्थे। क्षणिकत्वपक्षे नित्यं प्रतिक्षणं पक्षान्तरे आवश्यकत्वान्नित्यं नियतं जातोऽयं मृतोऽयमिति लौकिकप्रत्ययवशेन यदि कल्पयसि तथाऽपि हे महाबाहो पुरुषधौरेयेति सोपहासं कुमताभ्युपगमात्, त्वय्येतादृषी कुदृष्टिर्न संभवतीति सानुकम्पं वा। एवम्—

है। ये जन्म और मरण दोनों धर्म और अधर्मजनित होनेके कारण अपने नित्य आधारमें ही मुख्यरूपसे रह सकते हैं। अनित्य आत्मामें तो कृतनाश और अकृताभ्यागमका प्रसंग होनेके कारण धर्माधर्मकी आधारता ही नहीं हो सकती, इसलिये उसके जन्म-मरण भी नहीं माने जा सकते।' कुछ दूसरे लोगोंका कथन है कि 'कर्णगोलककी उत्पत्तिसे कर्णावच्छिन्न आकाशकी उत्पत्तिके समान देहके जन्म और मरणसे आत्माके औपाधिक जन्म और मरण अमुख्य ही होते हैं।' 'इस प्रकार अनित्यताका पक्ष स्वीकार करके भी भगवान् उसकी शोच्यताका निषेध करते हैं—

[श्लोकार्थः—और हे महाबाहो! यदि तुम इसे नित्य उत्पन्न होनेवाला और नित्य मरनेवाला समझते हो तो भी तुम्हें इस प्रकार शोक नहीं करना चाहिये ॥ २६ ॥

(१) यहाँ 'अथ' शब्दका 'पक्षान्तर' और 'च' शब्दका 'भी' अर्थमें प्रयोग हुआ है। यदि आत्मतत्त्वकी दुर्बोधताके कारण बार-बार सुननेपर भी उसे समझनेमें असमर्थ होनेके कारण मेरे कहे हुए पक्षको अङ्गीकार न करके तुम कोई दूसरा पक्ष ही मानते हो, और उसमें भी इसके अनित्यत्वके पक्षका ही आश्रय लेकर इसे नित्य उत्पन्न और नित्य मरनेवाला मानते हो। यहाँ 'वा' शब्द 'और' अर्थमें है। तात्पर्य यह है कि यदि तुम इसके जन्म और नाशकी क्षणिकत्व पक्षमें नित्य यानी प्रतिक्षण और दूसरे पक्षोंमें आवश्यक होनेके कारण 'यह उत्पन्न हुआ है, यह मरा है' ऐसी लौकिक प्रतीतिके कारण नित्य यानी नियत कल्पना करते हो तो भी 'हे महाबाहो! = हे पुरुषाग्रणी!' ऐसा कहकर अर्जुनका उपहास करते हैं, क्योंकि उसने कुमतको स्वीकार किया हुआ है। अथवा 'तुमको ऐसी कुदृष्टि तो नहीं होनी चाहिये थी' ऐसा करुणापूर्वक कहते हैं। अतः तुम

१. 'पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः' (न्या० सू० १।१।१९) इस सूत्रमें भाष्यकार (श्रीवात्स्यायन महर्षिने कहा है कि प्रेत्य=मरकर भावः=जन्म लेनेका नाम प्रेत्यभाव है। नित्य आत्माका पुराने शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद करना मरण और नूतन शरीरके साथ सम्बन्ध जोड़ना जन्म है। कुछ भी हो, नित्य आत्माका जन्म-मरण नैयायिक मानते हैं। यही जन्म-मरण मुख्य है। जो लोग शरीरके जन्म-मरणका व्यवहार-मात्र आत्मामें करते हैं, वे आत्मामें गौण जन्म-मरण मानते हैं।

'अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्' (गी० १।४५) इत्यादि यथा शोचसि एवंप्रकारमनुशोकं कर्त्तुं स्वयमपि त्वं तादृश एव सम्भावितो योग्यो न भवसि। क्षणिकत्वपक्षे देहात्मवादपक्षे देहेन सह जन्मविनाशपक्षे च जन्मान्तराभावेन पापभयासंभवात्पापभयेनैव खलु त्वमनुशोचसि। तच्चैतादृशे दर्शने न संभवतीत्यर्थः। क्षणिकत्वपक्षे च दृष्टमपि दुःखं न संभवति बन्धुविनाशदर्शित्वाभावादित्यधिकम्। पक्षान्तरे दृष्टदुःखनिमित्तं शोकमभ्यनुज्ञातुमेवंकारः। दृष्टदुःखनिमित्तशोकसंभवेऽप्यदृष्टदुःखनिमित्तः शोकः सर्वथा नोचित इत्यर्थः प्रथमश्लोकस्य ॥ २६ ॥

(१) नन्वात्मन आभूतसंप्लवस्थायित्वपक्षे नित्यत्वपक्षे च दृष्टादृष्टदुःखसंभवात्तद्भयेन शोचामीत्यत आह द्वितीयश्लोकेन—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

(२) हि यस्माज्जातस्य स्वकृतधर्माधर्मादिवशाल्लब्धशरीरेन्द्रियादिसंबन्धस्य स्थिरस्याऽऽत्मनो ध्रुव आवश्यको मृत्युस्तच्छरीरादिविच्छेदस्तदारम्भककर्मक्षयनिमित्तः संयोगस्य वियोगावसानत्वात्। तथा ध्रुवं जन्म मृतस्य च प्राग्देहकृतकर्मफलोपभोगार्थं सानुशयस्यैव प्रस्तुतत्वान्न जीवन्मुक्ते [1]व्यभि-

जो 'हाय हमने बड़ा भारी पाप करनेका निश्चय किया है'—इस प्रकार शोक करते हो, सो ऐसे होकर तुम्हें स्वयं ही इस तरहका शोक करना उचित नहीं है। क्षणिकत्व पक्षमें देहात्मवाद पक्षमें तथा देहके साथ ही आत्माके जन्म और नाश माननेके पक्षमें जन्मान्तरका अभाव होनेके कारण पापका भय तो हो नहीं सकता, और तुम पापके भयसे ही शोक करते थे, सो उसकी इस प्रकारके दर्शनोंमें सम्भावना नहीं है—ऐसा इसका तात्पर्य है। क्षणिकत्व पक्षमें इतनी विशेषता और भी है कि उसके अनुसार बन्धुविनाशको देखनेवाले आत्माका दूसरे ही क्षणमें अभाव हो जानेके कारण दृष्ट दुःखकी भी सम्भावना नहीं है। दूसरे पक्षोंमें दृष्ट दुःखजनित शोक स्वीकार करनेकी दृष्टिसे ही 'एव' शब्द दिया है। अतः दृष्टदुःखजनित शोककी सम्भावना होनेपर भी अदृष्टदुःखजनित शोक तो किसी प्रकार उचित नहीं है—यह पहले श्लोकका तात्पर्य है ॥ २६ ॥

(१) अब यदि ऐसा कहे कि आत्माके भूतोंके प्रलयपर्यन्त रहने तथा नित्य रहनेके पक्षमें भी लौकिक और पारलौकिक दुःखोंकी सम्भावना है ही, उन्हींके भयसे मैं शोक करता हूँ—तो भगवान् दूसरे श्लोकसे कहते हैं—

[श्लोकार्थः—जो उत्पन्न हुआ है उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मरा है उसका जन्म निश्चित है। अतः जो बात टल नहीं सकती उसके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये ॥ २७ ॥]

(२) 'हि'=क्योंकि उत्पन्न होनेवाले अर्थात् अपने किये हुए धर्म एवं अधर्म आदिके कारण जिसे शरीर और इन्द्रियोंका सम्बन्ध प्राप्त हुआ है उस स्थिर आत्माका मृत्यु शरीरके आरम्भक कर्मोंके क्षयसे होनेवाला उन शरीरादिका विच्छेद ध्रुव=आवश्यक है, क्योंकि संयोगका अन्त वियोगमें ही हुआ करता है। तथा मरनेवालेका जन्म होना निश्चित है। जन्म पूर्व देहमें किये हुए कर्मोंका फल भोगनेके लिये कर्मवासनायुक्त

१. क्योंकि जीवन्मुक्तमें तो कर्मवासना ही नहीं होती, इसलिये यदि देहपातके पश्चात् उनका जन्म न हो तो इससे इस नियममें कोई बाधा नहीं आती।

चारः। तस्मादेवमपरिहार्ये परिहर्तुमशक्येऽस्मिञ्जन्ममरणलक्षणेऽर्थे विषये त्वमेवं विद्वान्न शोचितुमर्हसि। तथा च वक्ष्यति—'अहितेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे' (गी० ११।३२) इति। यदि हि त्वया युद्धेऽनाहन्यमाना एते जीवेषुरेव तदा युद्धाय शोकस्तवोचितः स्यात्। एते तु कर्मक्षयात्स्वयमेव म्रियन्त इति तत्परिहारासमर्थस्य तव दृष्टदुःखनिमित्तः शोको नोचित इति भावः।

(१) एवमदृष्टदुःखनिमित्तेऽपि शोके 'तस्मादपरिहार्येऽर्थे' इत्येवोत्तरम्। युद्धाख्यं हि कर्म क्षत्रियस्य नियतमग्निहोत्रादिवत्। तच्च 'युध संप्रहारे' इत्यस्माद्धातोर्निष्पन्नं शत्रुप्राणवियोगानुकूलशस्त्रप्रहाररूपं विहितत्वाज्ज्योतिष्टोमीयादिंसावन्न प्रत्यवायजनकम्। तथा च गौतमः स्मरति—'न दोषो हिंसायामाहवेऽन्यत्र व्यश्वसारथ्यनायुधकृताञ्जलिप्रकीर्णकेशपराङ्मुखोपविष्टस्थलवृक्षारूढदूतगोब्राह्मणवादिभ्यः' इति। ब्राह्मणग्रहणं चात्रायोद्धृब्राह्मणविषयं गवादिप्रायपाठादिति स्थितम्। एतच्च सर्वं स्वधर्ममपि चावेक्ष्येत्यत्र स्पष्टी करिष्यते। तथा च युद्धलक्षणेऽर्थेऽग्निहोत्रादिवद्धितत्वादपरिहार्ये परिहर्तुमशक्ये तदकरणे प्रत्यवायप्रसङ्गात्त्वमदृष्टदुःखभयेन शोचितुं नार्हसीति पूर्ववत्।

(२) यदि तु युद्धाख्यं कर्म काम्यमेव,

'य आहवेषु युध्यन्ते भूम्यर्थमपराङ्मुखाः।
आकूटैरायुधैर्यान्ति ते स्वर्गं योगिनो यथा॥' (याज्ञ० १३।३२४)

जीवको ही प्राप्त होता है इसलिये जीवन्मुक्तिसे इस नियमका व्यभिचार नहीं होता। अतः ऐसा जानकर इस जन्म-मरणरूप अपरिहार्य=न टल सकनेवाले विषयमें तुम्हें शोक करना उचित नहीं है। ऐसा ही भगवान् आगे कहेंगे भी—'तेरे युद्ध न करनेपर भी इन सबमेंसे कोई रहेगा नहीं।' यदि युद्धमें तुम्हारे न मारनेपर ये जीवित रह सकें, तब तो युद्धके लिये तुम्हारा शोक करना उचित हो सकता है, किन्तु वे तो अपने कर्मोंका क्षय होनेसे स्वयं ही मर जायेंगे, अतः उसका परिहार करनेमें असमर्थ तुम्हारा यह दृष्टदुःखके लिये शोक करना उचित नहीं है—ऐसा इसका भाव है।

(१) इसी प्रकार अदृष्टदुःखनिमित्तक शोकके लिये भी 'तस्मादपरिहार्येऽर्थे' इत्यादि ही उत्तर है। क्षत्रियके लिये युद्धरूप कर्म अग्निहोत्रादिके समान ही नियत है। 'युध् सम्प्रहारे' इस धातुसे निष्पन्न हुआ शत्रुके प्राणवियोगके अनुकूल शस्त्र-प्रहाररूप युद्ध कर्मविहित होनेके कारण अग्निषोमीयादि यज्ञोंमें होनेवाली हिंसाके समान प्रत्यवायका कारण नहीं है। इसी प्रकार गोतमजी भी अपनी स्मृतिमें कहते हैं—'अश्वहीन, सारथिहीन, शस्त्रहीन, हाथ जोड़नेवाले, बाल बिखरे हुए, पीठ दिखानेवाले, बैठे हुए, किसी स्थान या वृक्षपर चढ़े हुए तथा दूत, गौ और अपनेको ब्राह्मण बतानेवाले पुरुषको छोड़कर युद्धमें और किसीकी हिंसा करनेमें दोष नहीं है।' गौ आदिके साथ पाठ होनेके कारण ब्राह्मण शब्द यहाँ न लड़नेवाले ब्राह्मणके लिये ग्रहण किया गया है—ऐसा निश्चय होता है। इस सब प्रसंगका 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' इस श्लोककी टीकामें स्पष्टीकरण किया जायगा। इस प्रकार युद्धरूप विषयमें, जो अग्निहोत्रके समान विहित होनेके कारण अपरिहार्य है=टाला नहीं जा सकता, क्योंकि इसे न करनेसे प्रत्यवायका प्रसंग उपस्थित होता है, तुम्हें अदृष्टदुःखके भयसे भी शोक करना उचित नहीं है—इस प्रकार पूर्ववत् समझना चाहिये।

(२) यदि 'जो लोग युद्धस्थानमें पीठ न दिखाते हुए पृथ्वीके लिये कपटहीन होकर शस्त्रोंसे युद्ध करते हैं, वे योगियोंके समान स्वर्गलोकको जाते हैं' इस याज्ञवल्क्यके वचनानुसार तथा 'मारा गया तो स्वर्ग प्राप्त करेगा और जीत गया तो पृथ्वीका राज्य

इति याज्ञवल्क्यवचनात्, 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' इति भगवद्वचनाच्च, तदाऽपि प्रारब्धस्य कोम्यस्यापि अवश्यपरिसमापनीयत्वेन नित्यतुल्यत्वाच्चया च युद्धस्य प्रारब्धत्वादपरिहार्यत्वं तुल्यमेव।

(१) अथवाऽऽत्मनित्यत्वपक्ष एव श्लोकद्वयमर्जुनस्य परमास्तिकस्य वेदबाह्यमताभ्युपगमासंभवात्। अक्षरयोजना तु नित्यश्चासौ देहेन्द्रियादिसंबन्धवशाज्जातश्चेति नित्यजातस्तमेनमात्मानं नित्यमपि सन्तं जातं चेन्मन्यसे तथा नित्यमपि सन्तं मृतं चेन्मन्यसे तथाऽपि त्वं नानुशोचितुमर्हसीति हेतुमाह—जातस्य हीत्यादिना। नित्यस्य जातत्वं मृतत्वं च प्राग्व्याख्यातं, स्पष्टमन्यत्। भाष्यमप्यस्मिन्पक्षे योजनीयम्॥ २७॥

(२) तदेवं सर्वप्रकारेणाऽऽत्मनोऽशोच्यत्वमुपपादितमथेदानीमात्मनोऽशोच्यत्वेऽपि भूतसंघातात्मकानि शरीराण्युद्दिश्य शोचामीत्यर्जुनाशङ्कामपनुदति भगवान्—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ २८॥

(३) आदौ जन्मनः प्राग्व्यक्तानि अनुपलब्धानि भूतानि पृथिव्यादिभूतमयानि शरीराणि मध्ये जन्मानन्तरं मरणात्प्राग्व्यक्तानि उपलब्धानि सन्ति। निधने पुनरव्यक्तान्येव भवन्ति। यथा

भोगेगा' इस भगवद्वाक्यके अनुसार युद्धसंज्ञक कर्मको काम्य ही माना जाय तो भी आरम्भ किये हुए काम्य कर्मको भी अवश्य समाप्त करना चाहिये—इस दृष्टिसे या नित्य कर्मके समान होनेसे तथा तुमने युद्ध आरम्भ कर दिया है, इस दृष्टिसे इसकी अपरिहार्यता समान ही है।

(१) अथवा ये दोनों श्लोक आत्माकी नित्यताके ही पक्षमें हैं, क्योंकि परम-आस्तिक अर्जुनकी वेदबाह्यता माननी सम्भव नहीं है। तब इसके अक्षरोंको इस प्रकार लगाना होगा—यह आत्मा नित्य है तथा देह और इन्द्रियादिके सम्बन्धके कारण जात (उत्पत्तिमान्) भी है—अतः यह नित्यजात है। ऐसे इस आत्माको नित्य होनेपर भी यदि तुम जात मानते हो तो भी तुम इसके लिये शोक करने योग्य नहीं हो—ऐसी प्रतिज्ञा करके भगवान् 'जातस्य हि' इत्यादिसे इसका हेतु बताते हैं। नित्यके जातत्व और मृतत्व की व्याख्या पहलेकी जा चुकी है। शेष सब स्पष्ट है। इसी पक्षमें भाष्यकी भी योजना कर लेनी चाहिये॥ २७॥

(२) इस प्रकार सभी भाँति आत्माकी अशोच्यता सिद्ध कर दी। अब 'आत्मा अशोच्य होनेपर भी मैं तो भूतोंके संघातरूप शरीरके लिये ही शोक करता हूँ' ऐसी अर्जुनकी आशंका का भगवान् निराकरण करते हैं—

[श्लोकार्थः—हे भारत! ये पञ्चभूतमय शरीर उत्पत्तिसे पूर्व देखनेमें नहीं आते, मध्यमें ही दिखायी देते हैं, अन्तमें फिर देखनेमें नहीं आते। तो फिर इनके लिये क्या शोक किया जाय?॥ २८॥

(३) ये पृथ्वी आदि भूतोंके बने हुए शरीर आदिमें—जन्मसे पहले अव्यक्त—दिखायी न देनेवाले हैं, मध्यमें=जन्मके पश्चात् और मृत्युके पहले व्यक्त=उपलब्ध होते हैं तथा मरनेपर फिर अव्यक्त ही हो जाते हैं। अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न और इन्द्रजालादि में देखे जाते हैं, वैसे ही सीपीके स्थानमें प्रतीत होनेवाली चाँदी के समान केवल प्रातिभासिक सत्तावाले हैं—अपने ज्ञानसे पहले और पीछे स्थित नहीं रहते, क्योंकि

स्वप्नेन्द्रजालादौ प्रतिभासमात्रजीवनानि शुक्तिरूप्यादिवन्न तु ज्ञानात्प्रागूर्ध्वं वा स्थितानि दृष्टिसृष्ट्यभ्युपगमात्। तथा च 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' (मां० का० २।६) इति न्यायेन मध्येऽपि न सन्त्येवैतानि। 'नासतो विद्यते भावः' (गी० २।१६) इति प्रागुक्तेश्च।

(१) एवं सति तत्र तेषु मिथ्याभूतेष्वत्यन्ततुच्छेषु भूतेषु का परिदेवना को वा दुःखप्रलापो न कोऽप्युचित इत्यर्थः। न हि स्वप्ने विविधान्बन्धूनुपलभ्य प्रतिबुद्धस्तद्विच्छेदेन शोचति पृथग्जनोऽपि। एतदेवोक्तं पुराणे—'अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः।' भूतसंघ इति शेषः। तथा च शरीराण्यप्युद्दिश्य शोको नोचित इति भावः।

(२) आकाशादिमहाभूताभिप्रायेण वा श्लोको योज्यः। अव्यक्तमव्याकृतमविद्योपहितचैतन्यमादिः प्रागवस्था येषां तानि तथा व्यक्तं नामरूपाभ्यामेवाऽऽविद्यकाभ्यां प्रकटीभूतं न तु स्वेन परमार्थसदात्मना मध्यं स्थित्यवस्था येषां तादृशानि भूतानि आकाशादीनि अव्यक्तनिधानान्येवाव्यक्ते स्वकारणे मृदिव घटादीनां निधनं प्रलयो येषां तेषु भूतेषु का परिदेवनेति पूर्ववत्। तथा च श्रुतिः 'तद्वेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' (बृह० १।४।७) इत्यादिरव्यक्तोपादानतां सर्वस्य प्रपञ्चस्य दर्शयति। लयस्थानत्वं तु तस्यार्थसिद्धं कारण एव कार्यलयस्य दर्शनात्। ग्रन्थान्तरे तु विस्तरः। तथाचाज्ञानकल्पितत्वेन तुच्छान्याकाशादिभूतान्यप्युद्दिश्य शोको नोचितश्चेत्तत्कार्याण्युद्दिश्य नोचित इति किमु वक्तव्यमिति भावः।

दृष्टिसृष्टिवाद स्वीकार किया गया है। इस प्रकार जो आदि और अन्त में नहीं है, वह वर्तमानमें भी वैसा ही है' इस न्यायसे तथा 'मिथ्यावस्तुकी सत्ता नहीं होती' इस पूर्व कथनसे मध्यमें भी ये नहीं ही हैं।

(१) ऐसी बात है तो इन मिथ्याभूत अत्यन्त तुच्छ शरीरोंके लिये क्या परिदेवना (शोक) अथवा दुःखजनित प्रलाप किया जाय। अर्थात् किसी प्रकारका शोक करना उचित नहीं है। पामर पुरुष भी स्वप्न में अनेकों बन्धुओंको देखकर जाग जानेपर उनके वियोगसे शोक नहीं करते। यही बात पुराणोंमें भी कही है—'(यह भूतसमुदाय) अदर्शनसे आया है और अदर्शनको ही फिर प्राप्त हो जाता है।' यहाँ 'भूतसमुदाय' पदका अध्याहार कर लेना चाहिये। इस प्रकार तात्पर्य यह है कि शरीरोंके लिये शोक करना उचित नहीं है।

(२) इस श्लोकको आकाशादि महाभूतोंके अभिप्रायसे लगाना चाहिये। अव्यक्त—अव्याकृत अर्थात् अविद्योपहित चैतन्य है आदि = आरम्भ की अवस्था जिनकी वे, तथा व्यक्त यानी परमार्थसद्रूपसे नहीं, अपितु आविद्यक नाम-रूपोंके कारण ही प्रकट है मध्य = स्थितिकी अवस्था जिनकी ऐसे वे आकाशादिभूत अव्यक्तनिधन हैं। जिस प्रकार घटादि अपने कारण मृत्तिकामें लीन हो जाते हैं, वैसे ही जिनका प्रलय अपने कारण अव्यक्तमें होता है, ऐसे इन भूतोंके लिये क्या शोक किया जाय ?—इस प्रकार पूर्ववत् लगा लेना चाहिये। इसी प्रकार 'सृष्टिके आरम्भमें यह सत् अव्याकृत ही था, यह नाम रूपके द्वारा ही व्यक्त होता है' इत्यादि श्रुति भी सम्पूर्ण प्रपञ्चको अव्यक्तरूप उपादान कारणवाला दिखाती है। इससे अव्यक्तको लयस्थानता तो अर्थात् सिद्ध हो जाती है, क्योंकि कारणमें ही कार्यका लय होता देखा गया है। अन्य ग्रन्थोंमें इस विषयका विस्तार किया गया है। इस प्रकार अज्ञानकल्पित होनेके कारण यदि तुच्छ आकाशादि भूतोंके लिये शोक करना उचित नहीं है तो इस विषयमें तो कहना ही क्या है कि उनके कार्योंके लिये भी शोक नहीं करना चाहिये—ऐसा इसका भाव है।

(१) अथवा सर्वदा तेषामव्यक्तरूपेण विद्यमानत्वाद्विच्छेदाभावेन तन्निमित्तः प्रलापो नोचित इत्यर्थः। भारतेत्यनेन सम्बोधयञ्शुद्ध वंशोद्भवत्वेन शास्त्रीयमर्थं प्रतिपत्तुमर्होऽसि किमिति न प्रतिपद्यस इति सूचयति ॥ २८ ॥

(२) ननु विद्वांसोऽपि बहवः शोचन्ति तत्किं मामेव पुनः पुनरेवमुपालभसे। अन्यच्च 'वक्तुरेव हि तज्जाड्यं श्रोता यत्र न बुध्यते' इति न्यायात्त्वद्वचनार्थाप्रतिपत्तिरपि मम न दोषः, तत्राऽन्येषामपि तवेवाऽऽत्मापरिज्ञानादेव शोक आत्मप्रतिपादकशास्त्रार्थाप्रतिपत्तिश्च तवाप्यन्येषामिव स्वाशयदोषादिति नोक्तदोषद्वयमित्यभिप्रेत्याऽऽत्मनो दुर्विज्ञेयतामाह—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ॥
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥

(३) एनं प्रकृतं देहिनमाश्चर्येणाद्भुतेन तुल्यतया वर्तमानमाविद्यकनानाविधविरुद्धधर्मवत्तया सन्तमप्यसन्तमिव स्वप्रकाशचैतन्यरूपमपि जडमिवाऽऽनन्दघनमपि दुःखितमिव निर्विकारमपि सवि-

(१) अथवा इसका ऐसा अभिप्राय हो सकता है कि ये भूत सर्वदा अव्यक्तरूपसे विद्यमान रहते हैं, इसलिये इनका विच्छेद न हो सकनेके कारण इनके लिये दुःखसे प्रलाप भी करना उचित नहीं है। 'भारत' इस शब्दसे सम्बोधन करके भगवान् यह सूचित करते हैं कि शुद्ध वंशमें जन्म लेनेके कारण तुम शास्त्रीय अर्थको ग्रहण करनेमें समर्थ हो, फिर भी क्यों नहीं समझते ? ॥ २८ ॥

(२) 'शोक तो बहुतसे विद्वान् भी किया करते हैं, फिर आप इस प्रकार बार-बार मुझे ही उलाहना क्यों देते हैं ? दूसरी बात यह भी है कि 'जहाँ श्रोताकी समझमें न आवे वहाँ वक्ताकी ही जडता समझनी चाहिये' इस न्यायसे आपके वचनोंके तात्पर्यको न समझ सकना भी मेरा दोष नहीं है—ऐसी अर्जुनकी ओरसे आशंका करके भगवान् इस आशयसे कि दूसरे लोगोंको भी तुम्हारे समान आत्माका अज्ञान होनेसे ही शोक और आत्माका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रके तात्पर्यका अग्रहण होता है तथा दूसरोंकी तरह तुम्हें भी अपने चित्तके दोषसे ही यह सब हो रहा है, इसलिये ऊपर कहे हुए दोनों ही दोष नहीं हैं—आत्माकी दुर्विज्ञेयता बतलाते हैं—

[श्लोकार्थः—कोई पुरुष आश्चर्य—जैसे इस आत्माको देखता है, कोई पुरुष इसे देखता है—यह आश्चर्य सा है तथा कोई आश्चर्य—जैसा पुरुष ही इसे देखता है। कोई दूसरा पुरुष आश्चर्य—जैसे इस आत्माका वर्णन करता है, कोई दूसरा इसका वर्णन करता है—यह आश्चर्य-सा है तथा कोई दूसरा आश्चर्य-जैसा पुरुष इसका वर्णन करता है। इसी प्रकार कोई अन्य पुरुष आश्चर्य—जैसे इस आत्माका श्रवण करता है, कोई अन्य पुरुष इसका श्रवण करता है—यह आश्चर्य-सा है तथा कोई अन्य आश्चर्य-जैसा पुरुष इसका श्रवण करता है। वह पुरुष सुनकर इसे आश्चर्य-जैसा जानता है, वह सुनकर इसे जान लेता है—यह आश्चर्य-सा है तथा कोई आश्चर्य-जैसा पुरुष ही इसे सुनकर जानता है। किन्तु कोई तो श्रवणादि करनेपर भी [प्रतिबन्धकत्व न होनेके कारण] इसे नहीं जानता ॥

(३) आश्चर्य अर्थात् अद्भुत की तरह विद्यमान इस प्रकृत देहीको जो अविद्या-जनित अनेक प्रकारके विरुद्ध धर्मोंसे युक्त होनेके कारण होते हुए भी न होते हुए के समान है, स्वप्रकाश चैतन्यस्वरूप होने पर भी जडवत् है, आनन्दघन होनेपर भी दुःखित-सा है, निर्विकार होनेपर भी सविकार-सा है, नित्य होनेपर भी

कारमिव नित्यमप्यनित्यमिव प्रकाशमानमप्यप्रकाशमानमिव ब्रह्माभिन्नमपि तद्भिन्नमिव मुक्तमपि बद्धमिवाद्वितीयमपि सद्वितीयमिव सम्भावितविचित्रानेकाकारप्रतीतिविषयं पश्यति शास्त्राचार्योपदेशाभ्यामविद्याकसर्वद्वैतनिषेधेन परमात्मस्वरूपमात्राकारायां वेदान्तमहावाक्यजन्यायां सर्वसुकृतफलभूतायामन्तःकरणवृत्तौ प्रतिफलितं समाधिपरिपाकेन साक्षात्करोति कश्चिच्छमदमादिसाधनसम्पन्नचरमशरीरः कश्चिदेव न तु सर्वः । तथा कश्चिदेनं यत्पश्यति तदाश्चर्यवदिति क्रियाविशेषणम् । आत्मदर्शनमप्याश्चर्यवदेव यत्स्वरूपतो मिथ्याभूतमपि सत्यस्य व्यञ्जकमाविद्यकमप्यविद्याया विघातकमविद्यामुपघ्नत्तत्कार्यतया स्वात्मानमप्युपहन्तीति । तथा यः कश्चिदेनं पश्यति स आश्चर्यवदिति कर्तृविशेषणम् । यतोऽसौ निवृत्ताविद्यातत्कार्योऽपि प्रारब्धकर्मप्रावल्यात्तद्वानिव व्यहरति सर्वदा समाधिनिष्ठोऽपि व्युत्तिष्ठति व्युत्थितोऽपि पुनः समाधिमनुभवतीति प्रारब्धकर्मवैचित्र्याद्विचित्रचरित्रः प्राप्तदुष्प्रापज्ञानत्वात्सकललोकस्पृहणीयोऽत आश्चर्यवदेव भवति । तदेतत्त्रयमप्याश्चर्यमात्मा तज्ज्ञानं तज्ज्ञाता चेति परमदुर्विज्ञेयमात्मानं त्वं कथमनायासेन जानीया इत्यभिप्रायः ।

(१) एवमुपदेष्टुरभावादप्यात्मा दुर्विज्ञेयः, यो ह्यात्मानं जानाति स एव तमन्यस्मै ध्रुवं ब्रूयात्, अज्ञस्योपदेष्टृत्वासम्भवात्, जानंस्तु समाहितचित्तः प्रायेण कथं ब्रवीतु । व्युत्थितचित्तोऽपि परेण

अनित्यवत् है, प्रकाशमान होनेपर भी अप्रकाशमानके समान है, ब्रह्मसे अभिन्न होनेपर भी उससे भिन्न-सा है, मुक्त होनेपर भी बद्धवत् है तथा अद्वितीय होनेपर सद्वितीय-सा है—मनसे कल्पना की हुई तरह-तरहकी अनेकों आकारवाली प्रतीतियोंका विषय देखता है। सो भी सब नहीं, कोई शम-दमादिसाधनसम्पन्न चरम देहधारी ही शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे अविद्याजनित सम्पूर्ण द्वैतके निषेधद्वारा वेदान्तके महावाक्योंसे उत्पन्न तथा सम्पूर्ण सुकृतोंकी फलभूता परमात्मस्वरूपका आकार धारण करनेवाली अन्तःकरणकी वृत्तिमें प्रतिबिम्बित होनेपर समाधिके परिपाक द्वारा इसका साक्षात्कार करता है। इसी प्रकार, इसे कोई जो देखता है—यह आश्चर्य-सा ही है—इस तरह 'आश्चर्यवत्' क्रिया विशेषण भी है। आत्मदर्शन भी आश्चर्यवत् ही है, क्योंकि स्वरूपसे मिथ्या होनेपर यह सत्यको व्यक्त करनेवाला है तथा अविद्याका कार्य होनेपर भी अविद्याका घातक है और अविद्याका नाश करते हुए उसका कार्य होनेसे अपना भी नाश कर देता है। तथा जो कोई इसे देख पाता है, वह भी आश्चर्य जैसा ही है—इस प्रकार यह कर्ताका भी विशेषण है। क्योंकि यह (आत्माको देखनेवाला) अविद्या और उसके कार्यसे रहित होनेपर भी प्रारब्ध कर्मकी प्रबलतासे अविद्यावान्‌की तरह व्यवहार करता है, सर्वथा समाधिनिष्ठ होनेपर भी व्युत्थित होता है और व्युत्थित होकर भी पुनः समाधिका अनुभव करता है—इस प्रकार प्रारब्ध कर्मकी विचित्रता के कारण इसके विचित्र चरित्र होते हैं तथा जिसका पाना बहुत कठिन है, उस ज्ञानको प्राप्तकर लेनेके कारण सभी लोगोंके लिये स्पृहणीय (इष्ट) होता है, इसलिये यह आश्चर्य-जैसा ही है। इस प्रकार आत्मा, आत्माका ज्ञान और उसे जाननेवाला—ये तीनों ही आश्चर्यरूप हैं; अतः तात्पर्य यह है कि उस परम दुर्विज्ञेय आत्माको तुम सुगमतासे कैसे जान सकते हो ?

(१) इसी प्रकार उपदेश करनेवालेका अभाव होनेसे भी आत्मा दुर्विज्ञेय है। जो आत्माको जानता है वही तो निश्चयपूर्वक दूसरेको उसका उपदेश कर सकता है, क्योंकि अज्ञानी तो उसका उपदेष्टा हो नहीं सकता। जाननेपर भी जिसका चित्त समाधिमें स्थित है, वह तो प्रायः उपदेश कर ही कैसे सकता है और जो व्युत्थित चित्त है उसे

ज्ञातुमशक्यः । यथा कथंचिज्ज्ञातोऽपि लाभपूजाख्यात्यादिप्रयोजनानपेक्षत्वान्न ब्रवीत्येव । कथंचित्कारुण्यमात्रेण ब्रुवंस्तु परमेश्वरवदत्यन्तदुर्लभ एवेत्याह—आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्य इति । यथा जानाति तथैव वदति । एनमित्यनुकर्षणार्थश्चकारः । स चान्यः सर्वाज्ञजनविलक्षणः । न तु यः पश्यति ततोऽन्य इति व्याघातात् । अत्रापि कर्मणि क्रियायां कर्तरि चाऽऽश्चर्यवदिति योज्यम् । तत्र कर्मणः कर्तुश्च प्रागाश्चर्यवत्त्वं व्याख्यातं क्रियायास्तु व्याख्यायते । सर्वशब्दावाच्यस्य शुद्धस्याऽऽत्मनो यद्वचनं तदाश्चर्यवत् । तथा च श्रुतिः—'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह' इति। केनापि-शब्देनावाच्यस्य शुद्धस्याऽऽत्मनो विशिष्टशक्तेन पदेन जहदजहत्स्वार्थलक्षणाया कल्पितसम्बन्धेन लक्ष्यतावच्छेदकमन्तरेणैव प्रतिपादनं तदपि निर्विकल्पसाक्षात्काररूपमत्याश्चर्यमित्यर्थः ।

(१) अथवा विना शक्तिं विना लक्षणां विना सम्बन्धान्तरं सुषुप्तोत्थापकवाक्यवत्तत्त्वमस्यादिवाक्येन यदात्मतत्त्वप्रतिपादनं तदाश्चर्यवत्, शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात् । न च विना सम्बन्धं बोधनेऽतिप्रसङ्गः, लक्षणापक्षेऽपि तुल्यत्वात्, शक्यसम्बन्धस्यानेकसाधारणत्वात् । तात्पर्यविशेषान्नियम

दूसरा पहचान नहीं सकता। किसी प्रकार पहचान लिया जाय तो लाभ, पूजा, प्रसिद्धि आदि प्रयोजनोंकी परवाह न होनेके कारण वह प्रायः बोलता ही नहीं है। किसी प्रकार केवल करुणावश बोलता भी है तो ऐसा पुरुष परमेश्वरके समान अत्यन्त दुर्लभ ही होता है। इसीसे भगवान् कहते हैं कि 'कोई दूसरा पुरुष आश्चर्य-जैसे इसका वर्णन करता है' जिस प्रकार (आश्चर्य जैसा) वह जानता है उसी प्रकार उसका वर्णन भी करता है। 'एवम्' इस पदको प्रथम चरणसे खींचनेके लिये दूसरे चरणमें चकार दिया है। वह अन्य समस्त अज्ञानी पुरुषोंसे भिन्न होता है, जो उसे देखता है उससे भिन्न नहीं होता, क्योंकि ऐसा माननेसे व्याघातदोष[1] होगा। यहाँ भी 'आश्चर्यवत्' इस विशेषण को कर्म, क्रिया और कर्ताके साथ लगा लेना चाहिये। कर्म और कर्ताकी आश्चर्यवत्ताकी व्याख्या तो पहले कर ही दी है, अब क्रियाकी आश्चर्यवत्ताकी व्याख्याकी जाती है। सम्पूर्ण शब्दोंके अवाच्य शुद्ध आत्माका जो निरूपण करता है वह आश्चर्य-जैसा ही है। ऐसा ही 'जहाँसे मनके सहित वाणी उसे न पाकर लौट आती है' यह श्रुति भी कहती है। जो किसी शब्दसे नहीं कहा जा सकता उस शुद्ध आत्माका मायाविशिष्ट ब्रह्मके निरूपणकी शक्तिवाले पदसे जहदजहत्स्वार्थ संज्ञक लक्षणाके द्वारा कल्पितसम्बन्धसे, लक्ष्यताका अवच्छेदक न होनेपर भी, जो निर्विकल्पक साक्षात्काररूप प्रतिपादन करता है, वह भी अत्यन्त आश्चर्य है—ऐसा इसका तात्पर्य है।

(१) अथवा शब्दकी शक्ति, लक्षणा या किसी दूसरे सम्बन्धके विना ही जो सोये पुरुषको उठानेवाले वाक्यके समान 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे आत्मतत्त्वका प्रतिपादन होता है, वह आश्चर्य-जैसा ही है, क्योंकि शब्दकी शक्ति तो अचिन्त्य है। विना सम्बन्धज्ञानके उसका बोध होनेमें भी अतिव्याप्ति दोष नहीं है, क्योंकि लक्षणाके पक्षमें भी यह समान ही रहेगा।[2] वहाँ भी शक्यसम्बन्धरूप हेतु समानरूपसे अनेकमें रहता है। यदि

---

१. जिसने आत्माको देखा नहीं है वह उसका वर्णन कैसे कर सकता है ? इसलिये 'अन्य' शब्दसे यदि देखनेवालेसे भिन्न पुरुष ग्रहण किया जायगा तो अपने कथनसे ही विरोधरूप 'व्याघात दोष' आवेगा।

२. क्योंकि 'गंगायां घोषः' इस वाक्यसे लक्षणा द्वारा गंगातटवर्ती घोषका ज्ञान होता है, गंगामें रहनेवाले जलचरोंसे सम्बद्ध घोषका नहीं। किन्तु गंगा शब्दके वाच्य गंगाप्रवाहसे तो तट और जलचर दोनों ही का समानरूपसे संयोग सम्बन्ध है। अतः सम्बन्धज्ञान लक्षणाका हेतु नहीं कहा जा सकता।

कारमिव नित्यमप्यनित्यमिव प्रकाशमानमप्यप्रकाशमानमिव ब्रह्माभिन्नमपि तद्भिन्नमिव मुक्तमपि बद्धमिवाद्वितीयमपि सद्वितीयमिव सम्भावितविचित्रानेकाकारप्रतीतिविषयं पश्यति शास्त्राचार्योपदेशाभ्यामाविद्यकसर्वद्वैतनिषेधेन परमात्मस्वरूपमात्राकारायां वेदान्तमहावाक्यजन्यायां सर्वसुकृतफलभूतायामन्तःकरणवृत्तौ प्रतिफलितं समाधिपरिपाकेन साक्षात्करोति कश्चिच्छमदमादिसाधनसम्पन्नश्चरमशरीरः कश्चिदेव न तु सर्वः । तथा कश्चिदेनं यत्पश्यति तदाश्चर्यवदिति क्रियाविशेषणम् । आत्मदर्शनमप्याश्चर्यवदेव यत्स्वरूपतो मिथ्याभूतमपि सत्यस्य व्यञ्जकमाविद्यकमप्यविद्याया विघातकमविद्यामुपपन्नतत्कार्यतया स्यात्मानमप्युपहन्तीति । तथा यः कश्चिदेनं पश्यति स आश्चर्यवदिति कर्तृविशेषणम् । यतोऽसौ निवृत्ताविद्यातत्कार्योऽपि प्रारब्धकर्मप्रावल्यात्तद्वानिव व्यहरति सर्वदा समाधिनिष्ठोऽपि व्युत्तिष्ठति व्युत्थितोऽपि पुनः समाधिमनुभवतीति प्रारब्धकर्मवैचित्र्याद्विचित्रचरित्रः प्राप्तदुष्प्रापज्ञानत्वात्सकललोकस्पृहणीयोऽत आश्चर्यवदेव भवति । तदेतत्त्रयमप्याश्चर्यमात्मा तज्ज्ञानं तज्ज्ञाता चेति परमदुर्विज्ञेयमात्मानं त्वं कथमनायासेन जानीया इत्यभिप्रायः ।

(१) एवमुपदेष्टुरभावादप्यात्मा दुर्विज्ञेयः, यो ह्यात्मानं जानाति स एव तमन्यस्मै ध्रुवं ब्रूयात्, अज्ञस्योपदेष्टृत्वासम्भवात्, जानन्तु समाहितचित्तः प्रायेण कथं ब्रवीतु । व्युत्थितचित्तोऽपि परेण

अनित्यवत् है, प्रकाशमान होनेपर भी अप्रकाशमानके समान है, ब्रह्मसे अभिन्न होनेपर भी उससे भिन्न-सा है, मुक्त होनेपर भी बद्धवत् है तथा अद्वितीय होनेपर सद्वितीय-सा है—मनसे कल्पना की हुई तरह-तरहकी अनेकों आकारवाली प्रतीतियोंका विषय देखता है। सो भी सब नहीं, कोई शम-दमादिसाधनसम्पन्न चरम देहधारी ही शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे अविद्याजनित सम्पूर्ण द्वैतके निषेधद्वारा वेदान्तके महावाक्योंसे उत्पन्न तथा सम्पूर्ण सुकृतोंकी फलभूता परमात्मस्वरूपका आकार धारण करनेवाली अन्तःकरणकी वृत्तिमें प्रतिबिम्बित होनेपर समाधिके परिपाक द्वारा इसका साक्षात्कार करता है। इसी प्रकार, इसे कोई जो देखता है—यह आश्चर्य-सा ही है—इस तरह 'आश्चर्यवत्' क्रिया विशेषण भी है। आत्मदर्शन भी आश्चर्यवत् ही है, क्योंकि स्वरूपसे मिथ्या होनेपर यह सत्यको व्यक्त करनेवाला है तथा अविद्याका कार्य होनेपर भी अविद्याका घातक है और अविद्याका नाश करते हुए उसका कार्य होनेसे अपना भी नाश कर देता है। तथा जो कोई इसे देख पाता है, वह भी आश्चर्य जैसा ही है—इस प्रकार यह कर्ताका भी विशेषण है। क्योंकि यह (आत्माको देखनेवाला) अविद्या और उसके कार्यसे रहित होनेपर भी प्रारब्ध कर्मकी प्रबलतासे अविद्यावान्‌की तरह व्यवहार करता है, सर्वथा समाधिनिष्ठ होनेपर भी व्युत्थित होता है और व्युत्थित होकर भी पुनः समाधिका अनुभव करता है—इस प्रकार प्रारब्ध कर्मकी विचित्रता के कारण इसके विचित्र चरित्र होते हैं तथा जिसका पाना बहुत कठिन है, उस ज्ञानको प्राप्तकर लेनेके कारण सभी लोगोंके लिये स्पृहणीय (इष्ट) होता है, इसलिये यह आश्चर्य-जैसा ही है। इस प्रकार आत्मा, आत्माका ज्ञान और उसे जाननेवाला—ये तीनों ही आश्चर्यरूप हैं; अतः तात्पर्य यह है कि उस परम दुर्विज्ञेय आत्माको तुम सुगमतासे कैसे जान सकते हो ?

(१) इसी प्रकार उपदेश करनेवालेका अभाव होनेसे भी आत्मा दुर्विज्ञेय है। जो आत्माको जानता है वही तो निश्चयपूर्वक दूसरेको उसका उपदेश कर सकता है, क्योंकि अज्ञानी तो उसका उपदेष्टा हो नहीं सकता। जाननेपर भी जिसका चित्त समाधिमें स्थित है, वह तो प्रायः उपदेश कर ही कैसे सकता है और जो व्युत्थित चित्त है उसे

ज्ञातुमशक्यः । यथा कथंचिज्ज्ञातोऽपि लाभपूजाख्यात्यादिप्रयोजनानपेक्षत्वान्न ब्रवीत्येव । कथंचित्कारुण्यमात्रेण ब्रुवंस्तु परमेश्वरवदत्यन्तदुर्लभ एवेत्याह—आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्य इति । यथा जानाति तथैव वदति । एनमित्यनुकर्षणार्थश्चकारः । स चान्यः सर्वाज्ञजनविलक्षणः । न तु यः पश्यति ततोऽन्य इति व्याघातात् । अत्रापि कर्मणि क्रियायां कर्तरि चाऽऽश्चर्यवदिति योज्यम् । तत्र कर्मणः कर्तुश्च प्रागाश्चर्यवत्त्वं व्याख्यातं क्रियायास्तु व्याख्यायते । सर्वशब्दावाच्यस्य शुद्धस्याऽऽत्मनो यद्वचनं तदाश्चर्यवत् । तथा च श्रुतिः—'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह' इति। केनापि शब्देनावाच्यस्य शुद्धस्याऽऽत्मनो विशिष्टशक्तेन पदेन जहदजहत्स्वार्थलक्षणया कल्पितसम्बन्धेन लक्ष्यतावच्छेदकमन्तरेणैव प्रतिपादनं तदपि निर्विकल्पसाक्षात्काररूपमत्याश्चर्यमित्यर्थः ।

(१) अथवा विना शक्तिं विना लक्षणां विना सम्बन्धान्तरं सुषुप्तोत्थापकवाक्यवत्तत्त्वमस्यादिवाक्येन यदात्मतत्त्वप्रतिपादनं तदाश्चर्यवत्, शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात् । न च विना सम्बन्धं बोधनेऽतिप्रसङ्गः, लक्षणापक्षेऽपि तुल्यत्वात्, शक्यसम्बन्धस्यानेकसाधारणत्वात् । तात्पर्यविशेषान्नियम

दूसरा पहचान नहीं सकता। किसी प्रकार पहचान लिया जाय तो लाभ, पूजा, प्रसिद्धि आदि प्रयोजनोंकी परवाह न होनेके कारण वह प्रायः बोलता ही नहीं है। किसी प्रकार केवल करुणावश बोलता भी है तो ऐसा पुरुष परमेश्वरके समान अत्यन्त दुर्लभ ही होता है। इसीसे भगवान् कहते हैं कि 'कोई दूसरा पुरुष आश्चर्य-जैसे इसका वर्णन करता है' जिस प्रकार (आश्चर्य जैसा) वह जानता है उसी प्रकार उसका वर्णन भी करता है। 'एवम्' इस पदको प्रथम चरणसे खींचनेके लिये दूसरे चरणमें चकार दिया है। वह अन्य समस्त अज्ञानी पुरुषोंसे भिन्न होता है, जो उसे देखता है उससे भिन्न नहीं होता, क्योंकि ऐसा माननेसे व्याघातदोष होगा। यहाँ भी 'आश्चर्यवत्' इस विशेषण को कर्म, क्रिया और कर्ताके साथ लगा लेना चाहिये। कर्म और कर्ताकी आश्चर्यवत्ताकी व्याख्या तो पहले कर ही दी है, अब क्रियाकी आश्चर्यवत्ताकी व्याख्याकी जाती है। सम्पूर्ण शब्दोंके अवाच्य शुद्ध आत्माका जो निरूपण करता है वह आश्चर्य-जैसा ही है। ऐसा ही 'जहाँसे मनके सहित वाणी उसे न पाकर लौट आती है' यह श्रुति भी कहती है। जो किसी शब्दसे नहीं कहा जा सकता उस शुद्ध आत्माका मायाविशिष्ट ब्रह्मके निरूपणकी शक्तिवाले पदसे जहदजहत्स्वार्थ संज्ञक लक्षणाके द्वारा कल्पितसम्बन्धसे, लक्ष्यताका अवच्छेदक न होनेपर भी, जो निर्विकल्पक साक्षात्काररूप प्रतिपादन करता है, वह भी अत्यन्त आश्चर्य है—ऐसा इसका तात्पर्य है।

(१) अथवा शब्दकी शक्ति, लक्षणा या किसी दूसरे सम्बन्धके विना ही जो सोये पुरुषको उठानेवाले वाक्यके समान 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे आत्मतत्त्वका प्रतिपादन होता है, वह आश्चर्य-जैसा ही है, क्योंकि शब्दकी शक्ति तो अचिन्त्य है। विना सम्बन्धज्ञानके उसका बोध होनेमें भी अतिव्याप्ति दोष नहीं है, क्योंकि लक्षणाके पक्षमें भी यह समान ही रहेगा।[२] वहाँ भी शक्यसम्बन्धरूप हेतु समानरूपसे अनेकमें रहता है। यदि

---

१. जिसने आत्माको देखा नहीं है वह उसका वर्णन कैसे कर सकता है ? इसलिये 'अन्य' शब्दसे यदि देखनेवालेसे भिन्न पुरुष ग्रहण किया जायगा तो अपने कथनसे ही विरोधरूप 'व्याघात दोष' आवेगा।

२. क्योंकि 'गंगायां घोषः' इस वाक्यसे लक्षणा द्वारा गंगातटवर्ती घोषका ज्ञान होता है, गंगामें रहनेवाले जलचरोंसे सम्बद्ध घोषका नहीं। किन्तु गंगा शब्दके वाच्य गंगाप्रवाहसे तो तट और जलचर दोनों ही का समानरूपसे संयोग सम्बन्ध है। अतः सम्बन्धज्ञान लक्षणाका हेतु नहीं कहा जा सकता।

इति चेत्, न, तस्यापि सर्वान्यप्रत्यविशेषात्। कश्चिदेव तात्पर्यविशेषमवधारयति न सर्व इति चेत्, हन्त तर्हि पुरुषगत एव कश्चिद्विशेषो निर्दोषत्वरूपो नियामकः। स चास्मिन्पक्षेऽपि न दण्डवारितः। तथा च यादृशस्य शुद्धान्तःकरणस्य तात्पर्यानुसन्धानपुरःसरं लक्षणया वाक्यार्थबोधो भवद्भिरङ्गी क्रियते तादृशस्यैव केवलः शब्दविशेषोऽखण्डसाक्षात्कारं विनाऽपि सम्बन्धेन जनयतीति किमनुपपन्नम्। एतस्मिन्पक्षे शब्दवृत्त्यविषयत्वाद्यतो वाचो निवर्तन्त इति सुतरामुपपन्नम्। अयं च भगवदभिप्रायो वार्तिककारैः प्रपञ्चितः—

'दुर्बलत्वादविद्याया आत्मत्वाद्बोधरूपिणः। शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाद्विभ्रस्तं मोहहानतः॥
अगृहीत्वैव सम्बन्धमभिधानाभिधेययोः। हित्वा निद्रां प्रबुध्यन्ते सुषुप्तेबोंधिताः परैः॥
जाग्रद्वन्न यतः शब्दं सुषुप्ते वेत्ति कश्चन। ध्वस्तेऽतो ज्ञानतोऽज्ञाने ब्रह्मास्मीति भवेत्फलम्॥
अविद्याघातिनः शब्दाद्याऽहं ब्रह्मेति धीर्भवेत्।
नश्यत्यविद्यया सार्धं हत्वा रोगमिवौषधम्'॥ (बृह० वा० १।४।८६०–६३) इत्यादिना ग्रन्थेन।

(१) तदेवं वचनविषयस्य वक्तुर्वचनक्रियायाश्चात्याश्चर्यरूपत्वादात्मनो दुर्विज्ञानत्वमुक्त्वा श्रोतुर्दुर्मिलत्वादपि तदाह—आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेदेति। अन्यो द्रष्टुर्विलक्षणो मुमुक्षुर्वक्तारं ब्रह्मविदं विधिवदुपसृत्यैनं शृणोति श्रवणाख्यविचारविषयी करोति वेदान्तवाक्यतात्पर्यनिश्चयेनावधारयतीति यावत्। श्रुत्वा चैनं मननिदिध्यासनपरिपाकाद्वेदापि

कहो कि वक्ताके तात्पर्य विशेषसे वह नियमतः ही आत्माका ही बोध कराती है तो वह भी सभी श्रोताओंके लिये समान रहता है। अब यदि ऐसा कहो कि उस तात्पर्यविशेषको कोई विरला श्रोता ही समझ सकता है, सब नहीं—तब तो पुरुषमें रहनेवाली निर्दोषता रूप कोई एक विशेषता ही नियामक ठहरती है, सो उसे तो इस पक्षमें भी कोई डण्डेके जोरसे नहीं हटा सकता। इस प्रकार जिस तरहके शुद्धचित्त पुरुषोंको आप तात्पर्यके अनुसन्धानपूर्वक लक्षणासे वाक्यार्थका बोध स्वीकार करते हैं, उसी तरहके व्यक्तिको केवल शब्दविशेष ही बिना सम्बन्धज्ञानके अखण्ड साक्षात्कार उत्पन्न कर देता है—ऐसा माननेमें क्या अनुपपत्ति है? इस पक्षमें शब्दकी वृत्तिका विषय न होनेके कारण 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि श्रुति भी सर्वथा उपपन्न ठहरती है। भगवान्‌के इस अभिप्रायका वार्तिककारने इन शब्दोंसे निरूपण किया है—'अविद्या दुर्बल है, आत्मा बोधस्वरूप है और शब्दकी शक्ति ध्यानमें आने योग्य नहीं है, इसलिये मोहकी निवृत्ति होनेपर हम उसे जान लेते हैं। सुषुप्तिके समय दूसरोंके जागनेपर वाच्य और वाचकका सम्बन्ध ग्रहण किये बिना ही नींदसे जाग पड़ते हैं, क्योंकि जाग्रतकालके समान सुषुप्तिमें कोई भी पुरुष शब्दको समझ नहीं सकता। अतः ज्ञानसे अज्ञानका नाश हो जानेपर 'मैं ब्रह्म हूँ' यह फल होता है। फिर अविद्याको नष्ट करनेवाले शब्दसे जो 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी बुद्धि होती है वह भी अविद्याके साथ उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे रोगका नाश करके औषधि।'

(१) इस प्रकार वाणीके विषय, वक्ता और वचनक्रिया—इन तीनों की अत्यन्त आश्चर्यरूपतासे आत्माकी दुर्विज्ञेयता बताकर श्रोताकी दुर्लभतासे भी उसका प्रतिपादन करते हैं—'आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद' इत्यादि। अन्य अर्थात् मुक्तस्वरूप द्रष्टा और वक्तासे विलक्षण कोई मुमुक्षु विधिपूर्वक ब्रह्मवेत्ता वक्ताके पास जाकर इसका श्रवण—श्रवणसंज्ञक विचारका विषय करता है, अर्थात् वेदान्तवाक्योंके तात्पर्यका निश्चय करके इसका निर्णय करता है। फिर श्रवण करके मनन और निदिध्यासनकी पुष्टि द्वारा

साक्षात्करोत्यपि आश्चर्यवत्। तथा चाऽऽश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमिति व्याख्यातम्। अत्रापि कर्तुराश्चर्यरूपत्वमनेकजन्मानुष्ठितसुकृतक्षालितमनोमलतयाऽतिदुर्लभत्वात्। तथा च वक्ष्यति—

'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' (गी० ७।३) इति।

'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः'॥ (कठ० २।७)
इति श्रुतेश्च। एवं श्रवणश्रोतव्ययोराश्चर्यत्वं प्राग्वद्व्याख्येयम्।

(१) ननु यः श्रवणमननादिकं करोति स आत्मानं वेदेति किमाश्चर्यमत आह—**न चैव कश्चिदिति**। चकारः क्रियाकर्मपदयोरनुषङ्गार्थः। कश्चिदेनं नैव वेद श्रवणादिकं कुर्वन्नपि। तदकुर्वंस्तु न वेदेति किमु वक्तव्यम्। 'ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' (ब्र० सू० ३।४।५१) इति न्यायात्। उक्तं च वार्तिककारैः—

'कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत्तद्धि बन्धपरिक्षयात्।
असावपि च भूतो वा भावी वा वर्ततेऽथवा॥' (बृह० वा० सं० २९४) इति।

इसका साक्षात्कार करता है—यह आश्चर्य-सा ही है। इसी प्रकार 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्' इस वाक्यकी व्याख्या की थी। यहाँ भी जो श्रवणकर्ताकी आश्चर्यरूपता है वह अनेक जन्मोंमें किए हुए सुकृतोंके द्वारा जिसने अपने मनोमलको धो दिया है, ऐसे पुरुषकी अत्यन्त दुर्लभताके कारण है। यही बात भगवान् 'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' (७।३) इस श्लोकसे आगे कहेंगे। तथा 'बहुतोंके लिये जो श्रवणको भी नहीं मिलता और बहुतसे जिसे सुनते हुए भी नहीं समझ पाते। इस आत्मतत्त्वका निरूपण करनेवाला कुशल आचार्य आश्चर्यरूप है तथा उस कुशल आचार्यसे उपदेश पाकर इसे जान लेनेवाला भी आश्चर्यरूप है' इस श्रुति से भी यही बात सिद्ध होती। इसी प्रकार पूर्ववत् श्रवणक्रिया और श्रवणके विषयकी भी आश्चर्यरूपताकी व्याख्या कर लेनी चाहिये।

(१ यदि कहो कि जो श्रवण, मनन आदि करता है, वह आत्माको जान ही लेता है, इसमें आश्चर्यकी क्या बात है? तो कहते हैं—'न चैव कश्चित्' यहाँ 'च' शब्द क्रियापद 'वेद' और कर्मपद 'एनम्' का सम्बन्ध ग्रहण करनेके लिये है। अर्थात् कोई तो श्रवणादि करनेपर भी इसे नहीं ही समझ पाता, फिर श्रवणादि न करनेपर इसे कोई नहीं समझ सकता—इसमें तो कहना ही क्या है? यह बात 'ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्'[1] इस न्यायसे भी सिद्ध होती है। वार्तिककार भी कहते हैं—

'कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत्तद्धि बन्धपरिक्षयात्।
असावपि च भूतो वा भावी वा वर्ततेऽथवा॥'[2]

---

१. यदि कोई प्रतिबन्धक उपस्थित न हो तो इस जन्ममें ही विद्याका उदय हो सकता है, क्योंकि श्रुतिमें ऐसा ही देखा जाता है।

२. यदि कोई कहे कि वह ज्ञान कैसे होता है? तो प्रतिबन्धके क्षयसे ही होता है। वह प्रतिबन्धक्षय किसीका हो गया, किसीका होनेवाला है और किसीका हो रहा है।

श्रवणादि कुर्वतामपि प्रतिबन्धपरिक्षयादेव ज्ञानं जायते। अन्यथा तु न। स च प्रतिबन्धपरिक्षयः कस्यचिद्भूत एव। यथा हिरण्यगर्भस्य। कस्यचिद्भावी। यथा वामदेवस्य। कस्यचिद्वर्तते। यथा श्वेतकेतोः। तथा च प्रतिबन्धक्षयस्यातिदुर्लभत्वात् 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' इति स्मृतेश्च दुर्विज्ञेयोऽयमात्मेति निर्गलितोऽर्थः।

(१) यदि तु श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चिदित्येव व्याख्यायेत तदा 'आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः' (कठ० २।७) इति श्रुत्यैकवाक्यता न स्यात्, 'यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' (गी० ७।३) इति भगवद्वचनविरोधश्चेति विद्वद्भिरविनयः क्षन्तव्यः। अथवा न चैव कश्चिदित्यस्य सर्वत्र सम्बन्धः कश्चिदेनं न पश्यति न वदति न शृणोति श्रुत्वाऽपि न वेदेति पञ्च प्रकारा उक्ताः कश्चित्पश्यत्येव न वदति कश्चित्पश्यति च वदति च कश्चित्तद्वचनं शृणोति च तदर्थं जानाति च कश्चिच्छ्रुत्वाऽपि न जानाति च कश्चित्तु सर्वबहिर्भूत इति। अविद्वत्पक्षे तु असम्भावनाविपरीतभावनाभिभूतत्वादाश्चर्यतुल्यत्वं दर्शनवदनश्रवणेष्विति निगदव्याख्यातः श्लोकः। चतुर्थपादे तु दृष्ट्वोक्त्वा श्रुत्वाऽपीति योजना ॥ २९ ॥

(२) इदानीं सर्वप्राणिसाधारणभ्रमनिवृत्तिसाधनमुक्तमुपसंहरति—

श्रवणादि करनेवालोंको भी प्रतिबन्धका क्षय होनेसे ही ज्ञान होता है, नहीं तो नहीं होता। वह प्रतिबन्धक्षय किसीका तो हो गया है, जैसे हिरण्यगर्भका; किसीका होनेवाला है, जैसे वामदेवका और किसीका हो रहा है, जैसे श्वेतकेतुका। इस प्रकार प्रतिबन्धक्षय अत्यन्त दुर्लभ होनेके कारण, तथा 'पुरुषोंके पापकर्मका क्षय होनेपर ज्ञान उत्पन्न होता है'—ऐसी स्मृति होनेसे सारांश यह है कि यह आत्मा बड़ा ही दुर्विज्ञेय है।

(१) यदि इस वाक्यकी ऐसी व्याख्या की जाय कि 'श्रवण करके भी इसे कोई जान नहीं पाता' तो 'कुशल आचार्यसे उपदेश पाकर इसे जान लेनेवाला आश्चर्यरूप है' इस श्रुतिसे इसकी एकवाक्यता नहीं होगी तथा 'यत्न करनेवाले सिद्ध पुरुषोंमें कोई मुझे ठीक-ठीक जान पाता है' इस भगवान्‌के वचनसे भी विरोध होगा। इसलिये हमने जो ढिठाईकी है विद्वान् उसे क्षमा करें। अथवा 'न चैव कश्चित्' इसका सभीके साथ सम्बन्ध लगाना चाहिये। अर्थात् इसे न कोई देखता है, न कहता है, न सुनता है और न सुनकर भी जान पाता है। इस प्रकार यहाँ ये पाँच प्रकार कहे गये हैं—(१) कोई तो देखता ही है कह नहीं सकता, (२) कोई देखता भी है और कहता भी है, (३) कोई वचन सुनता है और उसका अर्थ समझता है, (४) कोई सुनकर भी कुछ नहीं समझता, और (५) कोई इन सभी बातोंसे वञ्चित रहता है। अज्ञानी तो असम्भावना और विपरीत भावनासे दबा रहता है, इसलिये उसके लिये तो आत्माके दर्शन, कथन और श्रवणमें समानरूपसे आश्चर्यरूपता रहती है, अतः अविद्वान्‌के पक्षमें बोलने मात्रसे ही इस श्लोककी व्याख्या हो जाती है, इसके चौथे चरणमें 'देखकर कहकर और सुनकर भी' इतना और जोड़ लेना चाहिये ॥ २९ ॥

(२) अब जो समस्त प्राणियोंमें समानरूपसे रहनेवाले भ्रमकी निवृत्तिका साधन कहा गया है, उसका उपसंहार करते हैं—

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

(१) सर्वस्य प्राणिजातस्य देहे वध्यमानेऽप्ययं देही लिङ्गदेहोपाधिरात्मा वध्यो न भवतीति नित्यं नियतं यस्मात्तस्मात्सर्वाणि भूतानि स्थूलानि सूक्ष्माणि च भीष्मादिभावापन्नान्युद्दिश्य त्वं न शोचितुमर्हसि। स्थूलदेहस्याशोच्यत्वमपरिहार्यत्वात्, लिङ्गदेहस्याशोच्यत्वमात्मवदेवावध्यत्वादिति न स्थूलदेहस्य लिङ्गदेहस्याऽऽत्मनो वा शोच्यत्वं युक्तमिति भावः ॥ ३० ॥

(२) तदेवं स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयतत्कारणाविद्याख्योपाधित्रयाविवेकेन मिथ्याभूतस्यापि संसारस्य सत्यत्वात्मधर्मत्वादिप्रतिभासरूपं सर्वप्राणिसाधारणमर्जुनस्य भ्रमं निराकर्तुमुपाधित्रयविवेकेनाऽऽत्मस्वरूपमभिहितवान्। संप्रति युद्धाख्ये स्वधर्मे हिंसादिबाहुल्येनाधर्मत्वप्रतिभासरूपमर्जुनस्यैव करुणादिदोषनिबन्धनमसाधारणं भ्रमं निराकर्तुं हिंसादिमत्त्वेऽपि युद्धस्य स्वधर्मत्वेनाधर्मत्वाभावं बोधयति भगवान्—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

(३) न केवलं परमार्थतत्त्वमेवावेक्ष्य किं तु स्वधर्ममपि क्षत्रियधर्ममपि युद्धापराङ्मुखत्वरूपमवेक्ष्य शास्त्रतः पर्यालोच्य विकम्पितुं विचलितुं धर्मादधर्मत्वभ्रान्त्या निवर्तितुं नार्हसि। तत्रैवं सति

[श्लोकार्थः—हे भारत ! सबके देहमें रहनेवाला यह लिंगदेहोपाधिक आत्मा सर्वदा ही वधके अयोग्य है। इसलिये तुम्हें इन स्थूल-सूक्ष्म सभी भूतोंके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥ ३० ॥]

(१) समस्त प्राणियोंके शरीरोंके मारे जानेपर भी यह देही—लिंगदेहोपाधिक आत्मा मारा नहीं जा सकता। इस प्रकार क्योंकि यह नित्य-नियत (एकरूप) है इसलिये भीष्मादिके रूपमें स्थित इन सभी स्थूल और सूक्ष्म भूतोंके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। स्थूलदेहकी अशोच्यता तो इसके नाशकी अनिवार्यताके कारण है तथा लिंगदेहकी अशोच्यता आत्माके समान ही अवध्य होनेके कारण है। अतः भाव यह है कि स्थूलदेह, सूक्ष्मदेह अथवा आत्मा किसीकी शोच्यता उचित नहीं है ॥ ३० ॥

(२) इस प्रकार स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीर और उनकी कारणभूता अविद्या इन तीनों उपाधियोंको आत्मासे पृथक् न समझनेके कारण सामान्यतया सभी प्राणियोंको होनेवाले मिथ्याभूत संसारमें सत्यत्व और आत्मधर्मत्व आदिके भानरूप अर्जुनके भ्रमको दूर करनेके लिये भगवान्‌ने इन तीनों उपाधियोंका विवेक करते हुए आत्माके स्वरूपका निरूपण किया। अब करुणादि दोषके कारण जो युद्धरूप स्वधर्ममें हिंसादिकी बहुलतासे अधर्मत्वका भानरूप अर्जुनका विशेष भ्रम था उसे दूर करनेके लिये श्रीभगवान् हिंसादियुक्त होनेपर भी स्वधर्म होनेके कारण युद्धमें अधर्मत्वका अभाव समझाते हैं—

[श्लोकार्थः—अपना धर्म समझकर भी तुम्हें विचलित नहीं होना चाहिये, क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मानुकूल युद्धके सिवा कोई और कल्याणका साधन नहीं है ॥ ३१ ॥]

(३) केवल परमार्थतत्त्वपर दृष्टि रखकर ही नहीं, किन्तु स्वधर्मयुद्धसे मुख न मोड़नारूप क्षत्रियका धर्म देखकर—शास्त्रसे विचार करके तुम्हें काँपना=विचलित होना

'यद्यप्येते न पश्यन्ति' इत्यादिना 'नरके नियतं वासो भवति' इत्यन्तेन युद्धस्य पापहेतुत्वं त्वया यदुक्तं 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादिना च गुरुवधब्रह्मवधाद्यकरणं यदभिहितं तत्सर्वं धर्मशास्त्र-पर्यालोचनादेवोक्तम् । कस्मात्, हि यस्माद्धर्म्यादपराङ्मुखत्वधर्मादनपेताद्युद्धादन्यत्क्षत्रियस्य श्रेयः श्रेयःसाधनं न विद्यते । युद्धमेव हि पृथिवीजयद्वारेण प्रजारक्षणब्राह्मणशुश्रूषादिक्षात्रधर्मनिर्वाहकमिति तदेव क्षत्रियस्य प्रशस्ततरमित्यभिप्रायः । तथा चोक्तं पराशरेण—

'क्षत्रियो हि प्रजा रक्षञ्शस्त्रपाणिः प्रदण्डवान् ।
निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत्' इति ॥ (परा० स्मृ० १।५८)

मनुनाऽपि—

'समोत्तमाधमै राजा चाऽऽहूतः पालयन्प्रजाः ।
न निवर्तेत सङ्ग्रामात्क्षात्त्रं धर्ममनुस्मरन् ॥
सङ्ग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् ।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञः श्रेयस्करं परम्' ॥ (मनु० स्मृ० ७।८७,८८) इत्यादिना ।

राजशब्दश्च क्षत्रियजातिमात्रवाचीति स्थितमेवेष्ट्यधिकरणे । तेन भूमिपालस्यैवायं धर्म इति न भ्रमितव्यम् । उदाहृतवचनेऽपि क्षत्रियो हीति क्षात्त्रं धर्ममिति च स्पष्टं लिङ्गम् । तस्मात्क्षत्रियस्य युद्धं प्रशस्तो धर्म इति साधु भगवताऽभिहितम् । 'अपशवोऽन्ये गोअश्वेभ्यः पशवो गोअश्वाः' इतिवत्प्रशंसालक्षणया युद्धादन्यच्छ्रेयःसाधनं न विद्यत इत्युक्तमिति न दोषः । एतेन युद्धा-

अर्थात् धर्मादिमें अधर्मत्वकी भ्रान्तिके कारण पीछे फिरना उचित नहीं है । बात ऐसी होनेके कारण तुमने जो 'यद्यप्येते न पश्यन्ति' इत्यादि श्लोकसे लेकर 'नरके नियतं वासो भवति' यहाँ तकके ग्रन्थसे युद्धको पापका कारण बताया है तथा 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादि श्लोकसे गुरुवध और ब्रह्मवध आदि न करनेके लिये कहा है, वह सब भी धर्म-शास्त्रका विचार न करनेके कारण ही तुम्हारे मुखसे निकला है; क्योंकि धर्म्य पीठ न दिखानारूप धर्मसे युक्त युद्धके सिवा क्षत्रियके लिये कोई दूसरा श्रेयका साधन नहीं है । तात्पर्य यह है कि पृथ्वीजयके द्वारा युद्ध ही प्रजापालन, ब्राह्मणशुश्रूषा आदि क्षात्रधर्मोंके निर्वाहका कारण होता है, इसलिये क्षत्रियके लिये वही विशेष प्रशंसनीय है । ऐसा ही पराशरजीने भी कहा है—'प्रजाकी रक्षा करनेके लिये क्षत्रियको हाथमें शस्त्र धारणकर कठोर दण्ड देते हुए शत्रुओंकी सेनाको परास्त करके धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन करना चाहिये ।' तथा मनुजी भी कहते हैं—'प्रजापालन करनेवाला राजा अपने समान अथवा अपने श्रेष्ठ या कनिष्ठ शत्रु द्वारा युद्धके लिये पुकारे जानेपर क्षात्रधर्मको स्मरण रखते हुए युद्धसे मुँह न मोड़े । संग्राममें पीठ न दिखाना, प्रजाका पालन करना और ब्राह्मणोंकी सेवा करना—ये राजाका परम कल्याण करनेवाले हैं ।' 'राजा' शब्द क्षत्रियजातिमात्रका वाचक है—यह बात पूर्वमीमांसाके इष्टि-अधिकरणमें निश्चित की ही गयी है । इसलिये यहाँ ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिये कि यह भूपालका ही धर्म है । यहाँ जो वचन उद्धृत किये गये हैं उनमें भी 'क्षत्रियो हि' एवं 'क्षात्त्रं धर्मम्' इत्यादि पद इसके स्पष्ट लिंग हैं । इसलिये क्षत्रियके लिये युद्ध श्रेष्ठ धर्म है—यह भगवान्‌ने ठीक ही कहा है । युद्धके सिवा कोई और श्रेयका साधन नहीं है—यह बात 'पशु तो गाय-घोड़े ही हैं, गाय-घोड़ोंसे भिन्न अन्य प्राणी तो पशु ही नहीं हैं' इस उक्तिके समान प्रशंसाके लक्ष्यसे कही है, इसलिये इसमें कोई दोष नहीं है । इससे 'युद्धसे बढ़कर कोई दूसरा कार्य करनेके लिये संग्राम-

त्प्रशस्ततरं किंचिदनुष्ठातुं ततो निवृत्तिरुचितेति निरस्तम् । 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे' इत्येतदपि ॥ ३१ ॥

(१) ननु युद्धस्य कर्तव्यत्वेऽपि न भीष्मद्रोणादिभिर्गुरुभिः सह तत्कर्तुमुचितमतिगर्हित्वादित्याशङ्क्याऽऽह—

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

(२) यदृच्छया स्वप्रयत्नव्यतिरेकेण, चोऽवधारणे, अप्रार्थनयैवोपस्थितमीदृशं भीष्मद्रोणादिवीरपुरुषप्रतियोगिकं कीर्तिराज्यलाभदृष्टफलसाधनं युद्धं ये क्षत्रियाः प्रतियोगित्वेन लभन्ते ते सुखिनः सुखभाज एव । जये सत्यनायासेनैव यशसो राज्यस्य च लाभात् । पराजये चातिशीघ्रमेव स्वर्गस्य लाभादित्याह—स्वर्गद्वारमपावृतमिति । अप्रतिबद्धं स्वर्गसाधनं युद्धमव्यवधानेनैव स्वर्गजनकं ज्योतिष्टोमादिकं तु चिरतरेण देहपातस्य प्रतिबन्धाभावस्य चापेक्षणादित्यर्थः । स्वर्गद्वारमित्यनेन श्येनादिवत्प्रत्यवायशङ्का परिहृता । श्येनादयो हि विहिता अपि फलदोषेण दुष्टाः, तत्फलस्य शत्रुवधस्य 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' 'ब्राह्मणं न हन्यात्' इत्यादिशास्त्रनिषिद्धस्य प्रत्यवायजनकत्वात्फले विध्यभावाच्च न 'विधिस्पृष्टे निषेधानवकाशः' इति न्यायावतारः । युद्धस्य हि फलं स्वर्गः स च न निषिद्धः । तथा च मनुः—

भूमिसे लौट जाना उचित ही है' इस विचारका तथा 'मैं अपने बन्धुओंको युद्धमें मारकर कोई भलाई नहीं देखता' इस अर्जुनके कथनका भी निराकरण हो जाता है ॥३१॥

(१) 'युद्ध कर्तव्य है, तो भी भीष्म-द्रोणादि गुरुजनोंके साथ लड़ाई करना तो अत्यन्त निन्दनीय होनेके कारण उचित नहीं है' ऐसी अर्जुनकी ओरसे आशंका करके भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थ :—अर्जुन ! बिना प्रयत्नके ही प्राप्त हुआ स्वर्गका खुला द्वाररूप ऐसा युद्ध तो सुखी क्षत्रियोंको ही प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥]

(२) यदृच्छया=अपने प्रयत्नके बिना ही । 'च' निश्चयार्थक है । अर्थात् बिना माँगे ही प्राप्त हुआ ऐसा युद्ध, जिसमें भीष्म-द्रोणादि वीर पुरुषोंसे मुकाबिला है तथा जो कीर्ति और राज्यप्राप्तिरूप दृष्ट फलोंका साधन है, जिन क्षत्रियोंको सामना करनेके लिये मिलता है वे तो सुखी = सुखके पात्र ही हैं, क्योंकि जीतनेपर तो इससे अनायास ही यश और राज्य मिल सकते हैं और हार जाय तो बहुत शीघ्र ही स्वर्ग मिल सकता है । इसीसे कहते हैं—'स्वर्गद्वारमपावृतम् ।' अर्थात् स्वर्गका निर्विघ्नसाधनरूप यह युद्ध बिना किसी व्यवधानके ही स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला है । ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ तो बहुत विलम्बसे स्वर्गकी प्राप्ति कराते हैं, क्योंकि उन्हें देहपात और प्रतिबन्धके अभावकी भी अपेक्षा है । स्वर्गद्वार ऐसा कहकर इसमें श्येनयागादिके समान प्रत्यवायकी शंकाका भी परिहार कर दिया है । श्येनयागादि विहित होनेपर भी अपने फलके दोषसे दूषित माने गये हैं, क्योंकि 'किसी प्राणीकी हिंसा न करे' 'ब्राह्मणका वध न करे' इत्यादि शास्त्रसे निषिद्ध उनका शत्रुवधरूप फल प्रत्यवायकी प्राप्ति करानेवाला है । इस फलके लिये कोई विधि नहीं है, इसलिये इसपर 'जहाँ विधिका स्पर्श होता है वहाँ निषेधका अवकाश नहीं होता' यह न्याय भी लागू नहीं होता । युद्धका फल तो स्वर्ग है और वह निषिद्ध भी नहीं है । मनुजी भी कहते हैं—

'आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः' ॥ (मनु० स्मृ० ७।८९) इति ॥

(१) युद्धं तु अग्नीषोमीयाद्यालम्भवद्विहितत्वाच्च निषेधेन स्प्रष्टुं शक्यते षोडशिग्रहणादिवत् । ग्रहणाग्रहणयोस्तुल्यबलतया विकल्पवत्सामान्यशास्त्रस्य विशेषशास्त्रेण संकोचसंभवात् । तथा च 'विधिस्पृष्टे निषेधानवकाशः' इति न्यायाद्युद्धं न प्रत्यवायजनकं नापि भीष्मद्रोणादिगुरुब्राह्मणादिवध-निमित्तो दोषः, तेषामाततायित्वात् । तदुक्तं मनुना—

'गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् । आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥
आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगम् । जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन' ॥ (मनु० स्मृ० ८।३५०-५१) इत्यादि ।

(२) ननु—'स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान्व्यवहारतः ।
अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः' ॥ (याज्ञ० २।२१)
इति याज्ञवल्क्यवचनादाततायिब्राह्मणवधेऽपि प्रत्यवायोऽस्त्येव । 'ब्राह्मणं न हन्यात्' इति हि दृष्टप्रयोजनानपेक्षत्वाद्धर्मशास्त्रं, जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत्' इति च स्वजीवनार्थत्वा-दर्थशास्त्रम् ।

(३) अत्रोच्यते—'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत' इतिवद्युद्धविधायकमपि धर्मशास्त्रमेव 'सुखदुःखे समे कृत्वा' इत्यत्र दृष्टप्रयोजनानपेक्षत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् । याज्ञवल्क्यवचनं तु दृष्टप्रयोजनोद्देश्यक-

'जो राजा आपसमें एक दूसरेका संहार करनेकी इच्छासे युद्धस्थलमें परमपराक्रम-पूर्वक संग्राम करते हैं और उससे मुख नहीं मोड़ते, वे स्वर्गको जाते हैं ।'

(१) युद्ध तो अग्निष्टोम आदि यज्ञोंकी हिंसाके समान विहित होनेके कारण षोडशिग्रहण आदिकी तरह निषेधसे स्पर्श नहीं किया जा सकता, क्योंकि षोडशीके ग्रहण और अग्रहणमें समान बल होनेसे विकल्प रहनेके कारण ग्रहणरूप सामान्य शास्त्रका अग्रहणरूप विशेष शास्त्रसे संकोच होना सम्भव है । तथा 'विधिका स्पर्श रहनेपर निषेधको अवकाश नहीं होता' इस न्यायसे भी युद्ध प्रत्यवायका कारण नहीं है । इसके सिवा भीष्म-द्रोण आदि गुरु और ब्राह्मणादिका वध करनेसे भी कोई दोष नहीं हो सकता, क्योंकि वे आततायी हैं । इस विषयमें मनुजीने कहा है—'गुरु हो, बालक हो, वृद्ध हो, ब्राह्मण हो अथवा बहुश्रुत हो; आततायीको तो आते ही विना कोई विचार किये ही मार डाले । अपनेको मारनेकी इच्छासे आये हुए वेदान्त-पारगामी आततायीको भी मारनेका ही निश्चय करे । ऐसा करनेसे ब्रह्मघाती नहीं होता । आततायीको मारनेसे मारनेवालेको किसी प्रकारका दोष नहीं होता' इत्यादि ।

(२) शंका—किन्तु 'दो स्मृतियोंका विरोध होनेपर वृद्धव्यवहारसे जो न्याय हो वही बलवान् होता है, क्योंकि स्थिति ऐसी है कि अर्थशास्त्रकी अपेक्षा धर्मशास्त्र अधिक बलवान् होता है' इस याज्ञवल्क्यजीके वचनके अनुसार आततायी ब्राह्मणको मारनेमें भी दोष है ही । 'ब्राह्मणका वध न करे' यह किसी दृष्ट प्रयोजनकी अपेक्षावाला न होनेसे धर्मशास्त्र है, तथा 'जो मारनेकी इच्छावाला हो उसे मारनेका ही निश्चय करे, इससे ब्रह्मघाती नहीं होता' इसमें अपने जीवनका प्रयोजन रहनेसे यह अर्थशास्त्र है ।

(३) समाधान—इसपर हमारा कथन यह है कि 'ब्रह्माके उद्देश्यसे ब्राह्मणका आलभन करे' इस विधिके समान युद्धका विधान करनेवाला भी धर्मशास्त्र ही है तथा 'सुखदुःखे समे कृत्वा' इत्यादि वाक्यसे इसमें दृष्टप्रयोजनकी अपेक्षाका अभाव भी कहा

कूटयुद्धादिकृतवधविषयमित्यदोषः । मिताक्षराकारस्तु धर्मार्थसन्निपातेऽर्थग्राहिण एतदेवेति द्वादशवार्षिकप्रायश्चित्तस्यैतच्छब्दपरामृष्टस्याऽऽपस्तम्बेन विधानान्मित्रलब्ध्याद्यर्थशास्त्रानुसारेण चतुष्पाद्व्यवहारे शत्रोरपि जये धर्मशास्त्रातिक्रमो न कर्तव्य इत्येतत्परं वचनमेतदित्याह । भवत्वेवं न नो हानिः । तदेवं युद्धकरणे सुखोक्तेः 'स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव' इत्यर्जुनोक्तमपाकृतम् ॥३२॥

(१) ननु नाहं युद्धफलकामः 'न काङ्क्षे विजयं कृष्ण' 'अपि त्रैलोक्यराज्यस्य' इत्युक्त्वात्तत्कथं मया कर्तव्यमित्याशङ्क्याकरणे दोषमाह—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

(२) अथेति पक्षान्तरे । इमं भीष्मद्रोणादिवीरपुरुषप्रतियोगिकं धर्म्यं हिंसादिदोषणादुष्टं सतां धर्मादनपेतामिति वा । स च मनुना दर्शितः—

जायगा । याज्ञवल्क्यजीका वचन तो दृष्टप्रयोजनके उद्देश्यसे किये जानेवाले कपटयुद्धादिके द्वारा होनेवाले वधके विषयमें है, इसलिये उसमें यह दोष नहीं आ सकता । मिताक्षराकार तो कहते हैं—'धर्म और अर्थका विरोध होनेपर जो अर्थको ग्रहण करता है उसे यह करना चाहिये—इस वाक्यमें जिसका 'यह' शब्दसे ग्रहण किया गया है ऐसा बारह वर्षके प्रायश्चित्तका आपस्तम्बने विधान किया है । इससे इस वचनका वही तात्पर्य जान पड़ता है कि मित्रलाभ[1] आदि अर्थशास्त्रका अनुसरण करनेसे चारपादवाले[2] व्यवहारमें यदि शत्रुकी जीत भी हो जाय तो भी धर्मशास्त्रका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये ।' भले ही ऐसी ही बात हो, इससे हमारी कोई हानि नहीं है । यहाँ इस प्रकार युद्ध करनेमें सुख बतलाकर भगवान्‌ने 'माधव ! स्वजनोंको ही मारकर हम सुखी कैसे हो सकते हैं' इस अर्जुनकी बातका खण्डन कर दिया है ॥ ३२ ॥

(१) 'किन्तु मुझे तो युद्धके फलकी इच्छा ही नहीं है, मैं 'न काङ्क्षे विजयं कृष्ण' 'अपि त्रैलोक्यराज्यस्य' आदि वाक्योंसे यह बात पहले ही कह चुका हूँ । तो फिर मुझे युद्ध क्यों करना चाहिये'—ऐसी अर्जुनकी ओरसे आशंका करके भगवान् युद्ध न करनेमें दोष बताते हैं—

[श्लोकार्थः—इसके विपरीत यदि तुम इस धर्मानुकूल संग्रामको नहीं करोगे तो स्वधर्म और कीर्तिको त्यागकर पापके भागी बनोगे ॥ ३३ ॥

(२) अथ—पक्षान्तरमें यदि तुम, जिसमें भीष्म-द्रोणादि वीर पुरुषोंका सामना करना है ऐसे इस धर्म—हिंसादि दोषोंसे अदूषित तथा सत्पुरुषोंके धर्मसे युक्त संग्रामको

---

१. मित्रलाभका अर्थ है कोई सच्चा मित्र या हितैषी का मिलना । इसकी महिमा इस श्लोकमें कही है—'हिरण्यभूमिलाभेभ्यो मित्रलब्धिर्वरा यतः । अतो यतेत तत्प्राप्तौ क्रोधलोभविवर्जितः ॥' क्योंकि सोना और पृथ्वीके लाभकी अपेक्षा भी मित्रका मिलना अधिक श्रेष्ठ है, इसलिये क्रोध और लोभ छोड़कर मित्रकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करे ।

२. बृहस्पतिजीने व्यवहारके चार पाद इस प्रकार बताये हैं—

'पूर्वपक्ष आद्यपादो द्वितीयश्चोत्तरो मतः । क्रियापादस्तथान्यश्च चतुर्थो निर्णयः स्मृतः ॥'

अर्थात् पहला पाद पूर्वपक्ष है, दूसरा उत्तर है, तीसरा क्रिया (साक्षी-प्रमाण आदिके द्वारा अपना पक्ष स्थापित करना) है और चौथा पाद निर्णय (साध्यकी सिद्धि) है ।

'न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून् । न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ॥
न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् । न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीतिवादिनम् ॥
न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् । नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ।
नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम् । न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन्' ॥
(मनु० ७।९०–९३) इति ।

सतां धर्ममुल्लङ्घ्य युध्यमानो हि पापीयान्स्यात्, त्वं तु परैराहूतोऽपि सद्धर्मोपेतमपि सङ्ग्रामं युद्धं न करिष्यसि धर्मतो लोकतो वा भीतः परावृत्तो भविष्यसि चेत्ततो 'निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत्' इत्यादिशास्त्रविहितस्य युद्धस्याकरणास्स्वधर्मं हित्वाऽननुष्ठाय कीर्तिं च महादेवादि-समागमनिमित्तां हित्वा "न निवर्तेत सङ्ग्रामात्" इत्यादिशास्त्रनिषिद्धसङ्ग्रामनिवृत्त्या च रणजन्यं पापमेव केवलमवाप्स्यसि न तु धर्मं कीर्तिं चेत्यभिप्रायः ।

(१) अथवाऽनेकजन्मार्जितं धर्मं त्यक्त्वा राजकृतं पापमेवावाप्स्यसीत्यर्थः । यस्मात्त्वां परावृत्तमेते दुष्टा अवश्यं हनिष्यन्ति अतः परावृत्तहतः संश्चिरोपार्जितनिजसुकृतपरित्यागेन परोपार्जितदुष्कृतमात्रभाङ्मा भूरित्यभिप्रायः । तथा च मनुः—

"यस्तु भीतः परावृत्तः सङ्ग्रामे हन्यते परैः ।
भर्तुर्यद्दुष्कृतं किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥

नहीं करोगे । ऐसे संग्रामका मनुजीने इस प्रकार दिग्दर्शन कराया है—'रणभूमिमें युद्ध करनेवाला पुरुष शत्रुपर कपट भरे हुए शस्त्रोंसे प्रहार न करे । जिनकी नोक कानके से आकारकी हो, विषमें बुझी हो अथवा अग्निसे प्रज्वलित हो उन बाणोंका प्रयोग न करे । जो किसी स्थानके ऊपर चढ़ गया हो, नपुंसक हो, हाथ जोड़े हुए हो, बाल बिखेरे हो, बैठा हुआ हो, 'मैं आपका हूँ' ऐसा कहता हो, सोया हुआ हो, कवचहीन हो, नंगा हो, शस्त्रहीन हो, लड़ न रहा हो, केवल दर्शक हो, दूसरेके साथ युद्ध कर रहा हो, शस्त्र न रहनेसे संकटमें पड़ गया हो, दीन हो, बहुत घायल हो गया हो, भयभीत हो गया हो, अथवा युद्धसे भाग रहा हो उसपर, सत्पुरुषोंके धर्मको स्मरण रखते हुए, वार न करे ।' जो व्यक्ति सत्पुरुषोंके धर्मका उल्लंघन करता है वही पापी होता है । तुम भी यदि शत्रुओंसे पुकारे जानेपर भी सत्पुरुषोंके धर्मसे प्राप्त यह संग्राम-युद्ध नहीं करोगे—धर्म या लोकसे भयभीत होकर युद्धसे लौट जाओगे तो 'शत्रुओंकी सेनाको जीतकर धर्मानुसार पृथ्वीका पालन करें' इत्यादि शास्त्रसे विहित युद्ध न करनेके कारण स्वधर्मका त्याग अर्थात् अनुष्ठान न करनेसे महादेवजी आदिके साथ युद्ध करनेसे मिली हुई अपनी कीर्तिसे हाथ धोकर 'संग्रामसे पीछे न हटे' इत्यादि शास्त्रसे निषिद्ध युद्धसे पीठ दिखाना रूप आचरण करनेके कारण केवल पाप ही प्राप्त करोगे; धर्म या कीर्ति कुछ भी हाथ नहीं लगेंगे—ऐसा इसका अभिप्राय है ।

(१) अथवा अपने अनेकों जन्मोंमें उपार्जित धर्मको त्यागकर राजा (युधिष्ठिर) के कारण होनेवाला पाप ही प्राप्त करोगे—ऐसा इसका तात्पर्य है क्योंकि युद्धसे पीठ दिखाने पर ये दुष्ट तुम्हें अवश्य मार डालेंगे । अतः तात्पर्य यह है कि पीठ दिखाकर मारा जानेपर अपने चिरसञ्चित सुकृतोंसे हाथ धोकर दूसरेके सञ्चय किये हुए पापोंका ही भागी मत बन । इस विषयमें मनुजी ऐसा कहते हैं—'जो पुरुष भयवश युद्धसे पीठ दिखाता हुआ शत्रुओंके हाथसे मारा जाता है उसके सिरपर स्वामीका जितना पाप होता है वह सभी

यच्चास्य सुकृतं किंचिदमुत्रार्थमुपार्जितम् ।
भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु" ॥ (मनुः ७, ९४-९५) इति ॥
याज्ञवल्क्योऽपि "राज्ञा सुकृतमादत्ते हतानां विपलायिनाम्" इति ।
तेन यदुक्तं—
"पापमेवाऽऽश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।" (गी० १।३६)
"एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।" (गी० १।३५)
इति तन्निराकृतं भवति ॥ ३३ ॥

(१) एवं कीर्तिधर्मयोरिष्टयोरप्राप्तिरनिष्टस्य च पापस्य प्राप्तिर्युद्धपरित्यागे दर्शिता । तत्र पापाख्यमनिष्टं व्यवधानेन दुःखफलदमामुत्रिकत्वात्, शिष्टगर्हालक्षणं त्वनिष्टमासन्नफलदमत्य-सह्यमित्याह—

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

(२) भूतानि देवर्षिमनुष्यादीनि ते तवाव्ययां दीर्घकालमकीर्तिं न धर्मात्माऽयं न शूरोऽय-मित्येवंरूपां कथयिष्यन्त्यन्योन्यं कथाप्रसङ्गे । कीर्तिधर्मनाशसमुच्चयार्थौ निपातौ । न केवलं कीर्तिधर्मौ हित्वा पापं प्राप्स्यसि अपि तु अकीर्तिं च प्राप्स्यसि । न केवलं त्वमेव तां प्राप्स्यसि अपि तु भूतान्यपि कथयिष्यन्तीति वा निपातयोरर्थः ।

(३) ननु युद्धे स्वमरणसंदेहात्तत्परिहारार्थमकीर्तिरपि सोढव्या आत्मरक्षणस्यात्यन्ता-पेक्षितत्वात् । तथा चोक्तं शान्तिपर्वणि—

आ जाता है, तथा उस युद्धसे पीठ दिखानेपर मारे जानेवालेका परलोकमें भोगनेके लिये संचय किया हुआ जो पुण्य होता है वह उसके स्वामीको मिल जाता है ।' याज्ञवल्क्यजी भी कहते हैं—युद्धसे विमुख होकर भागते हुए मरनेवालोंका पुण्य राजाको प्राप्त होता है ।' इससे अर्जुनने जो कहा था कि 'हे मधुसूदन ! इन आततायियोंको मारकर हमें पाप ही लगेगा, मैं तो इनके मारनेपर भी इन्हें मारना नहीं चाहता' उसका निराकरण हो जाता है ॥

(१) इस प्रकार युद्धका परित्याग करनेमें कीर्ति और धर्मरूप इष्टकी अप्राप्ति और पापरूप अनिष्टकी प्राप्ति दिखायी गयी । सो पापरूप अनिष्ट तो परलोकसे सम्बन्ध रखने के कारण कुछ व्यवधानसे दुःखरूप फल देनेवाला है, किन्तु शिष्टपुरुषोंमें निन्दा होना-रूप अनिष्ट तो तत्काल फल देनेवाला होनेसे बहुत ही असह्य है—यही बात अब कहते हैं—

[श्लोकार्थः—समस्त प्राणी बहुत दिनोंतक रहनेवाली तुम्हारी अपकीर्तिकी चर्चा करेंगे । तथा सम्मानित पुरुषके लिये अपकीर्ति तो मरणसे भी बढ़कर होती है ॥ ३४ ॥]

(२) भूत अर्थात् देवता, ऋषि और मनुष्य आदि प्राणी आपसके कथाप्रसंगमें एक-दूसरेसे तुम्हारी अव्यय—चिरकालतक रहनेवाली ऐसी अपकीर्तिकी कि अर्जुन धर्मात्मा नहीं था शूरवीर नहीं था-चर्चा करेंगे । यहाँ दो 'च' निपात पूर्व श्लोक में कहे हुए कीर्ति और धर्मके नाशके साथ अकीर्तिका समुच्चय करनेके लिए हैं । अर्थात् केवल कीर्ति और धर्मको छोड़कर पाप ही प्राप्त नहीं करेगा अपितु अकीर्ति भी पावेगा । अथवा इन निपातोंका यह भी तात्पर्य हो सकता है कि वह अपकीर्ति तुम्हें केवल मिलेगी ही नहीं बल्कि सब प्राणी भी उसकी चर्चा करेंगे ।

(३) शंका—किन्तु युद्धमें तो अपने मरनेकी भी आशंका रहती है, अतः उससे बचनेके लिए अपकीर्ति भी सहनी ही चाहिए, क्योंकि अपनी रक्षा करना तो अत्यन्त

"साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरुत वा पृथक् ।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युध्येत कदाचन ॥
अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युध्यमानयोः ।
पराजयश्च सङ्ग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥
त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसंभवे ।
तथा युध्येत संयत्तो विजयेत रिपून्यथा" ॥ इति ॥

एवमेव मनुनाऽप्युक्तम् ।

(१) तथा च मरणभीतस्य किमकीर्तिदुःखमिति शङ्कामपनुदति—संभावितस्य धर्मात्मा शूर इत्येवमादिभिरनन्यलभ्यैर्गुणैर्बहुमतस्य जनस्याकीर्तिर्मरणादप्यतिरिच्यतेऽधिका भवति । चो हेतौ । एवं यस्मादतोऽकीर्तेर्मरणमेव वरं न्यूनत्वात् । त्वमप्यतिसंभावितोऽसि महादेवादिसमागमेन । अतो नाकीर्तिदुःखं सोढुं शक्ष्यसीत्यभिप्रायः । उदाहृतवचनं त्वर्थशास्त्रत्वात् 'न निवर्तेत सङ्ग्रामात्' (मनु० ७।८७) इत्यादिधर्मशास्त्राद् दुर्बलमिति भावः ॥ ३४ ॥

(२) ननूदासीना जना मां निन्दन्तु नाम भीष्मद्रोणादयस्तु महारथाः कारुणिकत्वेन स्तोष्यन्ति मामित्यत आह—

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

आवश्यक है । यही बात शान्तिपर्व में भी कही है—'शत्रुओं को साम, दान और भेद इन सब उपायोंसे मिलाकर या अलग-अलग एक-एकसे जीतनेका प्रयत्न करे । युद्ध कभी न करे, क्योंकि संग्राममें युद्ध करनेवालोंका विजय और पराजय टिकाऊ नहीं देखा जाता । इसलिये युद्धसे बचना ही चाहिए । यदि पहले बनाये हुए तीनों ही उपाय सम्भव न हों तो इस प्रकार युद्ध करे जिससे वैभव प्राप्त करने के लिए शत्रुओंको जीत सके ।' ऐसी बात मनुजीने भी कही है ।

(१) ऐसी स्थितिमें जो मरनेसे डर रहा है । उस पुरुषके लिए अपकीर्ति ऐसा क्या दुःख है ?—इस शंकाका भगवान् इस प्रकार निराकरण करते हैं—सम्भावित अर्थात् जो दूसरोंके लिए दुर्लभ धर्मात्मा शूरवीर आदि गुणोंके कारण सम्मानित हैं उस पुरुषकी अपकीर्ति मरणसे भी बढ़कर होती है । यहाँ 'च' हेतु अर्थ में है । क्योंकि ऐसी बात है, इसलिए हल्का होनेके कारण अपकीर्तिकी अपेक्षा तो मरना ही अच्छा है । महादेव आदिके साथ समागम होनेके कारण तुम भी बहुत सम्मानित हो । अतः तात्पर्य यह है कि तुम अपकीर्तिजनित दुःखको सहन नहीं कर सकोगे । तुमने यहाँ जिन बचनोंको उद्धृत किया है वे तो अर्थशास्त्र होनेके कारण 'न निवर्तेत सङ्ग्रामात्' इत्यादि धर्मशास्त्रकी अपेक्षा दुर्बल हैं—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ ३४ ॥

(२) अब यदि अर्जुन कहे कि उदासीनलोग भले ही मेरी निन्दा करें भीष्म-द्रोणादि महारथी तो मेरी कारुणिकताके कारण स्तुति ही करेंगे—तो भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थ :—ये भीष्मादि महारथी तुम्हें भयके कारण युद्धसे लौटा हुआ मानेंगे । इस प्रकार जो तुम्हारा बड़ा मान करते हैं । उन्हींकी दृष्टिमें तुम हल्के हो जाओगे ॥३५॥]

(१) कर्णादिभ्यो भयाद्युद्धान्निवृत्तं न कृपयेति त्वां मंस्यन्ते भीष्मद्रोणदुर्योधनादयो महारथाः । ननु ते मां बहु मन्यमानाः कथं भीतं मंस्यन्त इत्यत आह—येषामेव भीष्मादीनां त्वं बहुमतो बहुभिर्गुणैर्युक्तोऽयमर्जुन इत्येवं मतस्त एव त्वां महारथा भयादुपरतं मंस्यन्त इत्यन्वयः । अतो भूत्वा युद्धादुपरत इति शेषः । लाघवमनादरविषयत्वं यास्यसि प्राप्स्यसि । सर्वेषामिति शेषः । येषामेव त्वं प्राग्बहुमतोऽभूस्तेषामेव तादृशो भूत्वा लाघवं यास्यसीति वा ॥ ३५ ॥

(२) ननु भीष्मादयो महारथा न बहु मन्यन्तां दुर्योधनादयस्तु शत्रवो बहु मंस्यन्ते मां युद्धनिवृत्त्या तदुपकारित्वादित्यत आह—

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

(३) तवासाधारणं यत्सामर्थ्यं लोकप्रसिद्धं तन्निन्दन्तस्तव शत्रवो दुर्योधनादयोऽवाच्यान्वादान्वचनानर्हान्षण्ढतिलादिरूपानेव शब्दान्बहूननेकप्रकारान्वदिष्यन्ति न तु बहु मंस्यन्त इत्यभिप्रायः । अथवा तव सामर्थ्यं स्तुतियोग्यत्वं तव निन्दन्तोऽहिता अवाच्यवादान्वदिष्यन्तीत्यन्वयः ।

(४) ननु भीष्मद्रोणादिवधप्रयुक्तं कष्टतरं दुःखमसहमानो युद्धान्निवृत्तः शत्रुकृतसामर्थ्य-

---

(१) भीष्म द्रोण और दुर्योधनादि महारथी तुम्हें, करुणावश नहीं, कर्णादिके भयके कारण युद्धसे भगा हुआ मानेंगे । यदि कहो कि वे तो मेरा बड़ा मान करते हैं, फिर मुझे डरा हुआ कैसे मानेंगे ? तो उसपर कहते हैं—जिन भीष्मादिकी दृष्टिमें तुम बहुमत हो अर्थात् 'यह अर्जुन बहुत-से गुणोंसे सम्पन्न है' इस प्रकार माने जाते हो, वे महारथी ही तुम्हें भयके कारण भगा हुआ मानेंगे—इस प्रकार इसका अन्वय है । अतः युद्धसे निवृत्त होकर यहाँ 'भूत्वा' के पहले 'युद्धादुपरतः' इतना अध्याहार करना चाहिए—[सबकी दृष्टिमें] लाघव अर्थात् अनादरकी विषयताको प्राप्त होगे—यहाँ 'सर्वेषाम्' इस पदका अध्याहार होगा । अथवा ऐसा अर्थ समझना चाहिए कि पहले जिनकी दृष्टिमें तुम बड़े सम्मानित थे ऐसे होनेपर उन्हींके लिए तुम अनादरके योग्य हो जाओगे ॥ ३५ ॥

(२) 'भीष्मादि वीर भले ही मेरा आदर न करें, दुर्योधनादि शत्रु तो मेरा मान करेंगे ही, क्योंकि युद्धसे लौटनेके कारण मैं उनके लिए उपकारी होऊँगा' ऐसा यदि अर्जुन कहे तो भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थः—दुर्योधनादि तुम्हारे शत्रु तुम्हारी लोकप्रसिद्ध शक्तिकी निन्दा करते हुए बहुत-से न कहनेयोग्य शब्द कहेंगे । इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या होगी ?॥३६॥

(३) तुम्हारी जो असाधारण शक्ति लोकमें प्रसिद्ध है उसकी निन्दा करते हुए तुम्हारे शत्रु दुर्योधन आदि बहुतसे तरह-तरहके अवाच्य—नपुंसक-तिल[1] आदि रूप न कहने योग्य शब्द कहेंगे । अभिप्राय यह है कि वे तुम्हारा आदर नहीं करेंगे । अथवा इसका ऐसा अन्वय करना चाहिये कि तुम्हारी निन्दा करने वाले शत्रु तुम्हारी सामर्थ्य अर्थात् स्तुति योग्यताको न कहने योग्य बातें कहेंगे ।

(४) अब यदि अर्जुन कहे कि मैं तो भीष्म-द्रोणादिके वधसे होनेवाले कष्टप्रद दुःखको न सह सकनेके कारण युद्धसे लौट रहा हूँ, इसलिये यह शत्रुओंकी की हुई अपनी सामर्थ्यकी निन्दादिसे होनेवाला दुःख भी सह ही सकूँगा—तो भगवान् कहते हैं—

१. अर्थात् 'नपुंसक है' '[हमारे सामने] तिलके समान है ।

निन्दनादिदुःखं सोढुं शक्ष्यामीत्यत आह—ततस्तस्मान्निन्दाप्राप्तिदुःखात्किं नु दुःखतरं ततोऽधिकं किमपि दुःखं नास्तीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

(१) ननु तर्हि युद्धे गुर्वादिवधवशान्मध्यस्थकृता निन्दा ततो निवृत्तौ तु शत्रुकृता निन्देत्युभयतःपाशा रज्जुरित्याशङ्क्य जये पराजये च लाभप्रौव्याद्युद्धार्थमेवोत्थानमावश्यकमित्याह—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

(२) स्पष्टं पूर्वार्धम् । यस्मादुभयथाऽपि ते लाभस्तस्माज्जेष्यामि शत्रून्मरिष्यामि वेति कृतनिश्चयः सन्युद्धायोत्तिष्ठ, अन्यतरफलसंदेहेऽपि युद्धकर्तव्यताया निश्चितत्वात् । एतेन 'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः' इत्यादि परिहृतम् ॥ ३७ ॥

(३) नन्वेवं स्वर्गमुद्दिश्य युद्धकरणे तस्य नित्यत्वव्याघातः, राज्यमुद्दिश्य युद्धकरणे त्वर्थशास्त्रत्वाद्धर्मशास्त्रापेक्षया दौर्बल्यं स्यात्, ततश्च काम्यस्याकरणे कुतः पापं दृष्टार्थस्य गुरुब्राह्मणादिवधस्य कुतो धर्मत्वं, तथा चाथ चेदितिश्लोकार्थो व्याहत इति चेत्तत्राऽऽह—

उस निन्दाप्राप्तिके दुःखसे बढ़कर दुःखदायी और क्या होगा ? अर्थात् उससे बड़ा दुःख और कोई नहीं है ॥ ३६ ॥

(१) 'तब तो युद्धमें गुरु आदिका बध करनेसे मध्यस्थोंकी की हुई निन्दा और इससे लौटनेपर शत्रुओंकी की हुई निन्दा मिलनी ही है । इस प्रकार यह स्थिति दोनों ओर फंदोंवाली डोरीके समान है' ऐसी अर्जुनकी ओरसे आशंका करके भगवान् यह कहते हैं कि जय और पराजय दोनोंहीमें लाभ निश्चित होनेके कारण युद्धके लिए खड़ा हो जाना ही आवश्यक है ।

[श्लोकार्थः—कुन्तिनन्दन ! मारे गये तो स्वर्ग प्राप्त करोगे और जीत गये तो पृथ्वीका राज्य भोगोगे । इसलिये युद्धके लिये निश्चय करके खड़े हो जाओ ॥ ३७ ॥]

(२) पूर्वार्ध तो स्पष्ट ही है । इस प्रकार क्यों कि दोनों ही अवस्थाओंमें तुम्हें लाभ है इसलिये या तो जीतूँगा नहीं तो मर जाऊँगा—ऐसा निश्चय करके युद्धके लिए खड़े हो जाओ, क्यों कि इन दोनों में से किसी एकके फलके विषयमें सन्देह होनेपर भी युद्धकी कर्तव्यता ही निश्चित होती है । इस कथनसे 'मैं' नहीं जानता कि 'हम जीतें या ये हमें जीतें' इनमेंसे कौन बात बड़ी है ?' इत्यादि अर्जुनकी शंकाका भी निराकरण हो जाता है ॥ ३७ ॥

(३) 'किन्तु इस प्रकार स्वर्गके उद्देश्यसे युद्ध करनेमें तो युद्धकर्मकी नित्यता सिद्ध नहीं होती और राज्यके उद्देश्यसे करनेमें अर्थ शास्त्रकी दृष्टि रहनेसे यह धर्मशास्त्रकी अपेक्षा दुर्बल ठहरता है । ऐसी स्थिति इस काम्य कर्मके न करनेसे पाप कैसे हो सकता है ? तथा जिसका प्रयोजन केवल लौकिक राज्यादि हैं उस गुरु और ब्राह्मण आदिके वधकी धर्मरूपता कैसे मानी जा सकती है ? इस प्रकार 'अथ चेत्' (२।३३) इत्यादि श्लोकोंके अर्थकी भी असंगति ही निश्चित होती है ।' ऐसी यदि अर्जुन शंका करे तो भगवान् कहते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

(१) समताकरणं रागद्वेषराहित्यम् । सुखे तत्कारणे लाभे तत्कारणे जये च रागमकृत्वा, एवं दुःखे तद्धेतावलाभे तद्धेतावजये च द्वेषमकृत्वा ततो युद्धाय युज्यस्व सन्नद्धो भव । एवं सुखकामनां दुःखनिवृत्तिकामनां वा विहाय स्वधर्मबुद्ध्या युध्यमानो गुरुब्राह्मणादिवधनिमित्तं नित्यकर्माकरणनिमित्तं च पापं न प्राप्स्यसि । यस्तु फलकामनया करोति स गुरुब्राह्मणादिवधनिमित्तं पापं प्राप्नोति यो वा न करोति स नित्यकर्माकरणनिमित्तम् । अतः फलकामनामन्तरेण कुर्वन्नुभयविधमपि पापं न प्राप्नोतीति प्रागेव व्याख्यातोऽभिप्रायः । 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' इति त्वानुषङ्गिकफलकथनमिति न दोषः । तथा चाऽऽपस्तम्बः स्मरति—'तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निमित्ते छायागन्धावनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते नो चेदनूत्पद्यन्ते न धर्महानिर्भवति' इति । अतो युद्धशास्त्रस्यार्थशास्त्रत्वाभावात् 'पापमेवाऽऽश्रयेदस्मान्' इत्यादि निराकृतं भवति ॥ ३८ ॥

(२) ननु भवतु स्वधर्मबुद्ध्या युध्यमानस्य पापाभावः, तथापि न मां प्रति युद्धकर्तव्यतोपदेशस्तवोचितः, 'य एनं वेत्ति हन्तारम्' इत्यादिना 'कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्' इत्यन्तेन विदुषः सर्वकर्मप्रतिषेधात् । नह्यकर्त्राभोक्त्रशुद्धस्वरूपोऽहमस्मि युद्धं कृत्वा तत्फलं भोक्ष्य

[श्लोकार्थः—सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय इनमें समता रखकर फिर युद्धके लिए तैयार हो जाओ ऐसा करनेसे तुम्हें पाप नहीं लगेगा ॥ ३८ ॥]

(१) समता रखनेका अर्थ है राग-द्वेषसे रहित होना । सुख, उसके कारण लाभ और उसके कारण जयमें राग न रखकर तथा दुःख, उसके कारण हानि और उसके कारण पराजयमें द्वेष न रखकर फिर युद्धके लिये युक्त अर्थात् तैयार हो जाओ । इस प्रकार सुखकी इच्छा और दुःखनिवृत्तिकी इच्छाको छोड़कर स्वधर्म बुद्धिसे युद्ध करते हुए तुम्हें गुरु और ब्राह्मणादिके वधसे तथा नित्यकर्मके त्यागसे होनेवाला पाप नहीं होगा । जो पुरुष किसी फलकी कामना से युद्ध करता है उसीको गुरु और ब्राह्मणादिके वधसे पाप होता है और जो नहीं करता उसे नित्यकर्म न करनेसे पाप लगता है । अतः फलकी कामनाके बिना युद्ध करनेपर दोनों ही प्रकारका पाप नहीं होता—इस प्रकार इसके अभिप्राय की व्याख्या पहले ही की जा चुकी है । 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' यह तो आनुषङ्गिक (प्रासंगिक) फल कह दिया है, इसलिये कोई दोषकी बात नहीं है । आपस्तम्बजी भी अपनी स्मृतिमें ऐसा ही कहते हैं—'जैसे फलके उद्देश्यसे लगाये हुए आमके वृक्षसे छाया और गन्ध उत्पन्न होते ही हैं इसी प्रकार धर्मका आचरण करनेपर अर्थ भी प्राप्त हो अथवा न हो उससे धर्मकी कोई हानि नहीं होती ।' इस प्रकार युद्ध शास्त्रमें अर्थशास्त्रत्व न होनेके कारण 'पापमेवाश्रयेदस्मान्' इत्यादि वाक्योंसे की हुई अर्जुनकी शंकाओंका निराकरण हो जाता है ॥ ३८ ॥

(२) जो स्वधर्मबुद्धिसे युद्ध करता है उसे पाप न लगे—यह हो सकता है, किन्तु आपका मुझे युद्धकी कर्त्तव्यताका उपदेश करना तो उचित नहीं है, क्यों कि 'य एनं वेत्ति हन्तारम्' इत्यादि श्लोकसे लेकर 'कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्' तकके ग्रन्थसे आपने विद्वान्के लिये सभी प्रकारके कर्मोंका निराकरण किया है । 'मैं अकर्ता अभोक्ता और शुद्धस्वरूप हूँ और युद्ध करके उसका फल भोगूँगा' इस प्रकारका विचार तो

इति च ज्ञानं सम्भवति विरोधात्। ज्ञानकर्मणोः समुच्चयासम्भवात्प्रकाशतमसोरिव। अयं चार्जुनाभिप्रायो ज्यायसी चेदित्यत्र व्यक्तो भविष्यति। तस्मादेकमेव मां प्रति ज्ञानस्य कर्मणश्चोपदेशो नोपपद्यत इति चेत्, न, विद्वदविद्वदवस्थाभेदेन ज्ञानकर्मोपदेशोपपत्तेरित्याह भगवान्—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

(१) एषा न त्वेवाहमित्याद्येकविंशतिश्लोकैस्ते तुभ्यमभिहिता सांख्ये सम्यक्ख्यायते सर्वोपाधिशून्यतया प्रतिपाद्यते परमात्मतत्त्वमनयेति संख्योपनिषत्तयैव तात्पर्यपरिसमाप्त्या प्रतिपाद्यते यः स सांख्य औपनिषदः पुरुष इत्यर्थः। तस्मिन्बुद्धिस्तन्मात्रविषयं ज्ञानं सर्वानर्थनिवृत्तिकारणं त्वां प्रति मयोक्तं नैतादृशज्ञानवतः क्वचिदपि कर्मोच्यते, तस्य कार्यं न विद्यत इति वक्ष्यमाणत्वात्।

(२) यदि पुनरेवं मयोक्तेऽपि तवैषा बुद्धिर्नोदेति चित्तदोषात्, तदा तदपनयेनाऽऽत्मतत्त्वसाक्षात्काराय कर्मयोग एव त्वयाऽनुष्ठेयः। तस्मिन्योगे कर्मयोगे तु करणीयामिमां 'सुखदुःखे समे कृत्वा' इत्यत्रोक्तां फलाभिसन्धित्यागलक्षणां बुद्धिं विस्तरेण मया वक्ष्यमाणां शृणु। तुशब्दः पूर्वबुद्धेर्योगविषयत्वव्यतिरेकसूचनार्थः। तथा च शुद्धान्तःकरणं प्रति ज्ञानोपदेशोऽशुद्धान्तःकरणं प्रति कर्मोपदेश इति कुतः समुच्चयशङ्कया विरोधावकाश इत्यभिप्रायः।

परस्पर विरुद्ध होनेके कारण ज्ञात हो नहीं सकता, क्यों कि प्रकाश और अन्धकारके समान ज्ञान और कर्मका समुच्चय होना असम्भव है।' अर्जुनका यह अभिप्राय 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते' (३।१) इस श्लोकमें प्रकट होगा। अतः मुझ एकको ही ज्ञान और कर्म दोनोंका उपदेश करना उचित नहीं है।' ऐसी अर्जुनकी आशंका समझकर भगवान् यह बतलाते हैं कि एक ही व्यक्तिकी ज्ञान और अज्ञान की अवस्थाओंके भेद से उसे ज्ञान और कर्मका उपदेश करना उपपन्न हो सकता है—

[श्लोकार्थः—अर्जुन ! यह तो मैंने तुम्हें सांख्यसम्बन्धी ज्ञान सुनाया, अब यह कर्मयोगसम्बन्धी विचार सुनो, जिस विचारसे युक्त होकर तुम कर्मबन्धनसे छूट जाओगे ॥३९॥

(१) यह 'नत्वेवाहम्' इत्यादि इक्कीस श्लोकोंसे मैंने तुम्हें सांख्यसम्बन्धी बुद्धि कही है—जिसके द्वारा सम्यक् ख्यायते अर्थात् सर्वोपाधिशून्यरूपसे परमात्मतत्त्वका प्रतिपादन किया जाता है उस उपनिषत्समूहका नाम है 'संख्या' उसीके द्वारा जिसका अपने तात्पर्यकी परिसमाप्तिपूर्वक निरूपण किया गया है उसे 'सांख्य' कहते हैं। अर्थात् वह औपनिषदपुरुष है। उसमें बुद्धि अर्थात् केवल उसीसे सम्बन्ध रखनेवाला जो सब प्रकारके अनर्थोंकी निवृत्तिका हेतुभूत ज्ञान है वह मैंने तुम्हें सुनाया। ऐसे ज्ञानसे सम्पन्न पुरुषको कभी कर्मका उपदेश नहीं किया जाता, क्यों कि 'उसके लिए कोई कर्त्तव्य नहीं रहता' यह बात आगे (३।१७) में कही जायगी।

(२) किन्तु यदि इस प्रकार मेरे कहनेपर भी चित्तदोषके कारण तुम्हें वह ज्ञान उदित नहीं होता तो उस दोषकी निवृत्ति करके आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करनेके लिये तुम्हें कर्मयोगका ही अनुष्ठान करना चाहिये। उस योग अर्थात् कर्मयोगके विषयमें 'सुख दुःखे समे कृत्वा' इस श्लोकमें कही हुई फलाशाकी त्यागरूपा बुद्धिको अब आगे मेरेद्वारा विस्तारपूर्वक कहे जानेपर सुनो। 'तु' शब्द पूर्व बुद्धिका योगके सम्बन्धसे व्यतिरेक सूचित करनेके लिये है। इस प्रकार इसका तात्पर्य यह है कि शुद्ध अन्तःकरण-

(१) योगविषयां बुद्धिं फलकथनेन स्तौति—यया व्यवसायात्मिकया बुद्ध्या कर्मसु युक्तस्त्वं कर्मनिमित्तं बन्धमाशयाशुद्धिलक्षणं ज्ञानप्रतिबन्धं प्रकर्षेण पुनः प्रतिबन्धानुत्पत्तिरूपेण हास्यसि त्यक्ष्यसि। अयं भावः—कर्मनिमित्तो ज्ञानप्रतिबन्धः कर्मणैव धर्माख्येनापनेतुं शक्यते 'धर्मेण पापमपनुदति' (महाना १३।६) इति श्रुतेः। श्रवणादिलक्षणो विचारस्तु कर्मात्मकप्रतिबन्धरहितस्यासम्भावनादिप्रतिबन्धं दृष्टद्वारेणापनयतीति न कर्मबन्धनिराकरणायोपदेष्टुं शक्यते। अतोऽत्यन्तमलिनान्तःकरणत्वाद्बहिरङ्गसाधनं कर्मैव त्वयाऽनुष्ठेयं, नाधुना श्रवणादियोग्यताऽपि तव जाता, दूरे तु ज्ञानयोग्यतेति। तथा च वक्ष्यति—'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इति। एतेन सांख्यबुद्धेरन्तरङ्गसाधनं श्रवणादि विहाय बहिरङ्गसाधनं कर्मैव भगवता किमित्यर्जुनायोपदिश्यत इति निरस्तम्। कर्मबन्धं संसारमीश्वरप्रसादनिमित्तज्ञानप्राप्त्या प्रहास्यसीति प्राचां व्याख्याने त्वध्याहारदोषः कर्मपदवैयर्थ्यं च परिहर्तव्यम् ॥ ३९ ॥

(२) ननु 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृह० ४।४।२२) इति श्रुत्या विविदिषां ज्ञानं चोद्दिश्य संयोगपृथक्त्वन्यायेन सर्वकर्मणां विनियो-

---

वाले पुरुषको ज्ञानका उपदेश किया जाता है तथा अशुद्ध अन्तःकरणवालेको कर्मका। ऐसी स्थितिमें इन दोनोंके समुच्चयकी शंकासे विरोधका अवकाश कहाँ है ?

(१) अब योगविषयिणी बुद्धिकी, उसका फल बतलाकर, स्तुति करते हैं—जिस व्यवसायात्मिका बुद्धिके द्वारा तुम कर्मोंमें लगकर अन्तःकरण की अशुद्धिरूप कर्मजनित बन्धनको, जो ज्ञानका प्रतिबन्धक है, प्रकर्षसे अर्थात् पुनः प्रतिबन्धकी उत्पत्ति न हो—इस प्रकार त्याग दोगे। भाव यह है कि कर्मसे प्राप्त हुआ ज्ञानका प्रतिबन्धक धर्मरूप कर्मके द्वारा ही दूर किया जा सकता है; जैसा कि 'धर्मसे पापको दूर करता है' इस श्रुतिने भी कहा है। श्रवणादिरूप जो विचार है वह तो कर्ममय प्रतिबन्धसे रहित पुरुषके असम्भावना आदि प्रतिबन्धों को दृष्टरूपसे ही दूर करता है, इसलिये कर्मबन्धनकी निवृत्तिके लिये उसका उपदेश नहीं किया जा सकता। अतः तात्पर्य यह है कि अत्यन्त मलिन अन्तःकरणवाले होनेके कारण तुम्हें कर्मरूप बहिरंग साधनाका ही अनुष्ठान करना चाहिये। अभी तो तुम्हें श्रवणादिकी योग्यता भी प्राप्त नहीं हुई है, ज्ञानकी योग्यता तो दूर रही। ऐसा ही 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (२।४७) श्लोकसे भी कहेंगे। इससे इस शंकाका निराकरण हो जाता है कि भगवान्ने अर्जुनको सांख्ययोगके अन्तरंग साधन श्रवणादिको छोड़कर बहिरंग साधन कर्मका ही उपदेश क्यों किया ? अतः 'ईश्वर प्रसाद जनित ज्ञानप्राप्तिके द्वारा कर्मबन्ध-संसारसे सर्वथा मुक्त हो जायगा' इस प्राचीन आचार्यों (श्रीशंकराचार्यजी) की व्याख्यामें अध्याहार दोष और कर्मपदकी व्यर्थताका परिहार कर लेना चाहिये ॥ ३९ ॥

(२) 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन'[1] इस श्रुतिने जिज्ञासा और ज्ञानके उद्देश्यसे संयोग पृथक्त्वन्यायसे[2] सभी कर्मोंका

---

१. उस इस ब्रह्मको ब्राह्मण वेदकी व्याख्या, यज्ञ, पान, तप और उपवासके द्वारा जानना चाहते हैं।

२. महर्षि जैमिनि का सूत्र है—"एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्" अर्थात् एक ही वस्तु में उभयार्थत्व (दो प्रयोजनों की साधनता) का बोधक संयोग पृथक्त्व होता है। यहाँ 'संयोग' शब्द का अर्थ 'वाक्य' है। दो पृथक् वाक्य एक वस्तु में उभयार्थत्व सिद्ध करते हैं। जैसे 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्'—इस वाक्य से दधि में पुरुषार्थत्व और 'दध्ना जुहोति'—इस दूसरे वाक्य से उसी दधि में

गात्तत्र चान्तःकरणशुद्धेर्द्वारस्वान्मां प्रति कर्मानुष्ठानं विधीयते । तत्र 'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते' (छा० ८।१।६) इति श्रुतिबोधितस्य फलनाशस्य सम्भवाज्ज्ञानं विविदिषां चोद्दिश्य क्रियमाणस्य यज्ञादेः काम्यत्वात्सर्वाङ्गोपसंहारेणानुष्ठेयस्य यत्किंचिदङ्गासम्पत्तावपि वैगुण्यापत्तेर्यज्ञेनेत्यादिवाक्यविहितानां च सर्वेषां कर्मणामेकेन पुरुषायुषपर्यवसानेऽपि कर्तुमशक्यत्वात्कुतः कर्मबन्धं प्रहास्यसीतिफलं प्रत्याशेत्यत आह भगवान्—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

(१) अभिक्रम्यते कर्मणा प्रारभ्यते यत्फलं सोऽभिक्रमस्तस्य नाशस्तद्यथेहेत्यादिना प्रतिपादित इह निष्कामकर्मयोगे नास्ति, एतत्फलस्य शुद्धेः पापक्षयरूपत्वेन लोकशब्दवाच्यभोग्यत्वाभावेन च क्षयासम्भवात् । वेदनपर्यन्तायाः एव विविदिषायाः कर्मफलत्वाद्वेदनस्य चाव्यवधानेनाज्ञाननिवृत्तिफलजनकस्य फलमजनयित्वा नाशासम्भवादिह फलनाशो नास्तीति साधूक्तम् । तदुक्तम्—

विनियोग किया है, तथा ज्ञान प्राप्तिमें अन्तःकरण शुद्धि द्वार है, इसीसे मेरे लिये कर्मानुष्ठानका विधान किया जा रहा है । किन्तु 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते (जिस प्रकार यहाँ कर्मोपार्जित लोक (भोग) क्षीण हो जाता है वैसे ही परलोकमें पुण्यकर्मोंसे प्राप्त हुए स्वर्गादि लोकोंका क्षय हो जाता है)—इस श्रुतिसे बतलाये हुए फलोंका नाश होना भी सम्भव है ही । ज्ञान और जिज्ञासाके उद्देश्यसे किये जानेवाले यज्ञादि काम्य होनेके कारण उनका सभी अंगोंको लेकर अनुष्ठान करना आवश्यक है । उनका कोई भी अंग रह गया तो कर्ममें वैगुण्यदोष आ सकता है । किन्तु 'यज्ञेन' आदि वाक्यसे जिन कर्मोंका विधान किया गया है उन सबका तो मनुष्यकी पूरी आयुमें भी अनुष्ठान होना असम्भव है । ऐसी स्थितिमें 'कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जायगा' इस फलकी आशा कैसे की जा सकती है ?—ऐसी अर्जुनकी आशंका समझकर भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थः—इस निष्काम कर्मयोगमें फलका नाश नहीं होता और कोई प्रत्यवाय भी नहीं होता । इस धर्मका थोड़ासा अंश भी संसाररूप महान् भयसे मनुष्यकी रक्षा कर लेता है ॥ ४० ॥]

(१) जो फल अभिक्रमित हो अर्थात् कर्म द्वारा प्राप्त हो उसे 'अभिक्रम' कहते हैं । उसका यहाँ—'इस निष्काम कर्मयोगमें 'तद्यथेह' इत्यादि श्रुतिसे प्रतिपादित नाश नहीं होता । इसका फल जो अन्तःकरणकी शुद्धि है वह पापक्षयरूपा है, इसलिये उसमें लोकशब्दवाच्य भोग न रहनेके कारण उसका क्षय होना सम्भव नहीं है । यहाँ तो ज्ञानमें समाप्त होनेवाली जिज्ञासा ही कर्मका फल है, तथा ज्ञान बिना किसी व्यवधानके अज्ञाननिवृत्तिरूप फलकी उत्पत्ति करनेवाला होता है; अतः उसका अपने फलको उत्पन्न किये बिना नाश होना सम्भव नहीं है । इसलिये भगवान्‌ने यह ठीक ही कहा है कि यहाँ फलका नाश नहीं होता ऐसा ही कहा भी है—'तद्यथेह' इत्यादि श्रुतिने जो निन्दा की है उसका सम्बन्ध फलसे है, कर्मसे नहीं । फलेच्छाको त्यागकर किया हुआ कर्म तो अन्तःकरणकी शुद्धि करनेवाला होता है ।'

कर्त्वर्थत्व सिद्ध होता है; वैसे ही 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' आदि वाक्यों से दर्शपूर्णमास आदि यज्ञों में स्वर्गादि की साधनता और 'यज्ञेन दानेन'—इस वाक्य से उन्हीं यज्ञों में अन्तःकरण-शुद्धि-साधनता जानी जाती है ।

'तद्यथेहेति या निन्दा सा फले न तु कर्मणि । फलेच्छां तु परित्यज्य कृतं कर्म विशुद्धिकृत्' इति ॥

(१) तथा प्रत्यवायोऽङ्गवैगुण्यनिबन्धनं वैगुण्यमिह न विद्यते तमितिवाक्येन नित्यानामेवोपात्तदुरितक्षयद्वारेण विविदिषायां विनियोगात् । तत्र च सर्वाङ्गोपसंहारनियमाभावात् । काम्यानामपि संयोगपृथक्त्वन्यायेन विनियोग इति पक्षेऽपि फलाभिसन्धिरहितत्वेन तेषां नित्यतुल्यत्वात् । नहि काम्यनित्याग्निहोत्रयोः स्वतः कश्चिद्विशेषोऽस्ति । फलाभिसंधितदभावाभ्यामेव तु काम्यत्वनित्यत्वव्यपदेशः । इदं च पक्षद्वयमुक्तं वार्तिके—

'वेदानुवचनादीनामैकात्म्यज्ञानजन्मने । तमेतमितिवाक्येन नित्यानां वक्ष्यते विधिः ॥
यद्वा विविदिषार्थत्वं काम्यानामपि कर्मणाम् । तमेतमिति वाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः ॥' इति ॥

तथा च फलाभिसन्धिना क्रियमाण एव कर्मणि सर्वाङ्गोपसंहारनियमात्तद्विलक्षणे शुद्ध्यर्थे कर्मणि प्रतिनिध्यादिना समाप्तिसम्भवान्नाङ्गवैगुण्यनिमित्तः प्रत्यवायोऽस्तीत्यर्थः । तथाऽस्य शुद्ध्यर्थस्य धर्मस्य तमेतमित्यादिवाक्यविहितस्य मध्ये स्वल्पमपि संख्ययेतिकर्तव्यतया वा यथाशक्तिभगवदाराधनार्थं किञ्चिदप्यनुष्ठितं सन्महतः संसारभयान्त्रायते भगवत्प्रसादसम्पादनेनानुष्ठातारं रक्षति ।

'सर्वपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् । भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावनः' ॥

इत्यादिस्मृतेः, तमेतमिति वाक्ये समुच्चयविधायकाभावाच्चाशुद्धितारतम्यादेवानुष्ठानतारतम्योपपत्तेर्युक्तमुक्तं कर्मबन्धं प्रहास्यसीति ॥ ४० ॥

---

(१) तथा प्रत्यवाय—अंग वैगुण्यजनित दोष भी यहाँ नहीं होता । 'तमेतम्' इत्यादि जो श्रुतिवाक्य है उसने नित्यकर्मोंका ही प्राप्त हुए पापोंके क्षय द्वारा जिज्ञासामें विनियोग किया है । और नित्यकर्मोंमें सम्पूर्ण अंगोंको सम्मिलित करनेका नियम नहीं है । यदि ऐसा पक्ष माने कि संयोग पृथक्त्व न्यायसे उसने काम्य कर्मोंका भी विनियोग किया है तो भी फलाशासे रहित होनेके कारण वे नित्यकर्मोंके समान ही हो जाते हैं । काम्य और नित्य अग्निहोत्रोंमें स्वतः कोई भेद नहीं होता । फलाशा और फलाशाके अभावसे ही उसे काम्य और नित्य कहा जाता है । इन दोनों पक्षोंका वार्तिकमें इस प्रकार निरूपण किया है—'तमेतम्' इत्यादि वाक्य द्वारा ऐक्यात्मज्ञानकी उत्पत्तिके लिये वेदानुवचन आदि नित्यकर्मोंकी विधि की गयी है । अथवा संयोग पृथक्त्व न्यायसे 'तमेतम्' इत्यादि वाक्यने जिज्ञासाके लिये काम्यकर्मोंका भी विधान किया है ।' इस प्रकार केवल फलाशापूर्वक किये जानेवाले कर्मोंमें ही समस्त अंगोंको सम्मिलित करनेका नियम होनेसे तथा उनसे भिन्न शुद्धिके लिये किये जानेवाले कर्मोंमें प्रतिनिधि आदिके द्वारा भी अंगों की पूर्ति हो सकनेसे इसमें अंगोंमें कमी रहनेसे होनेवाला प्रत्यवाय नहीं होता—ऐसा इसका तात्पर्य है । तथा 'तमेतम्' इत्यादि वाक्यसे विहित इस अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये किये जानेवाले धर्मका यदि संख्या अथवा क्रियाकी दृष्टिसे थोड़ा-सा भी भगवान्‌की आराधनाके लिये अपनी शक्तिके अनुसार कुछ भी अनुष्ठान किया जाय तो वह भगवत्कृपाका सम्पादन करनेसे अनुष्ठान कर्ताकी महान् संसारभयसे रक्षा करता है । 'सम्पूर्ण पापोंमें अत्यन्त आसक्त होनेपर भी एक क्षण भी अच्युतका ध्यान करनेसे मनुष्य बड़ा भारी तपस्वी और पंक्तियोंको पवित्र करनेवालोंको भी पवित्र करनेवाला हो जाता है' इत्यादि स्मृति भी यही कहती है । 'तमेतम्' इत्यादि वाक्यमें ज्ञान और कर्मके समुच्चयका विधान करनेवाला कोई शब्द न होनेसे अशुद्धिकी न्यूनाधिकताके अनुसार ही अनुष्ठानकी न्यूनाधिकता भी सिद्ध होती है । इसलिये 'तुम कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाओगे' ऐसा हमारा कथन ठीक ही है ॥ ४० ॥

(१) एतदुपपादनाय तमेतमितिवाक्यविहितानामेकार्थत्वमाह—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

(२) हे कुरुनन्दनेह श्रेयोमार्गे तमेतमितिवाक्ये वा व्यवसायात्मिकाऽऽत्मतत्त्वनिश्चयात्मिका बुद्धिरेकैव चतुर्णामाश्रमाणां साध्या विवक्षिता 'वेदानुवचनेन' इत्यादौ तृतीयाविभक्त्या प्रत्येकं निरपेक्षसाधनत्वबोधनात् । भिन्नार्थत्वे हि समुच्चयः स्यात् । एकार्थत्वेऽपि दर्शपूर्णमासाभ्यामिति-वद्द्वन्द्वसमासेन यदग्नये च प्रजापतये चेतिवच्चशब्देन न तथाऽत्र किञ्चित्प्रमाणमस्तीत्यर्थः । सांख्य-विषया योगविषया च बुद्धिरेकफलत्वादेका व्यवसायात्मिका सर्वविपरीतबुद्धीनां बाधिका निर्दोषवेद-वाक्यसमुत्थत्वादितरास्त्वव्यवसायिनां बुद्धयो बाध्या इत्यर्थ इति भाष्यकृतः । अन्ये तु परमेश्वरा-राधनेनैव संसारं तरिष्यामीति निश्चयात्मिकैकनिष्ठैव बुद्धिरिह कर्मयोगे भवतीत्यर्थमाहुः । सर्वथाऽपि तु ज्ञानकाण्डानुसारेण 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' इत्युपपन्नम् । कर्मकाण्डे पुनर्बहु-शाखा अनेकभेदाः कामानामनेकभेदत्वात्, अनन्ताश्च कर्मफलगुणफलादिप्रकारोपशाखाभेदात्, बुद्धयो भवन्त्यव्यवसायिनां तत्तत्फलकामानाम् । बुद्धीनामानन्त्यप्रसिद्धिद्योतनार्थो हिशब्दः । अतः काम्य-कर्मापेक्षया महद्वैलक्षण्यं शुद्ध्यर्थकर्मणामित्यभिप्रायः ॥ ४१ ॥

(१) इस बातको सिद्ध करनेके लिये 'तमेतम्' इत्यादि वाक्यमें विदित वेदानुवचन आदि की एक प्रयोजनता बतलाते हैं—

[श्लोकार्थः—कुरुनन्दन ! इस मोक्षमार्गमें अल्पतत्त्वका निश्चय करनेवाली बुद्धि एक ही होती है; किन्तु जो कर्मफलकी इच्छावाले होते हैं उनकी बुद्धियाँ तो अनेकों शाखाओंवाली और उत्पन्न होती हैं ॥ ४१ ॥]

(२) हे कुरुनन्दन ! इस मोक्षमार्गमें अथवा 'तमेतम्' इत्यादि वाक्यमें व्यवसायात्मिका—आत्मतत्त्वका निश्चय करनेवाली बुद्धि तो एक ही चारों आश्रमोंके लिये साध्य बतानी अभीष्ट है, क्योंकि 'वेदानुवचनेन' इत्यादिमें तृतीया विभक्ति होनेके कारण उनमेंसे प्रत्येक की स्वतन्त्र साधनता बतायी गयी है । यदि इनका प्रयोजन अलग-अलग होता तो समुच्चय किया जाता । यदि सबका मिलकर एक प्रयोजन होता तो 'दर्शपूर्ण-मासाभ्याम्'[1] की तरह द्वन्द्वसमाससे अथवा 'यदग्नये च प्रजापतये च'[2] इत्यादिके समान 'च' शब्दसे उल्लेख किया जाता, किन्तु यहाँ ऐसा कोई प्रमाण नहीं है ऐसा इसका तात्पर्य है । बुद्धि तो एक ही फलवाली होनेके कारण एक और व्यवसायात्मिका अर्थात् निर्दोष वेदवाक्यसे उत्पन्न होनेके कारण समस्त विपरीत बुद्धियोंका बाध करनेवाली होती है । अभिप्राय यह है कि अव्यवसायियों की जो अन्य बुद्धियाँ हैं वे बाधित होनेवाली हैं—ऐसा भगवान् भाष्यकार का मत है । अन्य टीकाकारोंने तो इसका ऐसा अर्थ किया है कि 'भगवान् की आराधनासे ही मैं संसार को पार कर लूंगा ऐसे निश्चयवाली एकनिष्ठ बुद्धि ही कर्मयोगमें हुआ करती है ।' किन्तु 'इस धर्मका थोड़ा-सा भी अंश महान् भयसे रक्षा कर लेता है' इस वाक्यकी उपपत्ति तो सब प्रकार ज्ञानकाण्डके अनुसार ही होती है । कर्मकाण्डमें तो कामनाओंके अनेकों भेद होनेके कारण बहुशाखा—अनेकों भेदोंवाली तथा कर्मफल और गुणफल आदि अनेकों उपशाखा भेदोंसे अगणित प्रकारकी बुद्धियाँ

१. दर्श और पूर्णमाससे पूजन करे । २. जो अग्निके लिये और प्रजापतिके लिये ।

(१) अव्यवसायिनामपि व्यवसायात्मिका बुद्धिः कुतो न भवति प्रमाणस्य तुल्यत्वादित्या-शङ्क्य प्रतिबन्धकसद्भावान्न भवतीत्याह त्रिभिः—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

(२) यामिमां वाचं प्रवदन्ति तया वाचाऽपहृतचेतसामविपश्चितां व्यवसायात्मिका बुद्धिर्न भवतीत्यन्वयः । इमामध्ययनविध्युपात्तत्वेन प्रसिद्धां पुष्पितां पुष्पितपलाशवदापातरमणीयां साध्य-साधनसम्बन्धप्रतिभानाश्चिरतिशयफलाभावाच्च । कुतो निरतिशयफलत्वाभावस्तदाह जन्मकर्मफलप्रदां जन्म चापूर्वशरीरेन्द्रियादिसम्बन्धलक्षणं तदधीनं च कर्म तत्तद्वर्णाश्रमाभिमाननिमित्तं तदधीनं च फलं पुत्रपशुस्वर्गादिलक्षणं विनश्वरं तानि प्रकर्षेण घटीयन्त्रवदविच्छेदेन ददातीति तथा ताम् ।

होती हैं । उन फलोंकी कामनावाले अव्यवसायियों की बुद्धियोंकी अनन्तता प्रसिद्ध है—यह दिखानेके लिये 'हि' शब्द है । अतः अभिप्राय यह है कि काम्य कर्मोंकी अपेक्षा चित्तशुद्धिके लिये किये जानेवाले कर्मों में बहुत विलक्षणता रहती है ॥ ४१ ॥

(१) 'प्रमाण तो दोनोंके लिये समान ही है, फिर अव्यवसायियोंको भी व्यवसायात्मिका बुद्धि क्यों नहीं होती' ऐसी आशंका करके भगवान् तीन श्लोकोंसे यह बताते हैं कि उन्हें प्रतिबन्ध रहनेके कारण यह बुद्धि नहीं होती—

[श्लोकार्थः—अर्जुन ! वेदोंके अर्थवादमें आसक्त, कर्मकाण्डसे भिन्न कोई ज्ञानकाण्ड नहीं है—ऐसा कहनेवाले, विषयवासनाओंसे व्याप्त और स्वर्गको ही सबसे श्रेष्ठ समझने वाले अज्ञानीलोग जो जन्म कर्म और फलकी ही प्राप्ति करानेवाली, भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये अग्निहोत्रादि विशेष कर्मोंके विस्तारसे युक्त इस पुष्पित पलाशके समान आपातरमणीय वाणीको बोलते रहते हैं, उससे उनका चित्त आवरणयुक्त हो जाता है तथा भोग और ऐश्वर्यमें ही उनकी आसक्ति बढ़ जाती है । इसलिये उन्हें आत्मतत्त्वमें निश्चयवाली बुद्धि पैदा नहीं होती ॥ ४२–४४ ॥]

(२) जो यह वाणी बोलते हैं, उस वाणीसे ही जिनका चित्त आवरणयुक्त हो गया है उन अज्ञानियोंकी व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती—इसप्रकार इन श्लोकोंका अन्वय है । इस अर्थात् अध्ययनविधिसे ग्रहण की हुई होनेके कारण प्रसिद्ध पुष्पित—पुष्पित पलाशके समान आपातरमणीय, क्योंकि इसमें साध्यसाधनके सम्बन्धका भान तो होता है किन्तु निरतिशय फलका अभाव ही रहता है । निरतिशय फलका अभाव क्यों रहता है ? सो बताते हैं—'जन्मकर्मफलप्रदाम् ।' नवीन देह और इन्द्रिय आदिसे सम्बन्ध होना रूप जन्म, उसके आश्रित उन-उन वर्णाश्रमादिके अभिमानवश होनेवाला कर्म और उसके अधीन पुत्र पशु एवं स्वर्गादिरूप नाशवान् फल—इन जन्म कर्म और फलोंको जो प्रकर्षसे अर्थात् घटीयन्त्रके समान निरन्तर देती रहती है वह वाणी ।

(१) कुत एवमत आह—भोगैश्वर्यगतिं प्रति क्रियाविशेषबहुलाममृतपानोर्वशीविहार-पारिजातपरिमलादिनिबन्धनो यो भोगस्तत्कारणं च यदैश्वर्यं देवादिस्वामित्वं तयोर्गतिं प्राप्तिं प्रति साधनभूता ये क्रियाविशेषा अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादयस्तैर्बहुलां विस्तृतामतिबाहुल्येन भोगैश्वर्यसाधनक्रियाकलापप्रतिपादिकामिति यावत्। कर्मकाण्डस्य हि ज्ञानकाण्डापेक्षया सर्वत्रातिविस्तृतत्वं प्रसिद्धम्। एतादृशीं कर्मकाण्डलक्षणां वाचं प्रवदन्ति प्रकृष्टां परमार्थस्वर्गादिफलामभ्युपगच्छन्ति।

(२) के येऽविपश्चितो विचारजन्यतात्पर्यपरिज्ञानशून्याः। अत एव वेदवादरता वेदे ये सन्ति वादा अर्थवादाः 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' इत्येवमादयस्तेष्वेव रता वेदार्थसत्यत्वेनैवमेवैतदिति मिथ्याविश्वासेन सन्तुष्टा हे पार्थ। अत एव नान्यदस्तीतिवादिनः कर्मकाण्डापेक्षया नास्त्यन्यज्ज्ञानकाण्ड सर्वस्यापि वेदस्य कार्यपरत्वात्, कर्मफलापेक्षया च नास्त्यन्यन्निरतिशयं ज्ञानफलमितिवदनशीला महता प्रबन्धेन ज्ञानकाण्डविरुद्धार्थभाषिण इत्यर्थः। कुतो मोक्षद्वेषिणस्ते। यतः कामात्मानः काम्यमानविषयशताकुलचित्तत्वेन काममयाः। एवं सति मोक्षमपि कुतो न कामयन्ते? यतः स्वर्गपराः स्वर्गं एवोर्वश्याद्यपेतत्वेन पर उत्कृष्टो येषां ते तथा। स्वर्गातिरिक्तः पुरुषार्थो नास्तीति भ्राम्यन्तो विवेकवैराग्याभावान्मोक्षकथामपि सोढुमक्षमा इति यावत्।

---

(१) वह वाणी ऐसी क्यों है, सो बताते हैं—'भोग और ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये जो क्रियाविशेषबहुला है।' अर्थात् अमृतपान, उर्वशीविहार और पारिजात पुष्पोंके गन्धसे होनेवाला जो भोग है तथा उसका हेतुभूत जो देवतादिका आधिपत्य है, उनकी गति अर्थात् प्राप्तिके लिये साधनभूत जो अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास और ज्योतिष्टोम आदि विशेष कर्म हैं उनसे जो बहुल-विस्तृत है। तात्पर्य यह कि जो बहुत अधिकतासे भोग और ऐश्वर्यके साधनभूत क्रियाकलापका प्रतिपादन करनेवाली है, क्योंकि कर्मकाण्डका ज्ञानकाण्डकी अपेक्षा सर्वत्र ही अधिक विस्तृत होना प्रसिद्ध है। ऐसी कर्मकाण्डरूपा वाणीको बोलते हैं, अर्थात् उसे श्रेष्ठ और परमार्थस्वरूप स्वर्गादि फलवाली मानते हैं।

(२) कौन मानते हैं?—जो अविपश्चित अर्थात् विचारजनित तात्पर्यज्ञानसे शून्य हैं। इसलिये जो वेदवादरत हैं। वेदमें जो 'चातुर्मास्य यज्ञ करनेवालोंको अक्षय पुण्य मिलता है' इत्यादि प्रकारके वाद—अर्थवाद हैं उनमें जो रत हैं अर्थात 'वेदार्थकी सत्यताके कारण यह बात ऐसी ही है' इस प्रकारके मिथ्याविश्वाससे सन्तुष्ट हैं। हे पार्थ! इसलिये जो 'अन्य नहीं है' ऐसा कहनेवाले हैं—'कर्मकाण्डसे भिन्न कोई दूसरा ज्ञानकाण्ड नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण वेदका तात्पर्य कर्ममें है, इसलिये कर्मफलकी अपेक्षा ज्ञानका कोई निरतिशय फल नहीं है'—ऐसा कहनेका जिनका स्वभाव है; अर्थात् जो बड़े उत्साहसे ज्ञानकाण्डके विरुद्ध बोलनेवाले हैं। वे मोक्षसे द्वेष करनेवाले क्यों होते हैं?—क्योंकि वे कामात्मा—कामना किये जानेवाले सैकड़ों विषयोंसे व्याकुल-चित्त रहनेके कारण काममय होते हैं। यदि ऐसी बात है तो वे मोक्षकी भी कामना क्यों नहीं करते?—क्योंकि वे स्वर्गपर होते हैं—उनकी दृष्टिमें उर्वशी आदिसे युक्त होनेके कारण स्वर्ग ही सबसे उत्कृष्ट होता है; तथा ऐसे भ्रममें रहनेके कारण कि स्वर्गके सिवा कोई और पुरुषार्थ नहीं है विवेक और वैराग्यसे हीन होनेके कारण वे मोक्षकी तो बात सहनेमें भी समर्थ नहीं होते।

(१) तेषां च पूर्वोक्तभोगैश्वर्ययोः प्रसक्तानां क्षयित्वादिदोषादर्शनेन निविष्टान्तःकरणानां तया क्रियाविशेषबहुलया वाचाऽपहृतमाच्छादितं चेतो विवेकज्ञानं येषां तथाभूतानामर्थवादाः स्तुत्यर्थास्तात्पर्यविषये प्रमाणान्तराबाधिते वेदस्य प्रामाण्यमिति सुप्रसिद्धमपि ज्ञातुमशक्तानां समाधावन्तःकरणे व्यवसायात्मिका बुद्धिर्न विधीयते न भवतीत्यर्थः। समाधिविषया व्यवसायात्मिका बुद्धिस्तेषां न भवतीति वा अधिकरणे विषये वा सप्तम्यास्तुल्यत्वात्। विधीयत इति कर्मकर्तरि लकारः। समाधीयतेऽस्मिन्सर्वमिति व्युत्पत्त्या समाधिरन्तःकरणं वा परमात्मा वेति नाप्रसिद्धार्थकल्पनम्। अहं ब्रह्मेत्यवस्थानं समाधिस्तन्निमित्तं व्यवसायात्मिका बुद्धिर्नोत्पद्यत इति व्याख्याने तु रूढिरेवाऽऽदृता।

(२) अयं भावः—यद्यपि काम्यान्यग्निहोत्रादीनि शुद्ध्यर्थेभ्यो न विशिष्यन्ते तथाऽपि फलाभिसन्धिदोषाच्चाऽऽशयशुद्धिं सम्पादयन्ति। भोगानुगुणा तु शुद्धिर्न ज्ञानोपयोगिनी। एतदेव दर्शयितुं भोगैश्वर्यप्रसक्तानामिति पुनरुपात्तम्। फलाभिसन्धिमन्तरेण तु कृतानि ज्ञानोपयोगिनीं शुद्धिमादधतीति सिद्धं विपश्चिद्विपश्चितोः फलवैलक्षण्यम्। विस्तरेण चैतदग्रे प्रतिपादयिष्यते ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

(३) ननु सकामानां मा भूदाशयदोषाद्व्यवसायात्मिका बुद्धिः, निष्कामानां तु व्यवसायात्मिकबुद्ध्या कर्म कुर्वतां कर्मस्वाभाव्यात्स्वर्गादिफलप्राप्तौ ज्ञानप्रतिबन्धः समान इत्याशङ्क्याऽऽह—

---

(१) पूर्वोक्त भोग और ऐश्वर्यमें जो आसक्त हैं—उनके क्षयित्वादि दोष न देखने के कारण जिनका अन्तःकरण उनमें फँसा हुआ है तथा उस क्रियाविशेषबहुल वाणीसे जिनका चित्त—विवेकज्ञान अपहृत—आच्छादित है ऐसे उन पुरुषोंके समाधि—अन्तःकरणमें, जोकि 'अर्थवाद स्तुतिके लिये होते हैं, जो किसी अन्य प्रमाणसे बाधित नहीं होता उस तात्पर्य विषयमें वेदकी प्रामाणिकता है' ऐसी सुप्रसिद्ध बातको जाननेमें भी असमर्थ हैं, व्यवसायात्मिका बुद्धि 'न विधीयते'—नहीं होती—ऐसा इसका तात्पर्य है। अथवा यों समझो कि उन्हें समाधिविषयिणी व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती, क्योंकि अधिकरण या विषय दोनों ही में समानरूपसे सप्तमी हो सकती है। 'विधीयत' इस क्रियापदमें कर्मवाच्यमें लट्लकार है। 'समाधीयते अस्मिन् सर्वम्' (इसमें सबको समाहित किया जाता है) ऐसी व्युत्पत्तिसे 'समाधि' अन्तःकरण या परमात्माका वाचक है, किसी अप्रसिद्ध अर्थकी कल्पना नहीं की गयी। 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी अवस्थितिका नाम समाधि है, वह जिसका कारण है ऐसी व्यवसायात्मिका बुद्धि उत्पन्न नहीं होती—इस प्रकारकी व्याख्यामें तो रूढिको ही आदर दिया गया है।

(२) भाव यह है कि यद्यपि काम्य अग्निहोत्र आदिका चित्तशुद्धिके लिये किये जानेवाले अग्निहोत्रादिसे कोई भेद नहीं है, तथापि फलेच्छारूप दोषके कारण वे अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं करते। जो शुद्धि भोगके अनुकूल होती है वह ज्ञानमें उपयोगिनी नहीं होती। इसी बातको दिखानेके लिये 'भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्' यह पद दूसरी बार ग्रहण किया गया है। जो कर्म फलाशाको छोड़कर किये जाते हैं वे ही ज्ञानोपयोगिनी शुद्धि करते हैं—इसप्रकार विवेकी और अविवेकीको प्राप्त होनेवाले फलोंकी विलक्षणता सिद्ध हो जाती है। इसका विस्तारसे आगे प्रतिपादन किया जायगा ॥ ४२-४४ ॥

(३) 'सकाम पुरुषोंको अन्तःकरणकी अशुद्धिके कारण व्यवसायात्मिका बुद्धि भले ही न हो, किन्तु व्यवसायात्मिका बुद्धिसे कर्म करनेवाले निष्काम पुरुषोंको भी तो कर्मका स्वभाव होनेके कारण स्वर्गादिकी प्राप्ति होनेपर उनके समान ही ज्ञानका प्रतिबन्ध उपस्थित हो जायगा' ऐसी आशंका करके भगवान् कहते हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

(१) त्रयाणां गुणानां कर्म त्रैगुण्यं काममूलः संसारः । स एव प्रकाशत्वेन विषयो येषां तादृशा वेदाः कर्मकाण्डात्मका यो यत्फलकामस्तस्यैव तत्फलं बोधयन्तीत्यर्थः । न हि सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासाविति विनियोगेऽपि सकृदनुष्ठानात्सर्वफलप्राप्तिर्भवति तत्तत्कामनाविरहात् । यत्फलकामनयाऽनुतिष्ठति तदेव फलं तस्मिन्प्रयोग इति स्थितं योगसिद्ध्यधिकरणे ।

(२) यस्मादेवं कामनाविरहे फलविरहस्तस्मात्त्वं निस्त्रैगुण्यो निष्कामो भव हेऽर्जुन । एतेन कर्मस्वाभाव्यात्संसारो निरस्तः । ननु शीतोष्णादिद्वन्द्वप्रतीकाराय वस्त्राद्यपेक्षणात्कुतो निष्कामत्वमत आह—निर्द्वन्द्वः । सर्वत्र भवेति सम्बध्यते । मात्रास्पर्शास्त्विल्युक्तन्यायेन शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुर्भव । असह्यं दुःखं कथं वा सोढव्यमित्यपेक्षायामाह—नित्यसत्त्वस्थो नित्यमच्चलं यत्सत्त्वं धैर्यापरपर्यायं तस्मिंस्तिष्ठतीति तथा । रजस्तमोभ्यामभिभूतसत्त्वो हि शीतोष्णादिपीडया मरिष्यामीति मन्वानो धर्माद्विमुखो भवति । त्वं तु रजस्तमसी अभिभूय सत्त्वमात्रालम्बनो भव ।

[श्लोकार्थः—अर्जुन ! वेद त्रैगुण्य (कर्ममूलक संसार) को विषय करनेवाले हैं; तुम निस्त्रैगुण्य, निर्द्वन्द्व, नित्यसत्त्वस्थ, निर्योगक्षेम और आत्मवान् हो जाओ ॥ ४५ ॥]

(१) तीनों गुणोंका कर्म त्रैगुण्य अर्थात् काममूलक संसार है, वही प्रकाश्यरूपसे जिनका विषय है वे कर्मकाण्डात्मक वेद जिसे जिस फलकी कामना होती है उसीको उस फलका बोध कराते हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है । 'सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ'[1] ऐसा विनियोग होनेपर भी उन्हें एकबार करनेपर समस्त फलोंकी प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि वैसा संकल्प करते समय उन-उन कामनाओंका अभाव रहता है । अतः उस प्रयोगके समय जिस फलकी कामनासे उनका अनुष्ठान करता है वही फल मिलता है—यह बात पूर्वमीमांसाके योगसिद्धि-अधिकरणमें निश्चित की गयी है ।

(२) क्योंकि इसप्रकार कामनाके न होनेपर फल भी नहीं होता इसलिये हे अर्जुन ! तुम निस्त्रैगुण्य—निष्काम हो जाओ । इस कथनसे कर्ममय स्वभाववाला होनेसे संसारका निरास हो जाता है । किन्तु शीतोष्णादि द्वन्द्वोंके प्रतीकारके लिये तो वस्त्रादिकी अपेक्षा है, फिर निष्कामता कैसे रह सकती है ? इसलिये कहते हैं—निर्द्वन्द्व हो जाओ । यहाँ 'भव' (हो जाओ) का सम्बन्ध सबके साथ लगाना चाहिये । 'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय' (२।१४) इत्यादि श्लोकमें कहे हुए न्यायसे शीतोष्णादि द्वन्द्वोंको सहन करनेवाले हो जाओ । दुःख तो असह्य होता है, उसे कैसे सहा जाय ?—ऐसी आशंका होनेपर कहते हैं—नित्यसत्त्वस्थ हो जाओ । नित्य—अविचल सत्त्व, जिसका दूसरा नाम धैर्य है, उसमें जो स्थित रहता है वैसे हो जाओ । रजोगुण और तमोगुणसे जिसका सत्त्व दब गया है वही 'शीतोष्णादिकी पीडासे मर जाऊँगा' ऐसा माननेके कारण धर्मसे विमुख होता है । तुम तो रजोगुण और तमोगुणको दबाकर केवल सत्त्वगुणका आश्रय लेनेवाले हो जाओ ।

1. समस्त कामनाओंकी पूर्तिके लिये दर्श-पूर्णमास इष्टि करे ।

(१) ननु शीतोष्णादिसहनेऽपि क्षुत्पिपासादिप्रतीकारार्थं किञ्चिदनुपात्तमुपादेयमुपात्तं च रक्षणीयमिति तदर्थं यत्ने क्रियमाणे कुतः सत्त्वस्थत्वमित्यत आह—निर्योगक्षेमः, अलब्धलाभो योगः, लब्धपरिरक्षणं क्षेमस्तद्रहितो भव । चित्तविक्षेपकारिपरिग्रहरहितो भवेत्यर्थः । न चैवं चिन्ता कर्तव्या कथमेवं सति जीविष्यामीति । यतः सर्वान्तर्यामी परमेश्वर एव तव योगक्षेमादि निर्वाहयिष्यतीत्याह—आत्मवान्, आत्मा परमात्मा ध्येयत्वेन योगक्षेमादिनिर्वाहकत्वेन च वर्तते यस्य स आत्मवान् । सर्वकामनापरित्यागेन परमेश्वरमाराधयतो मम स एव देहयात्रामात्रमपेक्षितं सम्पादयिष्यतीति निश्चित्य निश्चिन्तो भवेत्यर्थः । आत्मवानप्रमत्तो भवेति वा ॥ ४५ ॥

(२) न चैवं शङ्कनीयं सर्वकामनापरित्यागेन कर्म कुर्वन्नहं तैस्तैः कर्मजनितैरानन्दैर्वञ्चितः स्यामिति । यस्मात्—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

(३) उदपाने क्षुद्रजलाशये, जातावेकवचनं, यावानर्थो यावत्स्नानपानादि प्रयोजनं भवति सर्वतः संप्लुतोदके महति जलाशये तावानर्थो भवत्येव । यथा हि पर्वतनिर्झराः सर्वतः स्रवन्तः क्वचिदुपत्यकायामेकत्र मिलन्ति तत्र प्रत्येकं जायमानमुदकप्रयोजनं समुदिते सुतरां भवति सर्वेषां

(१) किन्तु शीतोष्णादि सहन करनेपर भी भूख-प्यास आदिकी निवृत्तिके लिये कुछ अप्राप्त वस्तुओंको प्राप्त करना और प्राप्त हुई वस्तुओंकी रक्षा करना तो आवश्यक ही है । इसके प्रयत्न करनेपर सत्त्वस्थता कैसे रह सकती है ? इसलिये कहते हैं—निर्योगक्षेम हो जाओ । अप्राप्तको प्राप्त करना 'योग' है और प्राप्तकी रक्षा करना 'क्षेम', इन दोनोंसे रहित हो जाओ । अर्थात् चित्तमें विक्षेप करनेवाले परिग्रहसे रहित हो जाओ । ऐसी चिन्ता नहीं करनी चाहिये कि ऐसा होनेपर मैं कैसे जीवित रहूँगा, क्योंकि सर्वान्तर्यामी परमेश्वर ही तुम्हारे योगक्षेम आदिका निर्वाह कर देंगे । इसीसे कहते हैं—आत्मवान् हो जाओ । आत्मा अर्थात् परमात्मा ही ध्येयरूपसे—योगक्षेमादिके निर्वाहक रूपसे है जिसका, उसे 'आत्मवान्' कहते हैं । तात्पर्य यह है कि समस्त कामनाओंको छोड़कर परमात्माकी आराधना करनेपर वे ही मेरी देहयात्रामात्रके लिये अपेक्षित सामग्री जुटा देंगे—ऐसा निश्चय करके निश्चिन्त हो जाओ । अथवा आत्मवान् यानी प्रमादशून्य हो जाओ ॥ ४५ ॥

(२) इसप्रकारकी शंका भी नहीं करनी चाहिये कि समस्त कामनाओंको त्यागकर कर्म करनेसे मैं उन-उन कर्मजनित आनन्दोंसे वञ्चित रहूँगा, क्योंकि—

[श्लोकार्थः—क्षुद्र जलाशयसे जिस प्रयोजनकी पूर्ति होती है उसकी सब ओरसे इकट्ठे हुए जलवाले बड़े जलाशयसे हो ही जाती है । इसी प्रकार समस्त वेदोक्त कर्मोंसे जो कुछ फल प्राप्त होता है वह ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार करनेवाले जिज्ञासुको मिल ही जाता है ॥ ४६ ॥]

(३) उदपान अर्थात् क्षुद्र जलाशयमें—यह जातिमें एकवचन है—स्नान, पान आदि जितना प्रयोजन होता है सब ओर जलसे भरे हुए विशाल जलाशयमें यह प्रयोजन पूरा हो ही जाता है । जिसप्रकार सब ओर झरते हुए पहाड़ी झरने किसी घाटीमें जाकर एक जगह मिल जाते हैं तो वहाँ एक-एक झरनेसे पूरा होनेवाला जलका प्रयोजन उस इकट्ठे जलसे और भी सुगमतासे पूरा हो जाता है, क्योंकि वहाँ एक ही तालमें सारे

निर्झराणामेकत्रैव कासारेऽन्तर्भावात् । एवं सर्वेषु वेदेषु वेदोक्तेषु काम्यकर्मसु यावानर्थो हैरण्यगर्भानन्दपर्यन्तस्तावान्विजानतो ब्रह्मतत्त्वं साक्षात्कृतवतो ब्राह्मणस्य ब्रह्मबुभूषोर्भवत्येव । क्षुद्रानन्दानां ब्रह्मानन्दांशत्वात्तत्र क्षुद्रानन्दानामन्तर्भावात् । 'एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इति श्रुतेः । एकस्याप्यानन्दस्याविद्याकल्पिततत्तदुपाधिपरिच्छेदमादायांशांशिवद्व्यपदेश आकाशस्येव घटाद्यवच्छेदकल्पनया ।

(१) तथा च निष्कामकर्मभिः शुद्धान्तःकरणस्य तवाऽऽत्मज्ञानोदये परब्रह्मानन्दप्राप्तिः स्यात्तथैव च सर्वानन्दप्राप्तौ न क्षुद्रानन्दप्राप्तिनिबन्धनवैयग्र्यावकाशः । अतः परमानन्दप्रापकाय तत्त्वज्ञानाय निष्कामकर्माणि कुर्वित्यभिप्रायः । अत्र यथा तथा भवतीतिपदत्रयाध्याहारो यावांस्तावानितिपदद्वयानुषङ्गश्च दार्ष्टान्तिके द्रष्टव्यः ॥ ४६ ॥

(२) ननु निष्कामकर्मभिरात्मज्ञानं सम्पाद्य परमानन्दप्राप्तिः क्रियते चेदात्मज्ञानमेव तर्हि सम्पाद्यं किं ब्रह्मायासैः कर्मभिर्बहिरङ्गसाधनभूतैरित्याशङ्क्याऽऽह—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

झरनोंका अन्तर्भाव हो गया है, इसी प्रकार समस्त वेदों—वेदोक्त काम्य कर्मोंसे हिरण्यगर्भके आनन्दपर्यन्त जितना फल मिलनेवाला होता है, वह उस विज्ञानी—ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार करनेवाले ब्राह्मण—ब्रह्मजिज्ञासुको मिल ही जाता है, क्योंकि 'क्षुद्र आनन्द ब्रह्मानन्दके ही अंश हैं, इसलिये इस आनन्दके अंशसे ही समस्त भूत जीवन-धारण करते हैं' इस श्रुतिके अनुसार उसमें क्षुद्र आनन्दोंका अन्तर्भाव हो जाता है। जिस प्रकार घटादिके अवच्छेदकी कल्पना करके आकाशमें अंशांशिभाव मान लिया जाता है, वैसे ही अविद्याकल्पित उस-उस उपाधिके परिच्छेदको लेकर एक ही आनन्दमें अंश और अंशीके समान व्यवहार किया जाता है ।

(१) अतः निष्काम कर्मोंके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो जानेपर आत्मज्ञानके उदयसे जब तुम्हें परमानन्दकी प्राप्ति होगी तो उसीसे समस्त आनन्दोंकी प्राप्ति हो जानेके कारण क्षुद्र आनन्दोंकी अप्राप्तिके कारण होनेवाली व्यग्रताके लिये कोई अवकाश नहीं रहेगा । अतः अभिप्राय यह है कि परमानन्दकी प्राप्ति करानेवाले तत्त्वज्ञान के लिये निष्काम कर्म करो । यहाँ 'यथा' 'तथा' और 'भवति' इन तीन पदोंका अध्याहार करना चाहिये तथा 'यावान्' और 'तावान्' इन दो पदोंका दार्ष्टान्तमें सम्बन्ध समझना चाहिये ॥ ४६ ॥

(२) यदि निष्काम कर्मोंसे आत्मज्ञान सम्पादन करके परमानन्द प्राप्त किया जाता है, तो आत्मज्ञानका ही सम्पादन करना चाहिये, उसके बहिरंग साधनभूत कर्मोंसे, जिन्हें करनेमें बड़ा परिश्रम होता है, क्या प्रयोजन है ? ऐसी आशंका करके भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थः—तुम्हारा अधिकार तो कर्म करनेमें ही होना चाहिये, किसी भी अवस्थामें उसके फलोंको भोगनेमें नहीं । तुम कर्मफलके हेतु मत बनो, और कर्म न करनेमें भी तुम्हारी आसक्ति नहीं होनी चाहिये ॥ ४७ ॥]

(१) ते तवाशुद्धान्तःकरणस्य तात्त्विकज्ञानोत्पत्त्ययोग्यस्य कर्मण्येवान्तःकरणशोधकेऽधिकारोमयेदं कर्तव्यमिति बोधोऽस्तु न ज्ञाननिष्ठारूपे वेदान्तवाक्यविचारादौ । कर्म च कुर्वतस्तव तत्फलेषु स्वर्गादिषु कदाचन कस्याञ्चिदप्यवस्थायां कर्मानुष्ठानात्प्रागूर्ध्वं तत्काले वाऽधिकारो मयेदं भोक्तव्यमिति बोधो माऽस्तु ।

(२) ननु मयेदं भोक्तव्यमितिबुद्ध्यभावेऽपि कर्म स्वसामर्थ्यादेव फलं जनयिष्यतीति चेन्नेत्याह—मा कर्मफलहेतुर्भूः, फलकामनया हि कर्म कुर्वन्फलस्य हेतुरुत्पादको भवति । त्वं तु निष्कामः सन्कर्मफलहेतुर्मा भूः । न हि निष्कामेन भगवदर्पणबुद्ध्या कृतं कर्म फलाय कल्पत इत्युक्तम् । फलाभावे किं कर्मणेत्यत आह—मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि, यदि फलं नेष्यते किं कर्मणा दुःखरूपेणेत्यकरणे तव प्रीतिर्मा भूत् ॥ ४७ ॥

(३) पूर्वोक्तमेव विवृणोति—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

(४) हे धनञ्जय त्वं योगस्थः सन्सङ्गं फलाभिलाषं कर्तृत्वाभिनिवेशं च त्यक्त्वा कर्माणि

---

(१) तुम अशुद्ध अन्तःकरणवाले और तात्त्विक ज्ञानकी प्राप्तिमें अयोग्य हो, अतः तुम्हारा अन्तःकरणकी शुद्धि करनेवाले कर्ममें ही अधिकार अर्थात् 'मेरा यह कर्तव्य है' ऐसा बोध होना चाहिये । ज्ञाननिष्ठारूप वेदान्तवाक्यके विचारादिमें तुम्हारा अधिकार नहीं है । कर्म करते हुए भी कदाचन—किसी भी अवस्थामें अर्थात् कर्मानुष्ठानके पहले, पीछे या उसी समय तुम्हारा उसके फल स्वर्गादिमें अधिकार अर्थात् 'मुझे यह भोगना है' ऐसा बोध नहीं होना चाहिये ।

(२) यदि शंका हो कि 'मुझे यह भोगना है' ऐसी बुद्धि न होनेपर भी कर्म अपने सामर्थ्यसे ही फल तो उत्पन्न कर ही देगा, तो कहते हैं—नहीं । तुम कर्म फलके हेतु मत बनो । फलकी कामनासे कर्म करनेपर ही कर्ता फलका हेतु—उत्पन्न करनेवाला बनता है । अतः कहना यह है कि तुम तो निष्काम रहकर कर्मफलके हेतु मत बनो, क्योंकि निष्काम भावसे भगवदर्पण-बुद्धि पूर्वक किया हुआ कर्म फल देनेमें समर्थ नहीं होता । फल न रहनेपर कर्मसे ही क्या प्रयोजन है ?—इसपर कहते हैं—कर्म न करनेमें तुम्हारी आसक्ति नहीं होनी चाहिये । अर्थात् 'यदि फलही की इच्छा नहीं है तो दुःखरूप कर्मसे ही क्या प्रयोजन है' ऐसा समझकर कर्म न करनेमें तुम्हारी प्रीति नहीं होनी चाहिये ॥ ४७ ॥

(३) पहले कही हुई बातको ही स्पष्ट करते हैं—

[श्लोकार्थः—अर्जुन ! तुम योगमें स्थित होकर फलकी इच्छा छोड़कर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान रहकर कर्म करो । यह सिद्धि-असिद्धिमें समान रहना ही योग कहा जाता है ॥ ४८ ॥

(४) हे धनञ्जय ! तुम योगमें स्थित होकर संग-फलकी इच्छा अर्थात् कर्तृत्वका अभिमान छोड़कर कर्म करो । यहाँ 'कर्माणि' पदमें बहुवचनसे 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इस श्लोकमें 'कर्मणि' पदमें जातिमें एकवचन समझना चाहिये । संगत्यागका उपाय

कुरु। अत्र बहुवचनात्कर्मण्येवाधिकारस्त इत्यत्र जातावेकवचनम्। सङ्गत्यागोपायमाह—सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा फलसिद्धौ हर्षं फलासिद्धौ च विषादं त्यक्त्वा केवलमीश्वराराधनबुद्ध्या कर्माणि कुर्वित्यर्थः।

(१) ननु योगशब्देन प्राक्कर्मोक्तम्। अत्र तु योगस्थः कर्माणि कुर्वित्युच्यते। अतः कथमेतद्घटितुं शक्यमित्यत आह—समत्वं योग उच्यते। यदेतत्सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वमिदमेव योगस्थ इत्यत्र योगशब्देनोच्यते न तु कर्मेति न कोऽपि विरोध इत्यर्थः। अत्र पूर्वार्धस्योत्तरार्धेन व्याख्यानं क्रियत इत्यपौनरुक्त्यमिति भाष्यकारीयः पन्थाः। 'सुखदुःखे समे कृत्वा' इत्यत्र जयाजयसाम्येन युद्धमात्रकर्तव्यता प्रकृतत्वादुक्ता। इह तु दृष्टादृष्टसर्वफलपरित्यागेन सर्वकर्मकर्तव्यतेति विशेषः ॥४८॥

(२) ननु किं कर्मानुष्ठानमेव पुरुषार्थो येन निष्फलमेव सदा कर्तव्यमित्युच्यते 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' इति न्यायात्, तद्वरं फलकामनयैव कर्मानुष्ठानमिति चेदित्याह—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

(३) बुद्धियोगादात्मबुद्धिसाधनभूतान्निष्कामकर्मयोगाद्दूरेणातिविप्रकर्षेणावरमधमं कर्म फलाभिसंधिना क्रियमाणं जन्ममरणहेतुभूतम्। अथवा परमात्मबुद्धियोगाद्दूरेणावरं सर्वमपि कर्म हि

बताते हैं—सिद्धि और असिद्धिमें समान होकर। अर्थात् फलकी सिद्धि होनेमें हर्ष और फलकी सिद्धि न होनेमें विषाद छोड़कर केवल ईश्वराराधन-बुद्धिसे कर्म करो।

(१) किन्तु 'योग' शब्दसे तो पहले कर्म कहा गया है और यहाँ 'योगमें स्थित होकर कर्म करो' ऐसा कहा जा रहा है। अतः यह बात कैसे समझ में आ सकती है?—ऐसी शंका हो तो कहते हैं—'समत्व ही योग कहा जाता है। यह जो सिद्धि और असिद्धिमें समान रहना है वही 'योगस्थः' इस पदमें 'योग' शब्दसे कहा गया है, कर्म नहीं; अतः तात्पर्य यह है कि यहाँ कोई विरोध नहीं है। यहाँ उत्तरार्धके द्वारा पूर्वार्धकी व्याख्या की जाती है, इसलिये पुनरुक्ति नहीं समझनी चाहिये। यह भाष्यकारकी पद्धति है। 'सुखदुःखे समे कृत्वा' (२।३८) इस स्थलमें युद्धका प्रकरण होनेके कारण जय और पराजय में समता रखते हुए केवल युद्धकी ही कर्तव्यता कही गयी थी, किन्तु यहाँ तो ऐहिक और पारलौकिक सभी फलोंका परित्याग करके सब प्रकारके कर्मोंकी कर्तव्यता बतायी गयी है—इतनी विशेषता है ॥ ४८ ॥

(२) 'तो क्या कर्म करना ही कोई पुरुषार्थ है जो ऐसा उपदेश दिया जा रहा है कि सर्वदा फलहीन कर्मोंका ही अनुष्ठान करना चाहिये। तब तो 'कोई प्रयोजन सामने न रखकर तो मूर्ख भी प्रवृत्त नहीं होता' इस न्यायसे फलकी कामनापूर्वक कर्म करना ही अच्छा है।' ऐसी शंका हो तो भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थः—हे अर्जुन! बुद्धियोगकी अपेक्षा कर्म अत्यन्त नीची कोटिका है। तुम परमात्मबुद्धिमें शरणरूप निष्कामकर्म करनेकी इच्छा करो। फलकी कामना रखनेवाले पुरुष तो दीन होते हैं ॥ ४९ ॥]

(३) बुद्धियोग—आत्मबुद्धिके साधनभूत निष्काम कर्मयोगसे कर्म-फलेच्छासे किया जानेवाला जन्म-मरणका हेतुभूत कर्म दूर—अत्यन्त विलग होनेके कारण अवर—नीची कोटिका है। अथवा परमात्मबुद्धिकी अपेक्षा सभी कर्म बहुत नीची कोटिके हैं।

यस्मादेवं धनञ्जय तस्मादात्मबुद्धौ परमात्मबुद्धौ सर्वानर्थनिवर्तिकायां शरणं प्रतिबन्धकपापक्षयेण रक्षकं निष्कामकर्मयोगमन्विच्छ कर्तुमिच्छ। ये तु फलहेतवः फलकामा अवरं कर्म कुर्वन्ति ते कृपणाः सर्वदा जन्ममरणादिघटीयन्त्रभ्रमणेन परवशा अत्यन्तदीना इत्यर्थः। 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः' इति श्रुतेः। तथा च त्वमपि कृपणो मा भूः किंतु सर्वानर्थनिवर्तकात्मज्ञानोत्पादकं निष्कामकर्मयोगमेवानुतिष्ठेत्यभिप्रायः। यथा हि कृपणा जना अतिदुःखेन धनमर्जयन्तो यत्किंचिद्दृष्टसुखमात्रलोभेन दानादिजनितं महत्सुखमनुभवितुं न शक्नुवन्तीत्यात्मानमेव वञ्चयन्ति तथा महता दुःखेन कर्माणि कुर्वाणाः क्षुद्रफलमात्रलोभेन परमानन्दानुभवेन वञ्चिता इत्यहो दौर्भाग्यं मौढ्यं च तेषामिति कृपणपदेन ध्वनितम् ॥ ४९ ॥

(१) एवं बुद्धियोगाभावे दोषमुक्त्वा तद्भावे गुणमाह—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

(२) इह कर्मसु बुद्धियुक्तः समत्वबुद्ध्या युक्तो जहाति परित्यजति उभे सुकृतदुष्कृते पुण्यपापे सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण। यस्मादेवं तस्मात्समत्वबुद्धियोगाय त्वं युज्यस्व घटस्वोद्युक्तो भव। यस्मादीदृशः समत्वबुद्धियोग ईश्वरार्पितचेतसः कर्मसु प्रवर्तमानस्य कौशलं कुशलभावो यद्बन्धहेतूनामपि कर्मणां तदभावो मोक्षपर्यवसायित्वं च तन्महत्कौशलम्।

क्यों कि ऐसी बात है इसलिये हे धनञ्जय! सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति करनेवाली परमात्मबुद्धिमें शरण—प्रतिबन्धक्षयके द्वारा रक्षा करनेवाले निष्काम कर्मयोगको करनेकी इच्छा करो। जो फलहेतु—फलकी कामना करनेवाले पुरुष निकृष्ट कर्म करते हैं वे तो सर्वदा कृपण हैं—जन्म-मरणादि-घटीयन्त्रमें घूमते रहनेके कारण पराधीन अर्थात् अत्यन्त दीन हैं; जैसा कि 'हे गार्गि! जो पुरुष इस अक्षर ब्रह्मको बिना जाने इस लोकसे मरकर चला जाता है वह कृपण है' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है। अतः तात्पर्य यह है कि उनके समान तुम भी कृपण मत बनो, किन्तु समस्त अनर्थोंकी निवृत्ति करनेवाले आत्मज्ञानके उत्पादक निष्काम कर्मयोगका ही अनुष्ठान करो। जिस प्रकार कृपणलोग बड़ा कष्ट सहकर धन पैदा करनेपर भी थोड़ेसे दृष्ट सुखके ही लोभसे दानादिके कारण मिलनेवाले महान् सुखका अनुभव नहीं कर सकते, अतः वे अपनेको ही धोखा देते हैं, इसी प्रकार बड़े कष्टसे कर्म करनेपर भी क्षुद्र फलोंके ही लोभसे ये परमानन्दके अनुभवसे वञ्चित रह जाते हैं—हाय! इनका बड़ा ही दुर्भाग्य और मूढ़ता है—ऐसा 'कृपण' पदसे ध्वनित होता है ॥४९॥

(१) इस प्रकार बुद्धियोगके अभाव में दोष बताकर अब उसके होनेमें गुण दिखाते हैं—

[श्लोकार्थः—जो पुरुष कर्मोंमें समत्वबुद्धिसे युक्त होता है वह पुण्य-पाप दोनोंको त्याग देता है। इसलिये तुम बुद्धियोगके लिए प्रयत्न करो। यह कर्मोंमें समत्वरूप योग बड़ा भारी कौशल है ॥ ५० ॥]

(२) इह अर्थात् कर्मोंमें बुद्धियुक्त—समत्वबुद्धिसे युक्त पुरुष अन्तःकरणकी शुद्धिसे उत्पन्न हुए ज्ञानकी प्राप्तिद्वारा सुकृत-दुष्कृत अर्थात् पुण्य-पाप दोनों ही का त्याग कर देते हैं। क्यों कि ऐसी बात है इसलिये तुम समत्वबुद्धियोगके लिये युक्त—प्रयत्नशील अर्थात् तैयार हो जाओ। कारण कि ऐसा समत्वबुद्धियोग कर्ममें प्रवृत्त ईश्वरार्पितचित्त

(१) समत्वबुद्धियुक्तः कर्मयोगः कर्मात्माऽपि सन्दुष्टकर्मक्षयं करोतीति महाकुशलः। एवं तु न कुशलो यतश्चेतनोऽपि सन् सजातीयदुष्टक्षयं न करोपीति व्यतिरेकोऽत्र ध्वनितः। अथवा इह समत्व-बुद्धियुक्ते कर्मणि कृते सति सत्त्वशुद्धिद्वारेण बुद्धियुक्तः परमात्मसाक्षात्कारवान् सञ्जहात्युभे सुकृत-दुष्कृते। तस्मात् समत्वबुद्धियुक्ताय कर्मयोगाय युज्यस्व। यस्मात् कर्मसु मध्ये समत्वबुद्धियुक्तः कर्मयोगः कौशलं कुशलो दुष्टकर्मनिवारणचतुर इत्यर्थः ॥ ५० ॥

(२) ननु दुष्कृतहानमपेक्षितं न तु सुकृतहानं पुरुषार्थभ्रंशापत्तेरित्याशङ्क्य तुच्छफलत्यागेन परमपुरुषार्थप्राप्तिं फलमाह—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

(३) समत्वबुद्धियुक्ता हि यस्मात्कर्मजं फलं त्यक्त्वा केवलमीश्वराराधनार्थं कर्माणि कुर्वाणाः सत्त्वशुद्धिद्वारेण मनीषिणस्तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यात्ममनीषावन्तो भवन्ति। तादृशाश्च सन्तो जन्मात्म-केन बन्धेन विनिर्मुक्ता विशेषेणाऽत्यन्तिकत्वलक्षणेन निरवशेषं मुक्ताः पदं पदनीयमात्मतत्त्वमानन्द-रूपं ब्रह्मानामयमविद्यातत्कार्यात्मकरोगरहिताभयं मोक्षाख्यं पुरुषार्थं गच्छन्त्यभेदेन प्राप्नुवन्तीत्यर्थः।

(४) यस्मादेवं फलकामनां त्यक्त्वा समत्वबुद्ध्या कर्माण्यनुतिष्ठन्तस्तैः कृतान्तःकरणशुद्धयस्त-

---

पुरुषका कौशल—कुशलभाव है ; बन्धनके हेतुभूत होनेपर भी जो कर्मोंमें बन्धकत्व न रहना तथा मोक्षमें परिसमाप्त होना है वह बड़ा कौशल ही है।

(१) समत्वबुद्धियुक्त कर्मयोग कर्मरूप होनेपर भी दुष्कर्मोंका क्षय करता है, इसलिये वह बड़ा कुशल है। किन्तु तुम कुशल नहीं हो, क्यों कि चेतन होनेपर भी अपने सजातीय दुष्ट पुरुषोंका क्षय नहीं करते—इस प्रकारका व्यतिरेक (अर्जुनका कुशलसे भिन्न होना) यहाँ ध्वनित होता है। अथवा इस समत्वबुद्धियुक्त कर्मके करनेपर पुरुष अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा बुद्धियुक्त—परमात्माके साक्षात्कारवाला होकर पुण्य-पाप दोनोंको त्याग देता है, समत्वबुद्धियुक्त कर्मयोगके लिये उद्योग करो, क्योंकि कर्मोंमें समत्वबुद्धि-युक्त कर्मयोग कौशल-कुशल अर्थात् दुष्ट कर्मोंकी निवृत्ति करनेमें पटु है ॥ ५० ॥

(२) अब ऐसी आशंका करके कि 'अपेक्षा तो पापके परित्यागकी ही है, पुण्यके त्यागकी तो है नहीं, क्योंकि इससे तो पुरुषार्थकी हानि प्राप्त होती है' भगवान् यह बताते हैं कि तुच्छ फलके त्यागसे परमपुरुषार्थ प्राप्त हो सकता है—

[श्लोकार्थः—क्यों कि समत्वबुद्धिसे युक्त पुरुष कर्मजनित फलको त्यागकर आत्मा-कार बुद्धिवाले हो जाते हैं तथा जन्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त होकर अविद्या एवं उसके कर्मरूप रोगसे रहित पदको प्राप्त होते हैं ॥ ५१ ॥]

(३) क्यों कि समबुद्धिसे युक्त पुरुष कर्मजनित फलको त्यागकर केवल ईश्वरकी आराधनाके लिये कर्म करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा मनीषी—'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंसे उत्पन्न होनेवाली मनीषासे युक्त हो जाते हैं। ऐसे होकर वे जन्मरूप बन्धनसे विनिर्मुक्त-विशेष अर्थात् आत्यन्तिकरूपसे सर्वथा मुक्त होकर अनामय—अविद्या और उसके कार्यरूप रोगसे रहित अभय पद—प्राप्त करनेयोग्य आत्मतत्व-आनन्दस्वरूप ब्रह्म अर्थात् मोक्षसंज्ञक पुरुषार्थको जाते अर्थात् अभेदसे प्राप्त करते हैं।

(४) क्यों कि इस प्रकार फलकी कामना छोड़कर समत्वबुद्धिसे कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले तथा उनके द्वारा जिनके अन्तःकरणोंकी शुद्धि हो गयी है वे पुरुष 'तत्त्वमसि'

त्वमस्यादिप्रमाणोत्पन्नात्मतत्त्वज्ञानविनष्टाज्ञानतत्कार्याः सन्तः सकलानर्थनिवृत्तिपरमानन्दप्राप्तिरूपं मोक्षाख्यं विष्णोः परमं पदं गच्छन्ति तस्मात्त्वमपि यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्म इत्युक्तेः श्रेयो जिज्ञासुरेवंविधं कर्मयोगमनुतिष्ठेति भगवतोऽभिप्रायः ॥ ५१ ॥

(१) एवं कर्माण्यनुतिष्ठतः कदा मे सत्त्वशुद्धिः स्यादित्यत आह—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

(२) न ह्येतावता कालेन सत्त्वशुद्धिर्भवतीति कालनियमोऽस्ति। किंतु यदा यस्मिन्काले ते तव बुद्धिरन्तःकरणं मोहकलिलं व्यतितरिष्यति अविवेकात्मकं कालुष्यमहमिदं ममेदमित्याद्यज्ञान-विलसितमतिगहनं व्यतिक्रमिष्यति रजस्तमोमलमपहाय शुद्धभावमापत्स्यत इति यावत्। तदा तस्मिन्काले श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च कर्मफलस्य निर्वेदं वैतृष्ण्यं गन्तासि प्राप्तासि। 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्' इति श्रुतेः। निर्वेदेन फलेनान्तःकरणशुद्धिं ज्ञास्यसीत्यभिप्रायः ॥५२॥

(३) अन्तःकरणशुद्धयैवं जातनिर्वेदस्य कदा ज्ञानप्राप्तिरित्यपेक्षायामाह—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ॥
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

आदि प्रमाणोंसे उत्पन्न तत्त्वज्ञानसे अज्ञान और उसके कार्यका नाश हो जानेके कारण सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिरूप मोक्षसंज्ञक विष्णुके परमपदको जाते हैं, इसलिये तुम भी 'जो निश्चित श्रेय हो वह मुझे बताइये' ऐसा कहनेसे श्रेयके जिज्ञासु होनेके कारण इस प्रकारके कर्मयोगका अनुष्ठान करो—ऐसा भगवान्का अभिप्राय है ॥ ५१ ॥

(१) इस प्रकार कर्म करते-करते कब मेरे चित्तकी शुद्धि हो जायगी—ऐसी अर्जुनकी ओर से आशंका करके भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थः—जिस समय तुम्हारी बुद्धि अविवेकात्मक मलको पार कर लेगी उस समय तुम्हें आगे सुने जानेवाले और पहले सुने हुए कर्म-फलके प्रति वैराग्य हो जायगा ॥ ५२ ॥]

(२) 'इतने समयमें चित्तशुद्धि होगी' ऐसा कोई समयका नियम तो है नहीं। किन्तु जिस समय तुम्हारी बुद्धि—अन्तःकरण मोहकलिल—अविवेकात्मक कालुष्य अर्थात् 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' ऐसे गहन अज्ञानके विलासको पार कर लेगी यानी रजोगुण और तमोगुणको त्याग शुद्धभावको प्राप्त हो जायगी, उस समय तुम सुने जानेवाले और सुने हुये कर्मफलके निर्वेद—वैतृष्ण्य (तृष्णाहीनता) को प्राप्त हो जाओगे। 'कर्मोपार्जित लोकोंकी परीक्षा करके ब्राह्मण उनसे विरक्त हो जाय' इस श्रुतिसे भी यही बात सिद्ध होती है। अभिप्राय यह है कि निर्वेदरूप फलसे तुम अन्तःकरणकी शुद्धिको जान लोगे ॥

(३) 'अन्तःकरणकी शुद्धिसे इस प्रकार वैराग्य उत्पन्न होनेपर ज्ञान कब प्राप्त होगा ?' ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—

[श्लोकार्थः—जिस समय श्रुतिवाक्योंको सुनकर विक्षिप्त हुई तुम्हारी बुद्धि निश्चल-रूपसे परमात्मामें स्थित हो जायगी उस समय तुम योगको प्राप्त कर लोगे ॥ ५३ ॥]

(१) ते तव बुद्धिः श्रुतिभिर्नानाविधफलश्रवणैरविचारितताल्पयैर्विप्रतिपन्नाऽनेकविधसंशय-विपर्यासवत्त्वेन विक्षिप्ता प्राक्, यदा यस्मिन्काले शुद्धिजविवेकजनितेन दोषदर्शनेन तं विक्षेपं परित्यज्य समाधौ परमात्मनि निश्चला जाग्रत्स्वप्नदर्शनलक्षणविक्षेपरहिताऽचला सुषुप्तिमूर्च्छास्तब्धी-भावादिरूपलयलक्षणचलनरहिता सती स्थास्यति लयविक्षेपलक्षणौ दोषौ परित्यज्य समाहिता भविष्यतीति यावत्। अथवा निश्चलाऽसंभावनाविपरीतभावनारहिताऽचला दीर्घकालादरनैरन्तर्य-सत्कारसेवनैर्विजातीयप्रत्ययादूषिता सती निर्वातप्रदीपवदात्मनि स्थास्यतीति योजना। तदा तस्मिन् काले योगं जीवपरमात्मैक्यलक्षणं तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यमखण्डसाक्षात्कारं सर्वयोगफलमवाप्स्यसि। तदा पुनः साध्यान्तराभावात्कृतकृत्यः स्थितप्रज्ञो भविष्यसीत्यभिप्रायः ॥ ५३ ॥

(२) एवं लब्धावसरः स्थितप्रज्ञलक्षणं ज्ञातुमर्जुन उवाच। यान्येव हि जीवन्मुक्तानां लक्षणानि तान्येव मुमुक्षूणां मोक्षोपायभूतानीति मन्वानः—

अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

(३) स्थिता निश्चलाऽहं ब्रह्मास्मीति प्रज्ञा यस्य स स्थितप्रज्ञोऽवस्थाद्वयवान्समाधिस्थो व्युत्थितचित्तश्चेति, अतो विशिनष्टि समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा। कर्मणि षष्ठी। भाष्य-तेऽनयेति भाषा लक्षणम्। समाधिस्थः स्थितप्रज्ञः केन लक्षणेनान्यैर्ब्यवहियत इत्यर्थः।

(१) श्रुतियोंके द्वारा अनेक प्रकारके फल सुननेसे, उनका तात्पर्य न समझकर विप्रतिपन्न—तरह-तरहके संशय और विपर्ययोंसे युक्त होनेके कारण पहले विक्षिप्त हुई तुम्हारी बुद्धि जिस समय चित्तशुद्धिजनित विवेकसे दोषदर्शनके द्वारा उस विक्षेपको त्यागकर समाधि—परमात्मामें निश्चल—जाग्रत् और स्वप्नदर्शनरूप विक्षेपसे रहित और अचल अर्थात् सुषुप्ति, मूर्च्छा और स्तब्धता आदि लयरूप चलनभावसे रहित होकर स्थित हो जायगी; तात्पर्य यह है कि लय-विक्षेपरूप दोषोंको त्यागकर समाहित हो जायगी; अथवा ऐसी योजना करनी चाहिये कि निश्चला—असम्भावना और विपरीतभावनासे रहित तथा अचला—दीर्घकाल नैरन्तर्य एवं सत्कारपूर्वक सेवन करनेसे विजातीय प्रत्ययोंसे दूषित न होकर वायुहीन स्थानमें रखे हुए दीपकके समान स्थित हो जायगी, उस समय तुम योग—जीव और परमात्माके ऐक्यरूप समस्त योगोंके फल 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंसे उत्पन्न होनेवाले अखण्ड साक्षात्कारको प्राप्त कर लोगे। तब फिर कोई दूसरा साध्य न रहनेके कारण कृतकृत्य और स्थितप्रज्ञ हो जाओगे—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥

(२) इस प्रकार अवसर पाकर यह समझते हुए कि जो जीवन्मुक्तोंके लक्षण होंगे वे ही मुमुक्षुओंके लिये मोक्षके साधन होने चाहिये, अर्जुनने स्थितप्रज्ञके लक्षण जाननेके लिये कहा—

[श्लोकार्थः—हे केशव! समाधिमें स्थित स्थितप्रज्ञका क्या लक्षण है? तथा व्युत्थितचित्त स्थितप्रज्ञ क्या बोलता है, किस प्रकार बैठता है और कैसे चलता है? ॥५४॥]

(३) जिसकी 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी प्रज्ञा (बुद्धि) स्थित—निश्चल हो गयी है वह स्थितप्रज्ञ दो अवस्थाओंवाला होता है—समाधिस्थ और व्युत्थित। इसीसे उसे विशेषण देते हुए पूछते हैं—समाधिस्थ स्थितप्रज्ञकी क्या भाषा है? यहाँ 'स्थितप्रज्ञस्य' इस

(१) स च व्युत्थितचित्तः स्थितधीः स्थितप्रज्ञः स्वयं किं प्रभाषेत स्तुतिनिन्दादावभिनन्द-नद्वेषादिलक्षणं किं कथं प्रभाषते। सर्वत्र संभावनायां लिङ्। तथा किमासीतेति व्युत्थितचित्तनिग्र-हाय कथं बहिरिन्द्रियाणां निग्रहं करोति। तन्निग्रहाभावकाले च किं व्रजेत कथं विषयान्प्राप्नोति। तत्कर्तृकभाषणासनव्रजनानि मूढजनविलक्षणानि कीदृशानीत्यर्थः।

(२) तदेवं चत्वारः प्रश्नाः समाधिस्थे स्थितप्रज्ञ एकः, व्युत्थिते स्थितप्रज्ञे त्रय इति। केशवेति संबोधयन्सर्वान्तर्यामितया त्वमेवैतादृशं रहस्यं वक्तुं समर्थोऽसीति सूचयति ॥ ५४ ॥

(३) एतेषां चतुर्णां प्रश्नानां क्रमेणोत्तरं भगवानुवाच यावदध्यायसमाप्ति—

श्रीभगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवाऽऽत्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

(४) कामान्कामसंकल्पादीन्मनोवृत्तिविशेषान्प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतिभेदेन तन्त्रा-न्तरे पञ्चधा प्रपञ्चितान्सर्वान्निरवशेषान्प्रकर्षेण कारणबाधेन यदा जहाति परित्यजति सर्ववृत्तिशून्य एवं यदा भवति स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते समाधिस्थ इति शेषः। कामानामनात्मधर्मत्वेन परित्यागयोग्य-

पदमें कर्ममें षष्ठी है। जिसके द्वारा भाषित होता है वह भाषा—लक्षण कहा जाता है। अर्थात् अन्य पुरुष समाधिस्थ स्थितप्रज्ञको किन लक्षणोंसे जाना करते हैं।

(१) तथा व्युत्थित होनेपर वह स्थितधी—स्थितप्रज्ञ स्वयं क्या बोलता है अर्थात् स्तुति-निन्दादि होनेपर स्वयं प्रसन्नता-द्वेषादिरूप क्या—किस प्रकार भाषण करता है? यहाँ क्रियापदोंमें सर्वत्र सम्भावनामें लिङ् लकार है। तथा किस प्रकार बैठता है? अर्थात् अपने व्युत्थितचित्तका निग्रह करनेके लिये किस प्रकार बाह्य इन्द्रियोंको वशमें करता है? तथा जिस समय उनका निग्रह नहीं करता उस समय किस प्रकार जाता—बाह्य विषयोंमें प्रवृत्त होता है? तात्पर्य यह है कि अन्य अज्ञानी पुरुषोंसे विलक्षण उसके किये हुए भाषण, इन्द्रियनिग्रह और विषयप्राप्ति कैसे होते हैं?

(२) इस प्रकार ये चार प्रश्न हैं—एक समाधिस्थ स्थितप्रज्ञके विषयमें और तीन व्युत्थित स्थितप्रज्ञके सम्बन्धमें। 'केशव' ऐसा सम्बोधन करके अर्जुन यह सूचित करता है कि सर्वान्तर्यामी होनेके कारण आप ही ऐसा रहस्य बतानेमें समर्थ हैं ॥ ५४ ॥

(३) अब अध्यायकी समाप्तितक भगवान्ने क्रमशः इन चार प्रश्नों का ही उत्तर दिया है—

[श्लोकार्थः—अर्जुन! जिस समय विद्वान् अपने मनकी सभी वृत्तियोंको त्याग देता है तथा परमानन्दस्वरूप आत्मामें अपने स्वयंप्रकाश चिद्रूपसे सन्तुष्ट रहता है उस समय वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ ५५ ॥]

(४) कामान्—काम-संकल्प आदि मनकी वृत्तियोंको, जिनका अन्य शास्त्र (पातञ्जलदर्शन) में प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृतिभेदसे पाँच प्रकारसे विस्तार किया है, सर्वान्—किसीको शेष न रखते हुए जब उनके कारण (मन) का बाध करके त्याग देता है, अर्थात् समस्त वृत्तियोंसे शून्य हो जाता है, तो वह (समाधिस्थ) स्थितप्रज्ञ कहलाता है। यहाँ 'समाधिस्थः' पदका अध्याहार करना चाहिये। 'मनोगतान्' इस पदसे यह बताया है कि अनात्मधर्म होनेके कारण वृत्तियोंमें त्यागे

तामाह—मनोगतानिति । यदि ह्यात्मधर्माः स्युस्तदा न त्यक्तुं शक्येरन्वह्नेरौष्ण्यवत्स्वाभाविकत्वात् । मनसस्तु धर्मा एते । अतस्तत्परित्यागेन परित्यक्तुं शक्या एवेत्यर्थः ।

(१) ननु स्थितप्रज्ञस्य मुखप्रसादलिङ्गगम्यः संतोषविशेषः प्रतीयते स कथं सर्वकामपरित्यागे स्यादित्यत आह—आत्मन्येव परमानन्दरूपे न त्वनात्मनि तुच्छ आत्मना स्वप्रकाशचिद्रूपेण भासमानेन ननु वृत्त्या तुष्टः परितृप्तः परमपुरुषार्थलाभात् । तथा च श्रुतिः—

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥' इति ।

तथा च समाधिस्थः स्थितप्रज्ञ एवंविधैर्लक्षणवाचिभिः शब्दैर्भाष्यत इति प्रथमप्रश्नस्योत्तरम् ॥ ५५ ॥

(२) इदानीं व्युत्थितस्य स्थितप्रज्ञस्य भाषणोपवेशनगमनानि मूढजनविलक्षणानि व्याख्येयानि । तत्र किं प्रभाषेतेत्यस्योत्तरमाह द्वाभ्याम्—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

(३) दुःखानि त्रिविधानि शोकमोहज्वरशिरोरोगादिनिमित्तान्याध्यात्मिकानि व्याघ्रसर्पादिप्रयुक्तान्याधिभौतिकानि अतिवातातिवृष्ट्यादिहेतुकान्याधिदैविकानि तेषु दुःखेषु रजःपरिणामसंतापात्मकचित्तवृत्तिविशेषेषु प्रारब्धपापकर्मप्रापितेषु नोद्विग्नं दुःखपरिहाराक्षमतया व्याकुलं न भवति

जानेकी योग्यता है । यदि वे आत्माका धर्म होतीं तो अग्निकी उष्णताके समान उसका स्वभाव होनेके कारण उन्हें त्यागा नहीं जा सकता था । तात्पर्य यह है कि ये मनका धर्म हैं, इसलिये मनके परित्यागसे इनका त्याग किया ही जा सकता है ।

(१) 'किन्तु स्थितप्रज्ञमें तो उसके मुखकी प्रसन्नतारूप हेतुसे एक प्रकार का संतोष देखनेमें आता है, वह समस्त वृत्तियोंके त्यागसे कैसे हो सकता है ?' ऐसी आशंका करके भगवान् कहते हैं—जो परमानन्दस्वरूप आत्मामें ही—तुच्छ अनात्मामें नहीं आत्मासे अर्थात् स्वप्रकाश चेतनरूपसे भासमान आत्मासे ही, वृत्तिसे प्रकाशित होनेवालेसे नहीं, तुष्ट—सब प्रकार तृप्त रहता है, क्योंकि उसे परमपुरुषार्थ प्राप्त हो जाता है । ऐसा ही यह श्रुति भी कहती है—'जिस समय इसके अन्तःकरणमें स्थित समस्त कामनाएँ छूट जाती हैं तो यह मरणधर्मा होकर भी अमर हो जाता है, यहीं यह ब्रह्मको प्राप्त होता है ।' इस प्रकार समाधिरूप स्थितप्रज्ञ इस तरहके लक्षणोंको बतानेवाले शब्दोंसे कहा जाता है—यह पहले प्रश्नका उत्तर हुआ ॥ ५५ ॥

(२) अब व्युत्थित स्थितप्रज्ञके बोलने, बैठने और गमन करनेकी व्याख्या करनी है, जो अज्ञानी पुरुषोंके भाषणादिसे सर्वथा विलक्षण होते हैं । इनमेंसे दो श्लोकों द्वारा 'वह किस प्रकार बोलता है' इसका उत्तर दिया जाता है—

[श्लोकार्थः—दुःखोंमें जिसका चित्त उद्विग्न नहीं होता और सुखोंमें जिसकी स्पृहा नहीं है तथा जिसके राग, भय और क्रोध जाते रहे हैं वह मुनि स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ ५६ ॥]

(३) दुःख तीन प्रकारके हैं—शोक, मोह, ज्वर और सिरके रोग आदिसे होनेवाले आध्यात्मिक, व्याघ्र एवं सर्पादिके कारण होनेवाले आधिभौतिक और अधिक वायु या वर्षा आदिके कारण होनेवाले दुःख आधिदैविक कहे जाते हैं । पापमय प्रारब्ध कर्मों द्वारा प्राप्त होनेवाले उन दुःखोंमें—रजोगुणकी परिणामभूता सन्तापात्मिका चित्तवृत्तियोंमें

मनो यस्य सोऽनुद्विग्नमनाः । अविवेकिनो हि दुःखप्राप्तौ सत्यामहो पापोऽहं धिङ्मां दुरात्मानमेतादृशदुःखभागिनं को मे दुःखमीदृशं निराकुर्यादित्यनुतापात्मको भ्रान्तिरूपस्तामसश्चित्तवृत्तिविशेष उद्रेकाख्यो जायते । यद्ययं पापानुष्ठानसमये स्यात्तदा तत्प्रवृत्तिप्रतिबन्धकत्वेन सफलः स्यात् । भोगकाले तु भवन्कारणे सति कार्यस्योच्छेत्तुमशक्यत्वान्निष्प्रयोजनो दुःखकारणे सत्यपि किमिति मम दुःखं जायत इति अविवेकजभ्रमरूपत्वान्न विवेकिनः स्थितप्रज्ञस्य संभवति । दुःखमात्रं हि प्रारब्धकर्मणा प्राप्यते ननु तदुत्तरकालीनो भ्रमोऽपि ।

(१) ननु दुःखान्तरकारणत्वात्सोऽपि प्रारब्धकर्मान्तरेण प्राप्यतामिति चेत्, न, स्थितप्रज्ञस्य भ्रमोपादानाज्ञाननाशेन भ्रमासंभवात्तज्जन्यदुःखप्रापकप्रारब्धाभावात् । यथाकथंचिद्देहयात्रामात्रनिर्वाहकप्रारब्धकर्मफलस्य भ्रमाभावेऽपि बाधितानुवृत्त्योपपत्तेरिति विस्तरेणाग्रे वक्ष्यते ।

(२) तथा सुखेषु सत्त्वपरिणामरूपप्रीत्यात्मकचित्तवृत्तिविशेषेषु त्रिविधेषु प्रारब्धपुण्यकर्मप्रापितेषु विगतस्पृह आगामितज्जातीयसुखस्पृहारहितः । स्पृहा हि नाम सुखानुभवकाले तज्जातीयसुखस्य कारणं धर्ममननुष्ठाय वृथैव तदाकाङ्क्षारूपा तामसी चित्तवृत्तिर्भ्रान्तिरेव । सा चाविवेकिन एव जायते । न हि कारणाभावे कार्यं भवितुमर्हति । अतो यथा सति कारणे कार्यं मा भूदिति वृथाकाङ्क्षारूप उद्वेगो विवेकिनो न संभवति तथैवासति कारणे कार्यं भूयादिति वृथाकाङ्क्षारूपा तृष्णात्मिका स्पृहाऽपि नोपपद्यते प्रारब्धकर्मणः सुखमात्रप्रापकत्वात् ।

दुःखनिवृत्तिका सामर्थ्य न होनेके कारण, जिसका चित्त व्याकुल नहीं होता वह अनुद्विग्नमना होता है । जो अविवेकी होते हैं उन्हें तो दुःखकी प्राप्ति होनेपर 'हाय ! मैं बड़ा पापी हूँ, ऐसे दुःखके भागी मुझ दुरात्माको धिक्कार है, मेरे ऐसे दुःखका निराकरण कौन करेगा ?' ऐसी पश्चात्तापमयी उद्वेगनाम्नी भ्रान्तिरूपा तामसी चित्तवृत्तिविशेष उत्पन्न होती है । यदि पाप करते समय ऐसी वृत्ति होती तो उस प्रवृत्तिकी प्रतिबन्धिका होनेसे वह सफल हो सकती थी । उसका फल भोगनेके समय तो दुःखानुभवका कारण रहते हुए कार्यका उच्छेद होना असम्भव होनेके कारण वह निष्प्रयोजन ही है; अतः 'दुःखका कारण रहते हुए भी मुझे दुःख क्यों होता है ?' यह वृत्ति अविवेकजनित भ्रमरूप होनेके कारण विवेकी स्थितप्रज्ञकी होना सम्भव नहीं है । प्रारब्धकर्मसे तो दुःख ही प्राप्त होता है, न कि उसके पीछे होनेवाला भ्रम भी ।

(१) यदि कहो कि एक दूसरे दुःखका कारण होनेसे वह भी अन्य प्रारब्धकर्मके द्वारा ही प्राप्त होती होगी तो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि भ्रमके उपादान कारण अज्ञानका नाश हो जानेसे स्थितप्रज्ञको भ्रम होना सम्भव नहीं है, इसलिये उससे होनेवाले दुःखको प्राप्त करानेवाला प्रारब्ध भी नहीं रहता । किसी प्रकार देहयात्राका निर्वाह करनेवाला प्रारब्धकर्मफल तो, भ्रमके न रहनेपर भी, बाधितानुवृत्तिसे रह ही सकता है । इस प्रसंग का आगे विस्तारसे निरूपण किया जायगा ।

(२) इसी प्रकार सुखोंमें—प्रारब्धजनित पुण्यकर्मोंसे प्राप्त हुई सत्त्वगुणकी परिणामरूपा तीन प्रकारकी प्रीतिमयी चित्तवृत्तिविशेषोंमें जो विगतस्पृह—उसी जातिके सुखकी इच्छासे रहित है । सुखानुभवकी वृत्तिके समय उस प्रकारके सुखके कारणभूत धर्मका अनुष्ठान किये बिना वृथा ही उसकी आकांक्षा करना रूप तामसी चित्तवृत्ति स्पृहा है । यह भी भ्रान्ति ही है और अविवेकी पुरुषको ही होती है, क्योंकि कारणके बिना कोई कार्य नहीं हो सकता । अतः विवेकी पुरुषको जिस प्रकार कारणके रहनेपर 'कार्य न हो' ऐसा वृथा आकांक्षारूप उद्वेग नहीं होता उसी प्रकार कारणके न रहनेपर 'कार्य हो'

(१) हर्षात्मिका वा चित्तवृत्तिः स्पृहाशब्देनोक्ता। साऽपि भ्रान्तिरेव—अहो धन्योऽहं यस्य ममेदृशं सुखमुपस्थितं को वा मया तुल्यस्त्रिभुवने केन वोपायेन ममेदृशं सुखं न विच्छिद्येतेत्येवमात्मिकोत्फुल्लतारूपा तामसी चित्तवृत्तिः। अत एवोक्तं भाष्ये—'नाग्निरिवेन्धनाद्याधाने यः सुखान्यनुविवर्धते स विगतस्पृहः' इति। वक्ष्यति च—'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्' इति। साऽपि न विवेकिनः संभवति भ्रान्तित्वात्।

(२) तथा वीतरागभयक्रोधः। रागः शोभनाध्यासनिबन्धनो विषयेषु रञ्जनात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषोऽत्यन्ताभिनिवेशरूपः। रागविषयस्य नाशके समुपस्थिते तन्निवारणासामर्थ्यमात्मनो मन्यमानस्य दैन्यात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषो भयम्। एवं रागविषयविनाशके समुपस्थिते तन्निवारणसामर्थ्यमात्मनो मन्यमानस्यामिज्वलनात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषः क्रोधः। ते सर्वे विपर्ययरूपत्वाद्विगता यस्मात्स तथा। एतादृशो मुनिर्मननशीलः संन्यासी स्थितप्रज्ञ उच्यते। एवंलक्षणः स्थितधीः स्वानुभवप्रकटनेन शिष्यशिक्षार्थमनुद्वेगनिस्पृहत्वादिवाचः प्रभाषत इत्यन्वय उक्तः। एवं चान्योऽपि मुमुक्षुर्दुःखे नोद्विजेत्सुखे न प्रहृष्येत्, रागभयक्रोधरहितश्च भवेदित्यभिप्रायः ॥ ५६ ॥

(३) किं च—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।

ऐसी वृथा आकांक्षारूप तृष्णात्मिका स्पृहा भी होनी सम्भव नहीं है; क्योंकि प्रारब्धकर्म तो केवल सुखकी ही प्राप्ति करनेवाला है।

(१) अथवा 'स्पृहा' शब्दसे हर्षात्मिका वृत्ति कही गयी है। वह भी भ्रांति ही है। वह 'अहो! मैं धन्य हूँ', जिसे ऐसा सुख प्राप्त हुआ है। त्रिलोकीमें मेरे समान कौन हैं? ऐसा क्या उपाय किया जाय जिससे मेरा ऐसा सुख दूर न हो' इस प्रकारकी प्रफुल्लतारूपा तामसी चित्तवृत्ति है। इसी से भाष्यमें कहा है—'ईंधन डालनेसे जैसे अग्नि बढ़ती है उसी प्रकार जो सुख पाकर फूल नहीं जाता वह विगतस्पृह है।' भगवान् भी 'न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्' (५।२०) इस श्लोकसे यही बात कहेंगे। भ्रान्तिरूपा होनेके कारण विवेकी पुरुषको उसका होना भी सम्भव नहीं है।

(२) तथा जो वीतरागभयक्रोध है। राग—यह अच्छेपनके अध्यासके कारण विषयोंमें रँग जानेवाली चित्तकी वृत्तिविशेष है, जो अत्यन्त अभिनिवेशरूपा है। रागके विषयको नष्ट करनेवालेके उपस्थित होनेपर उसका निवारण करनेमें अपनी असमर्थता समझनेवालेकी जो दीनतामयी चित्तवृत्ति होती है वह भय है। इसी प्रकार रागके विषयका नाश करनेवालेके उपस्थित होनेपर अपनेमें उसका निवारण करनेका सामर्थ्य समझनेवालेकी जो दाह पैदा करनेवाली चित्तवृत्ति होती है वह क्रोध है। ये सब विपर्ययरूपा होनेके कारण जिससे निवृत्त हो गयी हैं वह इस प्रकारका मुनि—मननशील संन्यासी स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। ऐसे लक्षणोंवाला स्थितप्रज्ञ अपने अनुभवको प्रकट करके शिष्योंको शिक्षा देनेके लिए अनुद्वेग और निःस्पृहत्वादिको प्रकाशित करनेवाली वाणी बोलता है—यह इसका अन्वय बताया गया है। अतः अभिप्राय यह है कि इसी प्रकार अन्य मुमुक्षु पुरुषको भी दुःखमें उद्वेग नहीं करना चाहिये, सुखमें हर्षसे फूल नहीं जाना चाहिये और राग, भय एवं क्रोधसे रहित रहना चाहिये ॥ ५६ ॥

(३) तथा—

[श्लोकार्थः—सर्वत्र सब प्रकार स्नेहसे रहित जो मुनि उस-उस शुभके प्राप्त होनेपर

नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

(१) सर्वदेहेषु जीवनादिष्वपि यो मुनिरनभिस्नेहः, यस्मिन्नित्यन्यदोषे हानिवृद्धी स्वस्मिन्नारोप्येते स तादृशोऽन्यविषयः प्रेमापरपर्यायस्तामसो वृत्तिविशेषः स्नेहः सर्वप्रकारेण तद्रहितोऽनभिस्नेहः। भगवति परमात्मनि तु सर्वथाऽभिस्नेहवान्भवेदेव, अनात्मस्नेहाभावस्य तदर्थत्वादिति द्रष्टव्यम्।

(२) तत्तत्प्रारब्धकर्मपरिप्रापितं शुभं सुखहेतुं विषयं प्राप्य नाभिनन्दति हर्षविशेषपुरस्सरं न प्रशंसति। अशुभं दुःखहेतुं विषयं प्राप्य न द्वेष्टि अन्तरसूयापूर्वकं न निन्दति। अज्ञस्य हि सुखहेतुर्यः स्वकलत्रादिः स शुभो विषयस्तद्गुणकथनादिप्रवर्तिका धीवृत्तिर्भ्रान्तिरूपाऽभिनन्दः। स च तामसः, तद्गुणकथनादेः परप्ररोचनार्थत्वाभावेन व्यर्थत्वात्। एवमसूयोत्पादनेन दुःखहेतुः परकीयविद्याप्रकर्षादिरेनं प्रत्यशुभो विषयस्तन्निन्दादिप्रवर्तिका भ्रान्तिरूपा धीवृत्तिर्द्वेषः। सोऽपि तामसः, तन्निन्दाया निवारणार्थत्वाभावेन व्यर्थत्वात्। तावभिनन्दद्वेषौ भ्रान्तिरूपौ तामसौ कथमभ्रान्ते शुद्धसत्त्वे स्थितप्रज्ञे सम्भवताम्। तस्माद्विचालकाभावात्तस्यानभिस्नेहस्य हर्षविषादरहितस्य मुनेः प्रज्ञा परमात्मतत्त्वविषया प्रतिष्ठिता फलपर्यवसायिनी स स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः। एवमन्योऽपि मुमुक्षुः सर्वत्रानभिस्नेहो भवेत्। शुभं प्राप्य न प्रशंसेत्, अशुभं प्राप्य न निन्देदित्यभिप्रायः। अत्र च निन्दाप्रशंसादिरूपा वाचो न प्रभाषेतेति व्यतिरेक उक्तः ॥ ५७ ॥

स्तुति और अशुभके प्राप्त होनेपर द्वेष (निन्दा) नहीं करता उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित (स्थित) कही जाती है ॥ ५७ ॥]

(१) समस्त शरीर और जीवनादिमें भी जो मुनि अनभिस्नेह है। जिसके होनेपर दूसरेके हानि-लाभका अपनेमें आरोप किया जाता है वह इस प्रकारकी अन्यविषयिणी, प्रेमकी पर्यायवाचिनी तामसी वृत्तिविशेष 'स्नेह' है; जो सब प्रकार उससे रहित हो वह अनभिस्नेह होता है; किन्तु भगवान् परमात्मामें तो उसे सर्वथा अभिस्नेहवान् होना ही चाहिये, क्योंकि यह समझ लेना चाहिये कि अनात्मामें जो स्नेहका अभाव है वह इसीके लिए है।

(२) तथा उस-उस प्रारब्धकर्मसे प्राप्त कराये हुए शुभ-सुखके हेतुभूत विषयके प्राप्त होनेपर जो अभिनन्दन—हर्षपूर्वक प्रशंसा नहीं करता तथा अशुभ—दुःखके हेतुभूत विषयके प्राप्त होनेपर द्वेष—आन्तरिक असूयापूर्वक निन्दा नहीं करता। अज्ञानीके लिये जो सुखकी हेतुभूत अपनी स्त्री आदि हैं वह शुभ विषय है, उसके गुणकथनादिमें प्रवृत्त करनेवाली बुद्धिकी भ्रान्तिरूपा वृत्ति 'अभिनन्द' कहलाती है। यह भी तमोमय ही है, क्योंकि उन स्त्री आदिके गुणकथनादि दूसरोंके लिये रुचिकर न होनेके कारण व्यर्थ ही हैं। इसी प्रकार असूया (ईर्ष्या) उत्पन्न करके दुःखके हेतु होनेके कारण दूसरोंके विद्यादिके उत्कर्ष इसके लिये अशुभ विषय हैं। उसकी निन्दादि में प्रवृत्त करनेवाली बुद्धिकी भ्रान्तिरूपा वृत्ति 'द्वेष' कही जाती है। यह भी तमोमय ही है, क्योंकि निन्दामें उस प्रकर्षादिके दूर करनेका सामर्थ्य न होनेसे वह व्यर्थ ही है। वे भ्रान्तिरूप तामस स्तुति और निन्दा शुद्धसत्त्वमय अभ्रान्त स्थितप्रज्ञमें किस प्रकार रह सकते हैं? इस स्थितिसे कोई चलायमान करनेवाला न होनेसे उस अनभिस्नेह—हर्षविषादशून्य मुनिकी परमात्मतत्त्वविषयिणी प्रज्ञा प्रतिष्ठित—अन्तमें फल प्राप्त करानेवाली होती है। अर्थात् वह मुनि स्थितप्रज्ञ होता है। इसी प्रकार अन्य मुमुक्षुको भी सर्वत्र स्नेहशून्य होना

(१) इदानीं किमासीतेति प्रश्नस्योत्तरं वक्तुमारभते भगवान्षड्भिः श्लोकैः । तत्र प्रारब्ध-कर्मवशाद्व्युत्थानेन विक्षिप्तानीन्द्रियाणि पुनरुपसंहृत्य समाध्यर्थमेव स्थितप्रज्ञस्योपवेशनमिति दर्शयितुमाह—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

(२) अयं व्युत्थितः सर्वशः सर्वाणीन्द्रियार्थेभ्यः शब्दादिभ्यः सर्वेभ्यः । चः पुनरर्थे । यदा संहरते पुनरुपसंहरति सङ्कोचयति । तत्र दृष्टान्तः कूर्मोऽङ्गानीव । तदा तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठितेति स्पष्टम् । पूर्वश्लोकाभ्यां व्युत्थानदशायामपि सकलतामसवृत्त्यभाव उक्तः । अधुना तु पुनः समाध्यव-स्थायां सकलवृत्त्यभाव इति विशेषः ॥ ५८ ॥

(३) ननु मूढस्यापि रोगादिवशाद्विषयेभ्य इन्द्रियाणामुपसंहरणं भवति तत्कथं तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठितेत्युक्तमत आह—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

चाहिये । अभिप्राय यह है कि शुभ प्राप्त होनेपर उसे प्रशंसा नहीं करनी चाहिये तथा अशुभ प्राप्त होनेपर निन्दा नहीं करनी चाहिये । यहाँ 'निन्दा-प्रशंसादिरूप वाणी न बोले' यह व्यतिरेक कहा गया है ॥ ५७ ॥

(१) अब 'वह किस प्रकार बैठता है ?' इस प्रश्नका छः श्लोकोंसे उत्तर देनेके लिये भगवान् आरम्भ करते हैं । यहाँ यह दिखानेके लिये कि प्रारब्ध कर्मवश व्युत्थानके द्वारा विक्षिप्त हुई इन्द्रियोंको पुनः संकुचित करके समाधिके लिये ही स्थितप्रज्ञका बैठना होता है—भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थः—जिस प्रकार कछुआ सब ओरसे अपने अंगोंको समेट लेता है उसी-प्रकार जब यह मुनि अपनी समस्त इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके विषयोंसे खींच लेता है तब समझना चाहिये कि उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है ॥ ५८ ॥]

(२) व्युत्थित होनेपर यह मुनि जब सर्वशः—समस्त इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके शब्दादि समस्त विषयोंसे पुनः संहृत—उपसंहृत अर्थात् संकुचित कर लेता है । यहाँ 'च' पुनःके अर्थमें है । कछुआ जैसे अपने अंगोंको—यह इसमें दृष्टान्त है । तब उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है—यह अर्थ स्पष्ट ही है । गत दो श्लोकोंसे व्युत्थान दशामें भी उसमें समस्त तामसी वृत्तियोंका अभाव दिखाया है, किन्तु यहाँ समाधि-अवस्थामें समस्त वृत्तियोंका ही अभाव दिखाया है—इतनी इसमें विशेषता है ॥ ५८ ॥

(३) 'किन्तु रोगादिके कारण मूढ पुरुषकी इन्द्रियोंका भी तो संकोच हो जाता है, तो फिर ऐसा क्यों कहा कि उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है ?' ऐसी यदि कोई शंका करे तो भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थः—इन्द्रियोंसे विषयोंको ग्रहण न करनेवाले मूढ पुरुषके विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु उनका राग नहीं जाता है । परन्तु परमपुरुषार्थका साक्षात्कार करके तो इस स्थितप्रज्ञका राग भी जाता रहता है ॥ ५९ ॥]

(१) निराहारस्येन्द्रियैर्विषयाननाहरतो देहिनो देहाभिमानवतो मूढस्यापि रोगिणः काष्ठ-तपस्विनो वा विषयाः शब्दादयो विनिवर्तन्ते किं तु रसवर्जं रसस्तृष्णा तं वर्जयित्वा । अज्ञस्य विषया निवर्तन्ते तद्विषयो रागस्तु न निवर्तत इत्यर्थः । अस्य तु स्थितप्रज्ञस्य परं पुरुषार्थं दृष्ट्वा तदेवाहमस्मीति साक्षात्कृत्य स्थितस्य रसोऽपि क्षुद्रसुखरागोऽपि निवर्तते । अपिशब्दाद्विषयाश्च । तथाच यावानर्थ इत्यादौ व्याख्यातम् । एवं च सरागविषयनिवृत्तिः स्थितप्रज्ञलक्षणमिति न मूढे व्यभिचार इत्यर्थः यस्मान्नासति परमात्मसम्यग्दर्शने सरागविषयोच्छेदस्तस्मात्सरागविषयोच्छेदिकायाः सम्यग्दर्शनात्मिकायाः प्रज्ञायाः स्थैर्यं महता यत्नेन सम्पादयेदित्यभिप्रायः ॥ ५९ ॥

(२) तत्र प्रज्ञास्थैर्ये बाह्येन्द्रियनिग्रहो मनोनिग्रहश्चासाधारणं कारणं तदुभयाभावे प्रज्ञानाशदर्शनादिति वक्तुं बाह्येन्द्रियनिग्रहाभावे प्रथमं दोषमाह—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

(३) हे कौन्तेय यततो भूयो भूयो विषयदोषदर्शनात्मकं यत्नं कुर्वतोऽपि, चक्षिङो ङित्त्व-करणादनुदात्तेतोऽनात्मनेपदमिति ज्ञापनात्परस्मैपदमविरुद्धम् । विपश्चितोऽत्यन्तविवेकिनोऽपि पुरुषस्य मनः क्षणमात्रं निर्विकारं कृतमपीन्द्रियाणि हरन्ति विकारं प्रापयन्ति ।

---

(१) निराहार—इन्द्रियोंसे विषयोंको ग्रहण न करनेवाले देही—देहाभिमानी मूढ पुरुषके अथवा रोगी या काठकी तरह पड़े रहनेवाले तपस्वीके शब्दादि विषय निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु रसवर्ज—रस अर्थात् तृष्णा उसे छोड़कर । तात्पर्य यह कि मूढ पुरुषके विषय तो छूट जाते हैं, किन्तु उनका राग नहीं जाता । परन्तु इस स्थितप्रज्ञका पर-पुरुषार्थको देख लेनेपर—'मैं वही हूँ' ऐसा साक्षात्कार करके स्थित होनेपर रस—क्षुद्र सुखसम्बन्धी राग भी निवृत्त हो जाता है । 'अपि' शब्द होनेसे 'विषय भी जाते रहते हैं' ऐसा समझना चाहिये । इसी प्रकार 'यावानर्थ उदपाने' इत्यादि श्लोकमें व्याख्या की है । इस प्रकार रागके सहित विषयकी निवृत्ति ही स्थितप्रज्ञका लक्षण है, इसीलिये मूढ पुरुषमें यह लागू नहीं हो सकता—ऐसा इसका अभिप्राय है । क्योंकि परमात्माका सम्यक् रीतिसे साक्षात्कार हुए बिना राग सहित विषयकी निवृत्ति नहीं हो सकती अतः तात्पर्य यह है कि राग सहित विषयका उच्छेद करनेवाली सम्यग्दर्शनरूप प्रज्ञाका महान् प्रयत्न करके सम्पा-दन करना चाहिये ॥ ५९ ॥

(२) प्रज्ञाकी स्थिरतामें बाह्य इन्द्रियोंका निग्रह और मनोनिग्रह असाधारण कारण हैं, क्योंकि इन दोनोंके न होनेपर ही प्रज्ञाका नाश देखा जाता है—यह बात बतानेके लिये पहले बाह्य इन्द्रियोंके निग्रहके अभावमें दोष बताते हैं—

[श्लोकार्थः—हे कुन्तिनन्दन ! विवेकी पुरुषके प्रयत्न करनेपर भी विवेकको नष्ट करनेवाली इन्द्रियाँ बलात्कारसे उसके मनको विकृत कर देती हैं ॥ ६० ॥]

(३) हे कौन्तेय ! यत्न करनेपर—बार-बार विषयोंमें दोष दर्शनरूप प्रयत्न करनेपर भी विपश्चित—अत्यन्त विवेकी पुरुषके मनको, क्षणमात्र निर्विकार किये जानेपर भी इन्द्रियाँ हर लेती—विकारको प्राप्त कर देती हैं । 'चक्षिङ्' धातुको ङित् करना यह सिद्ध

(१) ननु विरोधिनी विवेके सति कुतो विकारप्राप्तिस्तत्राऽऽह—प्रमाथीनि प्रथमनशीलानि अतिबलीयस्त्वाद्विवेकोपमर्दनक्षमाणि । अतः प्रसभं प्रसह्य बलात्कारेण पश्यत्येव विपश्चिति स्वामिनि विवेके च रक्षके सति सर्वप्रमाथीत्वादेवेन्द्रियाणि विवेकजप्रज्ञायां प्रविष्टं मनस्ततः प्रच्याव्य स्वविषयाविष्टत्वेन हरन्तीत्यर्थः । हिशब्दः प्रसिद्धिं द्योतयति । प्रसिद्धो ह्ययमर्थो लोके यथा प्रमाथिनो दस्यवः प्रसभमेव धनिनं धनरक्षकं चाभिभूय तयोः पश्यतोरेव धनं हरन्ति तथेन्द्रियाण्यपि विषयसन्निधाने मनो हरन्तीति ॥ ६० ॥

(२) एवं तर्हि तत्र कः प्रतीकार इत्यत आह—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

(३) तानीन्द्रियाणि सर्वाणि ज्ञानकर्मसाधनभूतानि संयम्य वशीकृत्य युक्तः समाहितो निगृहीतमनाः सन्नासीत निर्व्यापारस्तिष्ठेत् । प्रमाथिनां कथं स्ववशीकरणमिति चेत्तत्राऽऽह—मत्पर इति । अहं सर्वात्मा वासुदेव एव पर उत्कृष्ट उपादेयो यस्य स मत्पर एकान्तमद्भक्त इत्यर्थः । तथा चोक्तम्—'न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्' इति । यथा हि लोके बलवन्तं राजानमाश्रित्य

करता है कि अनुदात्तेत् धातुसे आत्मनेपद आवश्यक नहीं है' यह बताये जानेके कारण 'यततः'[1] में परस्मैपद विरुद्ध नहीं है ।

(१) 'किन्तु अपने विरोधी विवेकके रहते हुए उन्हें विकारकी प्राप्ति कैसे हो जाती है ?' इस शंकाका उत्तर देते हुए कहते हैं—'प्रमाथीनि'—प्रमथनशील अत्यन्त बलवती होनेके कारण विवेकको मथित करनेमें समर्थ । इसलिये प्रसभ—हठपूर्वक—बलात्कारसे अर्थात् विवेकी स्वामीके देखते हुए तथा विवेकरूप रक्षकके रहते हुए भी सबको मथित करनेवाली होनेके कारण ही इन्द्रियाँ विवेकज प्रज्ञामें प्रविष्ट हुए मनको वहाँसे च्युत करके अपने विषयोंसे आविष्ट करते हुए हर लेती हैं । यहाँ 'हि' शब्द प्रसिद्धिको द्योतित करता है । अर्थात् लोकमें यह बात प्रसिद्ध ही है कि जिस प्रकार प्रमाथी लुटेरे बलात्कारसे धनी और धनके रक्षकोंको काबूमें करके उनके देखते-देखते ही धनको ले जाते हैं उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी मनको विषयोंके पास ले जाती हैं ॥ ६० ॥

(२) 'ऐसी बात है, तो फिर उन्हें रोकनेका क्या उपाय है ?' इसपर कहते हैं—

[श्लोकार्थः—उन सब इन्द्रियोंको वशमें करके, मनको समाहित कर, मेरा अनन्य भक्त होकर निश्चेष्ट भावसे स्थित रहे; क्योंकि जिसके वशमें इन्द्रियाँ होती हैं उसीकी बुद्धि प्रतिष्ठित होती है ॥ ६१ ॥]

(३) ज्ञान और कर्मकी साधनभूत उन समस्त इन्द्रियोंका संयम कर—उन्हें अपने वशमें कर युक्त—समाहित अर्थात् निगृहीतचित्त होकर निर्व्यापाररूपसे स्थित रहे । यदि कहो कि प्रमथनशील इन्द्रियोंको अपने अधीन कैसे किया जाय तो इसपर कहते हैं—मत्परः । मैं सर्वात्मा वासुदेव ही जिसके लिये पर—उत्कृष्ट उपादेय हूँ वह मत्पर अर्थात् मेरा एकान्त भक्त है । ऐसा ही कहा भी है—'जो भगवान् वासुदेवके भक्त हैं उसका कहीं

---

१. यद्यपि 'यती प्रयत्ने' धातु का इकार अनुदात्त है, अनुदात्तेत् धातुसे आत्मनेपद प्रत्यय (शानच्) होता है अतः 'यततः' के स्थान पर 'यतमानस्य' प्रयोग होना चाहिए, तथापि 'चक्षिङ्' धातुमें 'ङ्' अनुबन्ध यह ज्ञापित करता है कि अनुदात्तेत् धातुसे आत्मनेपद प्रत्ययका होना अनिवार्य नहीं, इसलिए 'यती' धातु से परस्मैपद 'शतृ' प्रत्यय होकर षष्ठी विभक्तिमें 'यततः' प्रयोग ठीक है ।

दस्यवो निगृह्यन्ते राजाश्रितोऽयमिति ज्ञात्वा च स्वयमेव तद्वश्या भवन्ति तथैव भगवन्तं सर्वान्तर्यामिणमाश्रित्य तत्प्रभावेणैव दुष्टानीन्द्रियाणि निग्राह्याणि पुनश्च भगवदाश्रितोऽयमिति मत्वा तानि तद्वश्यान्येव भवन्तीति भावः । यथा च भगवद्भक्तेर्महाप्रभावत्वं तथा विस्तरेणाग्रे व्याख्यास्यामः । इन्द्रियवशीकारे फलमाह—वशे हीति । स्पष्टम् । तदेतद्वशीकृतेन्द्रियः सन्नासीतेति किमासीतेति प्रश्नस्योत्तरमुक्तं भवति ॥ ६१ ॥

(१) ननु मनसो बाह्येन्द्रियप्रवृत्तिद्वाराऽनर्थहेतुत्वं निगृहीतबाह्येन्द्रियस्य तूल्खातदंष्ट्रोरगवन्मनस्यनिगृहीतेऽपि न काऽपि क्षतिर्बाह्योद्योगाभावेनैव कृतकृत्यत्वादतो युक्त आसीतेति व्यर्थमुक्तमित्याशङ्क्य निगृहीतबाह्येन्द्रियस्यापि युक्तत्वाभावे सर्वानर्थप्राप्तिमाह द्वाभ्याम्—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

(२) निगृहीतबाह्येन्द्रियस्यापि शब्दादीन्विषयान्ध्यायतो मनसा पुनः पुनश्चिन्तयतः पुंसस्तेषु

अशुभ नहीं होता ।' जिस प्रकार लोकमें किसी बलवान् राजाका आश्रय लेकर लुटेरोंका दमन किया जाता है और वे यह समझ कर कि इसने राजाका आश्रय ले रक्खा है स्वयं ही उसके अधीन हो जाते हैं उसी प्रकार सर्वान्तर्यामी श्रीभगवान्का आश्रय लेकर उन्हींके प्रभावसे दुष्ट इन्द्रियोंका दमन करना चाहिये । फिर तो 'यह भगवान्के आश्रित है' यह जानकर वे स्वयं ही उसके अधीन हो जाती हैं—ऐसा इसका भाव है । भगवद्भक्तिका किस प्रकार महान् प्रभाव है—इसकी व्याख्या हम विस्तारसे आगे करेंगे । 'वशे हि' इत्यादिसे इन्द्रियोंको वशमें करनेका फल बताया गया है । इसका अर्थ स्पष्ट है । इस प्रकार इन्द्रियोंको वशमें करके स्थित हो—यह 'किमासीत' इस प्रश्नका उत्तर कहा गया है ॥ ६१ ॥

(१) 'किन्तु मन तो बाह्य इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिके द्वारा ही अनर्थका कारण होता है, जिसने बाह्य इन्द्रियोंका निग्रह कर लिया है उसकी तो, दाँत उखाड़े हुए सर्पके समान मनके निगृहीत न होनेपर भी, कोई क्षति नहीं हो सकती; क्योंकि बाह्य उद्योगका अभाव होनेसे ही वह तो कृतकृत्य हो जाता है । इसीलिये 'मनका निग्रह करके स्थित रहे' यह तो व्यर्थ ही कहा है ।' ऐसी आशंका करके भगवान् दो श्लोकोंसे जिसने बाह्य इन्द्रियोंका निग्रह कर लिया है उस पुरुषको भी मनोनिग्रहके बिना समस्त अनर्थोंकी प्राप्ति बताते हैं—

[श्लोकार्थः—विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उनमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उनकी कामना होती है, कामनाके विघातसे क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे कार्य-अकार्यका अविवेकरूप मोह होता है, मोहसे स्मृति विचलित हो जाती है, स्मृतिके विचलित होनेसे बुद्धिका नाश होता है और बुद्धिका नाश होनेसे पुरुषका नाश हो जाता है ॥ ६२-६३ ॥]

(२) जिसने बाह्य इन्द्रियोंका निग्रह कर लिया है उस पुरुषके शब्दादि विषयोंका

विषयेषु सङ्ग आसङ्गो ममात्यन्तं सुखहेतव एत इत्येवंशोभनाध्यासलक्षणः प्रीतिविशेष उपजायते सङ्गात्सुखहेतुत्वज्ञानलक्षणात्संजायते कामो ममैते भवन्त्विति तृष्णाविशेषः। तस्मात्कामात्कृतश्चिद्व्यतिहन्यमानात्तत्प्रतिघातकविषयः क्रोधोऽभिज्वलनात्मोऽभिजायते। क्रोधाद्भवति संमोहः कार्याकार्यविवेकाभावरूपः। संमोहात्स्मृतिविभ्रमः स्मृतेः शास्त्राचार्योपदिष्टार्थानुसन्धानस्य विभ्रमो विचलनं विभ्रंशः। तस्माच्च स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धेरैकात्म्याकारमनोवृत्तेर्नाशो विपरीतभावनोपचयदोषेण प्रतिबन्धादनुत्पत्तिरुत्पन्नायाश्च फलायोग्यत्वेन विलयः। बुद्धिनाशात्प्रणश्यति तस्याश्च फलभूताया बुद्धेर्विलोपात्प्रणश्यति सर्वपुरुषार्थायोग्यो भवति। यो हि पुरुषार्थायोग्यो जातः स मृत एवेति लोके व्यवह्रियते। अतः प्रणश्यतीत्युक्तम्। यस्मादेवं मनसो निग्रहाभावे निगृहीतबाह्येन्द्रियस्यापि परमानर्थप्राप्तिस्तस्मान्महता प्रयत्नेन मनो निगृह्णीयादित्यभिप्रायः। अतो युक्तमुक्तं तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीतेति ॥

(१) मनसि निगृहीते तु बाह्येन्द्रियनिग्रहाभावेऽपि न दोष इति वदन् किं व्रजेतेत्यस्योत्तरमाहाष्टभिः—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

ध्यान करनेपर—मनसे बार-बार चिन्तन करनेपर उन विषयोंमें उसका संग—आसक्ति अर्थात् ये मेरे अत्यन्त सुखके कारण हैं—इस प्रकारकी शोभन-अध्यासरूपा प्रीतिविशेष उत्पन्न हो जाती है। उस सुखहेतुत्व ज्ञानरूप संगसे काम—'ये मेरे हो जायँ' इस प्रकारकी तृष्णा विशेष उत्पन्न होती है। उस कामसे—जब किसीके द्वारा उसका विघात होता है तो उस विघातकके प्रति जलन पैदा करनेवाला क्रोध प्रकट हो जाता है। क्रोधसे कर्तव्याकर्तव्यके विवेकका अभावरूप संमोह होता है और संमोहसे स्मृतिविभ्रम स्मृति अर्थात् शास्त्र और आचार्य द्वारा उपदेश किये हुए अर्थके अनुसन्धानका विभ्रम विचलित हो जाना या गिर जाना और उस स्मृति भ्रंशसे बुद्धि—आत्मैक्याकार मनोवृत्तिका नाश हो जाता है। विपरीत भावनासे बढ़े हुए दोषसे उसमें रोक पड़ती है, रोक पड़नेसे वह वृत्ति उत्पन्न नहीं होती और उत्पन्न न होनेसे फल देनेमें समर्थ न होनेके कारण उसका लय हो जाता है तथा बुद्धि नाशसे पुरुष नष्ट हो जाता है। उस फलभूता वृत्तिका लोप होनेसे वह नष्ट अर्थात् सम्पूर्ण पुरुषार्थके अयोग्य हो जाता है। जो पुरुष पुरुषार्थके योग्य नहीं रहता वह मरा ही है—ऐसा लोकमें व्यवहार किया जाता है। इसीलिये उसे 'नष्ट हो जाता है' ऐसा कहा है। क्योंकि इस प्रकार मनका निग्रह न होनेपर बाह्य इन्द्रियोंका निग्रह कर लेनेवालेको भी महान् अनर्थकी प्राप्ति होती है इसलिये अत्यन्त प्रयत्न करके मनका निग्रह करना चाहिये—ऐसा इसका अभिप्राय है। अतः 'उन सबका निग्रह करके मनके संयमपूर्वक स्थित रहे' यह ठीक ही कहा है ॥ ६२-६३ ॥

(१) 'मनका निग्रह हो जानेपर तो बाह्य इन्द्रियोंका निग्रह न होनेमें भी कोई दोष नहीं है' यह कहते हुए आठ श्लोकोंसे 'वह किस प्रकार विषयोंको प्राप्त करता है ?' इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

[श्लोकार्थः—जिसने अपने चित्तको वशमें कर लिया है वह पुरुष तो अपने अधीनकी हुई अपनी राग-द्वेषहीन इन्द्रियोंसे अनिषिद्ध विषयोंको ग्रहण करता हुआ मनकी प्रसन्नता प्राप्त करता है ॥ ६४ ॥]

(१) योऽसमाहितचेताः स बाह्येन्द्रियाणि निगृह्यापि रागद्वेषदुष्टेन मनसा विषयांश्चिन्तयन्पुरुषार्थाद्भ्रष्टो भवति। विधेयात्मा तु तुशब्दः पूर्वस्माद्व्यतिरेकार्थः। वशीकृतान्तःकरणस्तु आत्मवश्यैर्मनोधीनैः स्वाधीनैरिति वा रागद्वेषाभ्यां वियुक्तैर्विरहितैरिन्द्रियैः श्रोत्रादिभिर्विषयान्शब्दादीननिषिद्धांश्चरन्नुपलभमानः प्रसादं प्रसन्नतां चित्तस्य स्वच्छतां परमात्मसाक्षात्कारयोग्यतामधिगच्छति। रागद्वेषप्रयुक्तानीन्द्रियाणि दोषहेतुतां प्रतिपद्यन्ते। मनसि स्ववशे तु न रागद्वेषौ। तयोरभावे च न तदधीनेन्द्रियप्रवृत्तिः। अवर्जनीयतया तु विषयोपलम्भो न दोषमावहतीति न शुद्धिव्याघात इति भावः।

(२) एतेन विषयाणां स्मरणमपि चेदनर्थकारणं सुतरां तर्हि भोगस्तेन जीवनार्थं विषयान्भुञ्जानः कथमनर्थं न प्रतिपद्येतेति शङ्का निरस्ता। स्वाधीनैरिन्द्रियैर्विषयान्प्राप्नोतीति च किं व्रजेतेति प्रश्नस्योत्तरमुक्तं भवति ॥ ६४ ॥

(३) प्रसादमधिगच्छतीत्युक्तं तत्र प्रसादे सति किं स्यादित्युच्यते—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

(४) चित्तस्य प्रसादे स्वच्छत्वरूपे सति सर्वदुःखानामाध्यात्मिकादीनामज्ञानविलसितानां

(१) जो पुरुष असमाहितचित्त है वह बाह्य इन्द्रियोंका निग्रह कर लेनेपर भी अपने राग-द्वेष दूषित मनसे विषयोंका चिन्तन करते रहनेसे पुरुषार्थसे भ्रष्ट हो जाता है। विधेयात्मा तो—यहाँ 'तु' शब्द पूर्व कथितसे इसका व्यतिरेक करनेके लिये है—जिसने अपने अन्तःकरणको वशमें कर लिया है वह पुरुष तो आत्मवश्य—मनके अधीन अथवा अपने अधीन हुई राग-द्वेषसे वियुक्त—विरहित श्रोत्रादि इन्द्रियों द्वारा शब्दादि अनिषिद्ध विषयोंमें जाता हुआ—उन्हें उपलब्ध करता हुआ प्रसाद—प्रसन्नता—चित्तकी स्वच्छता अर्थात् परमात्मा के साक्षात्कारकी योग्यता प्राप्त करता है। राग-द्वेषसे प्रेरित हुई इन्द्रियाँ ही दोषकी कारण होती हैं। जब मन अपने अधीन हो जाता है तो राग-द्वेष रहते नहीं हैं; अतः उनका अभाव हो जानेसे इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति भी उनके अधीन नहीं रहती। देहयात्रामें उपयोगी होनेके कारण जिसका त्याग नहीं किया जा सकता उस विषयकी उपलब्धि दोषावह भी नहीं होती, इसीलिये इससे अन्तःकरणकी शुद्धिमें कोई बाधा नहीं आती—ऐसा इसका भाव है।

(२) इस कथनसे इस शंकाका निराकरण हो जाता है कि 'यदि विषयोंका स्मरण भी अनर्थका कारण है तो उनके भोगकी तो बात ही क्या है ? फिर जीवन धारण करनेके लिये विषयोंका भोग करनेपर भी उसे अनर्थ की प्राप्ति क्यों नहीं होती ?' इस प्रकार अपने अधीनकी हुई इन्द्रियोंसे वह विषयोंको ग्रहण करता है—यह 'किं व्रजेत' इस प्रश्नका उत्तर दिया गया ॥ ६४ ॥

(३) 'प्रसादको प्राप्त होता है' यह कहा गया, अब प्रसाद होनेपर क्या होता है—सो बताया जाता है—

[श्लोकार्थः—चित्तकी स्वच्छता होनेपर इसके सब दुःखोंका नाश हो जाता है, क्योंकि प्रसन्नचित्त मुनिकी बुद्धि तुरन्त ही ब्रह्माकारा होकर सब ओर स्थित हो जाती है ॥ ६५ ॥]

(४) चित्तका स्वच्छतारूप प्रसाद होनेपर अज्ञानके विलाससे होनेवाले यतिके आध्यात्मिक आदि सभी दुःखोंकी हानि अर्थात् विनाश हो जाता है, क्योंकि प्रसन्नचित्त

हानिर्विनाशोऽस्य यतेरुपजायते। हि यस्मात्प्रसन्नचेतसो यतेराशु शीघ्रमेव बुद्धिर्ब्रह्मात्मैक्याकारा पर्यवतिष्ठते परिसमन्तादवतिष्ठते स्थिरा भवति विपरीतभावनादिप्रतिबन्धाभावात्। ततश्च प्रसादे सति बुद्धिपर्यवस्थानं ततस्तद्विरोध्यज्ञाननिवृत्तिः। ततस्तत्कार्यसकलदुःखहानिरिति क्रमेऽपि प्रसादे यत्नाधिक्याय सर्वदुःखहानिकरत्वकथनमिति न विरोधः ॥ ६५ ॥

(१) इममेवार्थं व्यतिरेकमुखेन(ण) द्रढयति—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

(२) अयुक्तस्याजितचित्तस्य बुद्धिरात्मविषया श्रवणमननाख्यवेदान्तविचारजन्या नास्ति नोत्पद्यते। तदबुद्धयभावे न चायुक्तस्य भावना निदिध्यासनात्मिका विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपा। सर्वत्र नञोऽस्तीत्यनेनान्वयः। न चाभावयत आत्मानं शान्तिः सकार्याविद्यानिवृत्तिरूपा वेदान्तवाक्यजन्या ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कृतिः। अशान्तस्याऽऽत्मसाक्षात्कारशून्यस्य कुतः सुखं मोक्षानन्द इत्यर्थः ॥ ६६ ॥

(३) अयुक्तस्य कुतो नास्ति बुद्धिरित्यत आह—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

यतिकी बुद्धि ब्रह्मात्मैक्याकार होकर आशु—शीघ्र ही पर्यवस्थित—परि अर्थात् सब ओरसे अवस्थित—स्थिर हो जाती है, क्योंकि उसके विपरीत भावना आदि सभी प्रतिबन्धोंका अभाव हो जाता है। इस प्रकार प्रसाद होनेपर बुद्धिकी स्थिति होती है, उससे उसका विरोधी अज्ञान निवृत्त होता है और फिर अज्ञानके कार्य सम्पूर्ण दुःखोंका नाश होता है। ऐसा काम करनेपर भी प्रसादके लिये विशेष प्रयत्न करनेके लिये उसे समस्त दुःखोंकी हानि करनेवाला कहा है—इसलिये इसमें विरोध नहीं है ॥ ६५ ॥

(१) इसी बातकी व्यतिरेक पूर्वक पुष्टि करते हैं—

[श्लोकार्थः—असमाहित चित्तको वेदान्तविचार जनित बुद्धि नहीं होती, वह बुद्धि न होनेसे उसे निदिध्यासनरूपा भावना नहीं हो सकती तथा वैसी भावना न करनेवालेको शान्ति नहीं होती और जिसे शान्ति नहीं है उसे सुख कैसे हो सकता है ? ॥ ६६ ॥]

(२) अयुक्त—अजितचित्त पुरुषको श्रवण मनन रूप वेदान्त विचारसे उत्पन्न होनेवाली आत्मविषयिणी बुद्धि उत्पन्न नहीं होती। उस बुद्धिके न होनेपर अयुक्त पुरुषको विजातीय प्रत्ययोंसे रहित सजातीय प्रत्ययकी प्रवाहरूपा निदिध्यासनात्मिका भावना नहीं होती। यहाँ सभी जगह 'न' का 'अस्ति' के साथ अन्वय है। तथा आत्माकी भावना न करनेवालेको शान्ति—कार्यसहित अविद्याकी निवृत्तिरूपा वेदान्तवाक्यजनित ब्रह्मात्मैक्यकी अनुभूति नहीं होती। तथा जो अशान्त अर्थात् आत्मसाक्षात्कारसे शून्य है उसे सुख अर्थात् मुक्तिका आनन्द कहाँ हो सकता है ? ॥ ६६ ॥

(३) असमाहितचित्त पुरुषको बुद्धि क्यों नहीं होती ?—सो बताते हैं—

[श्लोकार्थः—क्योंकि इन्द्रियोंके अपने-अपने विषयोंमें जानेपर जिस इन्द्रियका मन अनुसरण करने लगता है वह इस असंयतचित्त पुरुषकी बुद्धिको इस प्रकार हर लेती है जैसे जलके भीतर वायु नावको ॥ ६७ ॥]

(१) चरतां स्वविषयेषु प्रवर्तमानानामवशीकृतानामिन्द्रियाणां मध्ये यदेकमपीन्द्रियमनुलक्षीकृत्य मनो विधीयते प्रेर्यते प्रवर्तत इति यावत्। कर्मकर्तरि लकारः। तदिन्द्रियमेकमपि मनसाऽनुसृतस्य साधकस्य मनसो वा प्रज्ञामात्मविषयां शास्त्रीयां हरति अपनयति मनसस्तद्विषयाविष्टत्वात्। यदैकमपीन्द्रियं प्रज्ञां हरति तदा सर्वाणि हरन्तीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः।

(२) दृष्टान्तस्तु स्पष्टः। अम्भस्येव वायोर्नौकाहरणसामर्थ्यं न भुवीति सूचयितुमम्भसीत्युक्तम्। एवं दार्ष्टान्तिकेऽप्यम्भःस्थानीये मनश्चाञ्चल्ये सत्येव प्रज्ञाहरणसामर्थ्यमिन्द्रियस्य न तु भूस्थानीये मनःस्थैर्ये इति सूचितम् ॥ ६७ ॥

(३) हि यस्मादेवम्—

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

(४) सर्वशः सर्वाणि समनस्कानि। हे महाबाहो, इति सम्बोधयन्सर्वशत्रुनिवारणक्षमत्वादिन्द्रियशत्रुनिवारणेऽपि त्वं क्षमोऽसीति सूचयति। स्पष्टमन्यत्। तस्येति सिद्धस्य साधकस्य च परामर्शः। इन्द्रियसंयमस्य स्थितप्रज्ञं प्रति लक्षणत्वस्य मुमुक्षुं प्रति प्रज्ञासाधनत्वस्य चोपसंहरणीयत्वात् ॥ ६८ ॥

(१) चलती हुई अर्थात् अपने-अपने विषयोंमें प्रवृत्त होती हुई अस्वाधीन इन्द्रियोंमेंसे जिस एक इन्द्रियके भी पीछे—उसीको लक्ष्य करके मन विधीयते—प्रेरित होता अर्थात् प्रवृत्त होता है—'विधीयते' इस क्रियापदमें कर्मकर्तरि प्रयोगमें लट् लकार है—वह इन्द्रिय एक होनेपर भी मनके अनुसरण करनेसे इस साधक या मनकी आत्मविषयिणी शास्त्रीय प्रज्ञाको हर लेती अर्थात् दूर ले जाती है, क्योंकि मन उसी विषयमें रंग जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब एक ही इन्द्रिय बुद्धिको हर लेती है तो सब मिलकर हर लेती हैं—इस विषयमें तो कहना ही क्या है ?

(२) दृष्टान्त तो स्पष्ट ही है। वायुमें नौकाको हरनेका सामर्थ्य जलमें ही होता है, पृथ्वीपर नहीं—यह बात सूचित करनेके लिये 'अम्भसि' ऐसा कहा है। इसी प्रकार दार्ष्टान्तमें भी 'जलस्थानीय मनकी चञ्चलता होनेपर ही इन्द्रियमें प्रज्ञाको हरनेका सामर्थ्य हो सकता है, पृथ्वीस्थानीय मनकी स्थिरता होनेपर नहीं' यह सूचित किया गया है ॥ ६७ ॥

(३) क्योंकि ऐसा है—

[श्लोकार्थः—इसलिये हे महाबाहो ! जिसकी मनके सहित सभी इन्द्रियाँ अपने विषयोंसे निगृहीत होती हैं उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित होती है ॥ ६८ ॥]

(४) सर्वशः—मन के सहित समस्त इन्द्रियाँ 'हे महाबाहो' ! ऐसा सम्बोधन करके यह सूचित करते हैं कि समस्त शत्रुओंका निवारण करनेमें समर्थ होनेके कारण तुम इन्द्रियरूप शत्रुओंका निग्रह करनेमें भी समर्थ हो। शेष अर्थ स्पष्ट है। 'तस्य' इस पदसे सिद्ध और साधकका परामर्श किया गया है, क्योंकि स्थितप्रज्ञके लिये लक्षणरूप और साधकके लिये प्रज्ञाके साधनरूप इन्द्रियनिग्रहका उपसंहार करना है ॥ ६८ ॥

(१) तदेवं मुमुक्षुणा प्रज्ञास्थैर्याय प्रयत्नपूर्वकमिन्द्रियसंयमः कर्तव्य इत्युक्तं स्थितप्रज्ञस्य तु स्वतः सिद्ध एव सर्वेन्द्रियसंयम इत्याह—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

(२) या वेदान्तवाक्यजनितसाक्षात्काररूपाऽहं ब्रह्मास्मीति प्रज्ञा सर्वभूतानामज्ञानां निशेव निशा तान्प्रत्यप्रकाशरूपत्वात् । तस्यां ब्रह्मविद्याख्यायां सर्वभूतनिशायां जागर्ति अज्ञाननिद्रायाः प्रबुद्धः सन्सावधानो वर्तते संयमीन्द्रियसंयमवान्स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः । यस्यां तु द्वैतदर्शनलक्षणायाम-विद्यानिद्रायां प्रसुप्तान्येव भूतानि जाग्रति स्वप्नवद्व्यवहरन्ति सा निशा न प्रकाशत आत्मतत्त्वं पश्यतोऽपरोक्षतया मुनेः स्थितप्रज्ञस्य । यावद्धि न प्रबुध्यते तावदेव स्वप्नदर्शनं बोधपर्यन्तत्वाद् भ्रमस्य । तत्त्वज्ञानकाले तु न भ्रमनिमित्तः कश्चिद्व्यवहारः । तदुक्तं वार्तिककारैः—

'कारकव्यवहारे हि शुद्धं वस्तु न वीक्ष्यते । शुद्धे वस्तुनि सिद्धे च कारकव्यावृत्तिस्तथा ।
काकोलूकनिशेवायं संसारोऽज्ञात्मवेदिनोः । या निशा सर्वभूतानामित्यवोचत्स्वयं हरिः ॥' इति ।

(३) तथा च यस्य विपरीतदर्शनं तस्य न वस्तुदर्शनं विपरीतदर्शनस्य वस्त्वदर्शनजन्य-त्वात् । यस्य च वस्तुदर्शनं तस्य न विपरीतदर्शनं विपरीतदर्शनकारणस्य वस्त्वदर्शनस्य वस्तुदर्शनेन

(१) इस प्रकार यह बताया गया कि मुमुक्षुको प्रज्ञाकी स्थिरताके लिये प्रयत्नपूर्वक 'इन्द्रिय-संयम करना चाहिये, अब यह बताते हैं कि—स्थितप्रज्ञको तो स्वतः ही समस्त इन्द्रियोंका संयम प्राप्त होता है—

[श्लोकार्थ :—जो (ब्रह्मसाक्षात्काररूपा बुद्धि अप्रकाशरूपा होनेके कारण) समस्त प्राणियोंके लिये रात्रिका स्थान है उसमें इन्द्रियसंयमवान् स्थितप्रज्ञ जागता है और जिस (अविद्या-निद्रा) में पड़े हुए अन्य प्राणी जग रहे हैं (स्वप्नके समान व्यवहार कर रहे हैं) वह आत्मदर्शन करनेवाले मुनिके लिये रात्रिरूप होती है ॥ ६९ ॥]

(२) 'या' = जो वेदान्तवाक्यजनित साक्षात्काररूपा 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी बुद्धि समस्त अज्ञानी जीवोंके लिये, उनके प्रति अप्रकाशरूपा होनेके कारण, रात्रिके समान रात्रि है, उस ब्रह्मविद्यारूप समस्त जीवोंकी रात्रिमें संयमी अर्थात् इन्द्रियसंयमवान् स्थितप्रज्ञ जागता है अर्थात् अज्ञान-निद्रासे जगकर सावधान रहता है । तथा जिस द्वैतदर्शनरूपा अविद्या-निद्रामें सोये हुए भी प्राणी जागते रहते हैं—स्वप्नके समान व्यवहार करते रहते हैं वह आत्मतत्त्वका अपरोक्षरूपसे साक्षात्कार करनेवाले स्थितप्रज्ञ मुनिके लिये रात्रि है—उसे प्रकाशित नहीं होती, क्योंकि जबतक पुरुष नहीं जागता तभी तक उसे स्वप्न दिखायी देता है, कारण कि भ्रम तभीतक रहता है जबतक उसका मिथ्यात्व निश्चय नहीं होता । तत्त्वज्ञानके समय तो कोई भ्रमजनित व्यवहार रहता ही नहीं है । ऐसा ही वार्तिककारने भी कहा है—'कर्तादि कारकोंका व्यवहार रहते शुद्ध वस्तुका दर्शन नहीं हो सकता तथा शुद्ध वस्तुका साक्षात्कार होनेपर कारकोंका व्यवहार नहीं रहता । यह संसार अज्ञानीके लिये उल्लू और आत्मज्ञके लिये कौएकी रात्रिके समान है । यह बात 'या निशा सर्वभूतानाम्' इत्यादि वाक्यसे स्वयं श्रीभगवान्‌ने कही है ।'

(३) इस प्रकार जिसे विपरीत ज्ञान होता है उसे यथार्थ वस्तुका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि विपरीत ज्ञान वस्तुके अज्ञानसे ही उत्पन्न होता है और जिसे वस्तुका

बाधितत्वात् । तथा च श्रुतिः 'यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत् । यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इति विद्याविद्ययोर्व्यवस्थामाह । यथा काकस्य रात्र्यन्धस्य दिनमुलूकस्य दिवान्धस्य निशा रात्रौ पश्यतश्चोलूकस्य यद्दिनं रात्रिरेव सा काकस्येति महदाश्चर्यमेतत् । अतस्तत्त्वदर्शिनः कथमा-विद्यकक्रियाकारकादिव्यवहारः स्यादिति स्वतः सिद्ध एव तस्येन्द्रियसंयम इत्यर्थः ॥ ६९ ॥

(१) एतादृशस्य स्थितप्रज्ञस्य सर्वविक्षेपशान्तिरप्यर्थसिद्धेति सदृष्टान्तमाह—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

(२) सर्वाभिर्नदीभिरापूर्यमाणं सन्तं वृष्ट्यादिप्रभवा अपि सर्वा आपः समुद्रं प्रविशन्ति । कीदृशमचलप्रतिष्ठमनतिक्रान्तमर्यादम् । अचलानां मैनाकादीनां प्रतिष्ठा यस्मिन्निति वा गाम्भीर्यातिशय उक्तः । यद्वत्येन प्रकारेण निर्विकारत्वेन तद्वत्तेनैव निर्विकारत्वप्रकारेण यं स्थितप्रज्ञं निर्विकारमेव सन्तं कामा अज्ञैर्लोकैः काम्यमानाः शब्दाद्याः सर्वे विषया अवर्जनीयतया प्रारब्धकर्मवशात्प्रविशन्ति न तु विकर्तुं शक्नुवन्ति स महासमुद्रस्थानीयः स्थितप्रज्ञः शान्तिं सर्वलौकिकालौकिककर्मविक्षेपनिवृत्तिं

ज्ञान होता है उसे विपरीत ज्ञान नहीं होता, क्योंकि विपरीत ज्ञानका कारण वस्तुका अज्ञान वस्तुके ज्ञानसे बाधित हो जाता है । ऐसा ही श्रुति भी कहती है—'जहाँ कोई अन्य जैसी वस्तु होती है वहीं अन्य अन्यको देखता है, किन्तु जहाँ इसके लिये सब कुछ आत्मस्वरूप ही हो गया है वहाँ यह किसके द्वारा किसे देखे ?' विद्या और अविद्याकी ऐसी व्यवस्था बताते हैं—जिस प्रकार रात्रिके अन्धे कौएका दिन, दिनमें अन्धे रहनेवाले उल्लूकी रात है और रात्रिमें देखनेवाले उल्लूका जो दिन है वह कौएकी रात ही है—इस प्रकार यह बड़ा ही आश्चर्य है । अतः तत्त्वदर्शीका अविद्याजनित क्रिया-कारकादि व्यवहार कैसे रह सकता है, इसलिये तात्पर्य यह है कि उसका इन्द्रियसंयम तो स्वतःसिद्ध ही है ॥ ६९ ॥

(१) इस प्रकारके स्थितप्रज्ञके समस्त विक्षेपोंकी शान्ति भी स्वभावसे ही हो जाती है—यह बात दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—

[श्लोकार्थः—जिस प्रकार नदियोंके द्वारा चारों ओरसे भरे जाते हुए किन्तु अपनी मर्यादाका त्याग न करनेवाले समुद्रमें वर्षा आदिके जल भी प्रवेश कर जाते हैं, वैसे ही जिसमें शब्दादि सम्पूर्ण विषय प्रवेश करते हैं वही शान्ति पाता है, विषयोंकी कामना करनेवाला नहीं ॥ ७० ॥]

(२) समस्त नदियोंसे चारों ओरसे भरे जाते हुए समुद्रमें यद्वत्—जिस प्रकार निर्विकाररूपसे वर्षा आदिके कारण होनेवाले जल भी प्रवेश कर जाते हैं; कैसे समुद्रमें ? अचल प्रतिष्ठ अर्थात् मर्यादाका अतिक्रमण न करनेवालेमें, अथवा 'जिसमें मैनाक आदि अचलों (पर्वतों)की प्रतिष्ठा है' इस प्रकार उसकी गम्भीरताकी अधिकता बतायी गयी है; तद्वत्—उसी प्रकार निर्विकाररूपसे जिस निर्विकार रहनेवाले स्थितप्रज्ञमें समस्त काम—अज्ञानी लोग जिनकी कामना करते हैं वे शब्दादि सम्पूर्ण विषय प्रारब्धकर्मवश अपरिहार्य होनेके कारण प्रवेश करते हैं, किन्तु उसके चित्तमें विकार उत्पन्न नहीं कर सकते, वह महासमुद्रस्थानीय स्थितप्रज्ञ अपने ज्ञानके बलसे शान्ति अर्थात् समस्त

बाधितानुवृत्तावविद्याकार्यनिवृत्तिं चाऽऽप्नोति ज्ञानबलेन । न कामकामी कामान्विषयान्कामयितुं शीलं यस्य स कामकाम्यशः शान्तिं व्याख्यातां नाऽऽप्नोति । अपि तु सर्वदा लौकिकालौकिककर्मविक्षेपेण महति क्लेशार्णवे मग्नो भवतीति वाक्यार्थः । एतेन ज्ञानिन एव फलभूतो विद्वत्संन्यासस्तस्यैव च सर्वविक्षेपनिवृत्तिरूपा जीवन्मुक्तिर्दैवाधीनविषयभोगेऽपि निर्विकारतेत्यादिकमुक्तं वेदितव्यम् ॥ ७० ॥

(१) यस्मादेवं तस्मात्—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

(२) प्राप्तानपि सर्वान्बाह्यान्गृहक्षेत्रादीनान्तरान्मनोराज्यरूपान्वासनामात्ररूपांश्च पथि गच्छंस्तृणस्पर्शरूपान्कामांस्त्रिविधान्निहायोपेक्ष्य शरीरजीवनमात्रेऽपि निस्पृहः सन् । यतो निरहंकारः शरीरेन्द्रियादावयमहमित्यभिमानशून्यः, विद्यावत्त्वादिनिमित्तात्मसम्भावनारहित इति वा । अतो निर्ममः शरीरयात्रामात्रार्थेऽपि प्रारब्धकर्मात्तिसे कौपीनाच्छादनादौ ममेदमित्यभिमानवर्जितः सन्यः पुमांश्चरति प्रारब्धकर्मवशेन भोगान्भुङ्क्ते यादृच्छिकतया यत्र क्वापि गच्छतीति वा । स एवंभूतः स्थितप्रज्ञः शान्तिं सर्वसंसारदुःखोपरमलक्षणामविद्यातत्कार्यनिवृत्तिमधिगच्छति ज्ञानबलेन प्राप्नोति । तदेतदीदृशं व्रजनं स्थितप्रज्ञस्येति चतुर्थप्रश्नस्योत्तरं परिसमाप्तम् ॥ ७१ ॥

लौकिक और अलौकिक कर्मजनित विशेषकी निवृत्ति तथा बाधितानुवृत्तिसे समस्त अविद्याके कार्यकी निवृत्ति प्राप्त करता है, कामकामी नहीं अर्थात् काम्य विषयोंकी कामना करनेका जिसका स्वभाव है वह अज्ञानी पुरुष इस व्याख्याकी हुई शान्तिको नहीं पा सकता; बल्कि लौकिक और अलौकिक कर्मोंके विक्षेपसे वह तो सर्वदा दुःखके महा समुद्रमें ही डूबा रहता है—ऐसा इस वाक्यका अर्थ है । इससे ज्ञानीके लियेही ज्ञानका फलभूत विद्वत्संन्यास, उसीके लिये संपूर्ण विक्षेपकी निवृत्तिरूपा जीवन्मुक्ति और दैवाधीन विषयोंको भोगते रहनेपर भी निर्विकारता बतायी गयी है—यह जानना चाहिये ॥ ७० ॥

(१) क्योंकि ऐसा है, इसलिये—

[श्लोकार्थः—जो पुरुष समस्त कामों (विषयों) को त्यागकर स्पृहा, ममता और अहंकारसे रहित होकर प्रारब्धवश प्राप्त होनेवाले विषयोंको ग्रहण करता है वह शान्ति प्राप्त करता है ॥ ७० ॥]

(२) प्राप्त होनेपर भी सम्पूर्ण कामोंको—गृह-क्षेत्र आदि बाह्य तथा मनोराज्य और वासनारूप आन्तर इन तीनों प्रकारके कामोंको, जो मार्गमें चलते समय घास-फूसके स्पर्श के समान हैं, त्यागकर—उपेक्षा करके, शरीरके जीवनमात्रकी भी स्पृहा (लालसा) न रखकर तथा क्योंकि निरहङ्कार अर्थात् शरीर एवं इन्द्रिय आदिमें 'ये मैं हूँ' ऐसे अभिमानसे रहित अथवा ज्ञानवान् होनेके कारण अपने प्रति मानके भावसे रहित होता है, इसलिये निर्मम—शरीरयात्रामात्रके लिये प्रारब्धवश प्राप्त हुए कौपीन एवं कन्या आदिमें भी 'ये मेरे हैं' ऐसे अभिमानसे रहित रहकर जो पुरुष आचरण करता है—प्रारब्धकर्मवश प्राप्त हुए भोगोंको भोगता है अथवा दैवेच्छासे जहाँ-तहाँ विचरता रहता है, वह इस प्रकारका स्थितप्रज्ञ ज्ञानके बलसे शान्ति अर्थात् संसारके सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्तिरूपा अविद्या और उसके कार्यकी निवृत्ति प्राप्त करता है । इस प्रकार 'स्थितप्रज्ञकी विषय प्राप्ति ऐसी होती है' यह चौथे प्रश्नका उत्तर भी समाप्त हो गया ॥ ७१ ॥

(१) तदेवं चतुर्णां प्रश्नानामुत्तरव्याजेन सर्वाणि स्थितप्रज्ञलक्षणानि मुमुक्षुकर्तव्यतया कथितानि । सम्प्रति कर्मयोगफलभूतां सांख्यनिष्ठां फलेन स्तुवन्नुपसंहरति—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

(२) एषा स्थितप्रज्ञलक्षणव्याजेन कथिता, एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिरिति च प्रागुक्ता स्थितिर्निष्ठा सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकपरमात्मज्ञानलक्षणा ब्राह्मी ब्रह्मविषया । हे पार्थैनां स्थितिं प्राप्य यः कश्चिदपि पुनर्नं विमुह्यति । न हि ज्ञानबाधितस्याज्ञानस्य पुनः सम्भवोऽस्ति अनादित्वेनोत्पत्त्यसम्भवात् । अस्यां स्थितावन्तकालेऽपि अन्त्येपि वयसि स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मणि निर्वाणं निर्वृत्तिं ब्रह्मरूपं निर्वाणमिति वा, ऋच्छति गच्छत्यभेदेन । किमु वक्तव्यं यो ब्रह्मचर्यादेव संन्यस्य यावज्जीवमस्यां ब्राह्मयां स्थितावतिष्ठते स ब्रह्मनिर्वाणमृच्छतीत्यपिशब्दार्थः ॥ ७२ ॥

(३) ज्ञानं तत्साधनं कर्म सत्त्वशुद्धिश्च तत्फलम् । तत्फलं ज्ञाननिष्ठैवेत्यध्यायेऽस्मिन्प्रकीर्तितम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां
श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां सर्वगीतार्थसूत्रणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

---

(१) इस प्रकार इन चार प्रश्नोंके उत्तरके मिषसे स्थितप्रज्ञके सभी लक्षणोंका मुमुक्षुके कर्त्तव्यरूपसे वर्णन किया गया । अब कर्मयोगकी फलस्वरूपा सांख्यनिष्ठाका, फलके द्वारा उसकी स्तुति करते हुए, उपसंहार करते हैं—

[श्लोकार्थः—अर्जुन ! यह ब्राह्मी स्थिति है, इसे प्राप्त करके कोई पुरुष मोहको प्राप्त नहीं होता तथा वृद्धावस्थामें भी इसमें स्थित होकर पुरुष ब्रह्मरूप निर्वाणको प्राप्त हो जाता है ॥ ७२ ॥]

(२) यह स्थितप्रज्ञके लक्षणोंके मिषसे कही हुई तथा पहले 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिः' इस तरह कही हुई स्थिति—सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक परमात्माके ज्ञानकी निष्ठा ब्राह्मी—ब्रह्मविषयिणी है । हे पार्थ ! इस स्थितिको प्राप्त करके कोई भी पुरुष फिर मोहको प्राप्त नहीं होता । ज्ञानसे बाधित होनेपर अज्ञानकी पुनः उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अनादि होनेके कारण उसकी उत्पत्ति होनी असम्भव है । इस स्थितिमें अन्तकाल—अन्तिम आयुमें भी स्थित होकर ब्रह्मनिर्वाण—ब्रह्ममें निर्वाण अर्थात् शान्तिको अथवा ब्रह्मरूप निर्वाणको अभेदरूपसे प्राप्त हो जाता है । फिर जो ब्रह्मचर्य अवस्थासे ही संन्यास लेकर जीवनपर्यन्त इस ब्राह्मी स्थितिमें स्थित रहता है वह ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त हो जाता है—इसमें तो कहना ही क्या है—यह 'अपि' शब्दका तात्पर्य है ॥ ७२ ॥

(३) ज्ञान, उसका साधन निष्काम कर्म, उसका फल अन्तःकरणकी शुद्धि और उसका फल ज्ञाननिष्ठा—इन सबका ही इस अध्यायमें वर्णन किया गया है ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्य मधुसूदनसरस्वती-
विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकाके हिन्दी भाषान्तरका दूसरा अध्याय ॥ २ ॥